ISSN 2349 - 137X

अनहद लोक

प्रतिध्वनि कला संस्कृति की

वर्ष 1 अंक 2

अनहद लोक

प्रतिध्वनि कला संस्कृति की

सम्पादक

डॉ. मधु रानी शुक्ला

सम्पादक मण्डल

डॉ. आशा अस्थाना, डॉ. राजेश मिश्र, डॉ. मनीष कुमार सी. मिश्रा

व्यंजना

आर्ट एण्ड कल्चर सोसायटी

109 डी/4, अबूबकर पुर, प्रीतमनगर, सुलेमसराय

इलाहाबाद - 211011

अनहद लोक

प्रतिध्वनि कला संस्कृति की

सम्पादक : डॉ. मधु रानी शुक्ला

सम्पादक मण्डल : डॉ. आशा अस्थाना, डॉ. राजेश मिश्र, डॉ. मनीष कुमार सी. मिश्र

सम्पादकीय सहयोग एवं कला संयोजन : शाम्भवी शुक्ला

आवरण पृष्ठ : डॉ. आर.एस. अग्रवाल

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

वितरक : पाठक पब्लिकेशन, महाजनी टोला, इलाहाबाद
फोन नं. 0532- 2402073

प्रकाशक

व्यंजना

आर्ट एण्ड कल्चर सोसायटी

109 डी/4, अबूबकरपुर, प्रीतमनगर, सुलेमसराय,

इलाहाबाद

मो. : 09838963188, 09454843001

E- mail : melodyanhad@gmail.com
madhushukla011@gmail.com

मूल्य : ₹ 200

(पोस्टल चार्जेज अलग से)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

- रचनाकारो के विचार मौलिक हैं।
- समस्त न्यायिक विवाद का क्षेत्र इलाहाबाद न्यायालय होगा।

मार्ग दर्शन :

पं. देबू चौधरी, डॉ. सोनल मानसिंह, प्रो. चित्तरंजन ज्योतिषी,
डॉ. कमलेश दत्त त्रिपाठी, पं. विश्वमोहन भट्ट, पं. भजन सपोरी,
पं. रोनू मजुमदार, प्रो. ऋत्विक् सान्याल, प्रो. दीप्ति ओमचारी भल्ला,
पं. विजय शंकर मिश्र, पं. अनुपम राय, श्री एस.पी. सिंह

संयोजन सहयोग :

डॉ. के. शशि कुमार, डॉ. रामशंकर, डॉ. शान्ति महेश, डॉ. निशा झा,
डॉ. आकांक्षी वर्मा, कु. स्नेहा नावलेकर

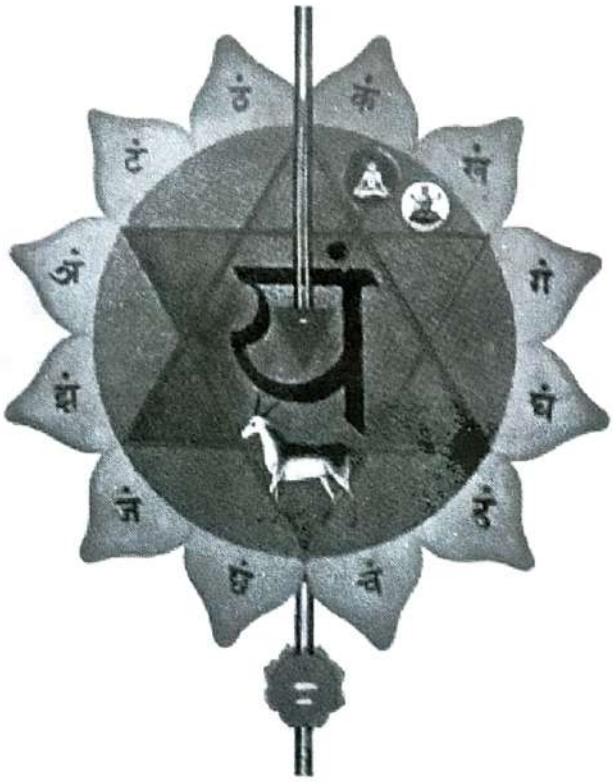

लीयन्ते परमानन्दे ययात्मा सा पराकला...

'अनहद लोक' का द्वितीय अंक आपकी सारगर्भित प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप है जिस प्रकार आपने हमारे प्रथम प्रयास को सराहा है, उसके लिए हम अनुग्रहीत हैं और भविष्य में भी समीक्षात्मक प्रतिक्रियाओं का आग्रह करतें हैं।

'कला एवं संस्कृति' हमारे जीवन का अभिन्न अंग है। जिसकी प्रतिध्वनि का अनवरत अनुरणन होता रहता हैं हमें संवेदनशील स्वरूप के साथ ही पूर्णत्व प्रदान करने में उसका महत्वपूर्ण योगदान है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समस्त मानव **समाज के विकास की व्यष्टि एवं समष्टि रूप उपलब्धियाँ ही संस्कृति है** जो मानव जीवन की विशेषता का द्योतक है। उत्तम कृति सम्यक् चेष्टाओं से सृजित यह मनुष्य के प्राण, मन और बुद्धि से सम्बद्ध है जिसकी अभिव्यक्तियाँ श्रुति-स्मृति तथा पुराणों से सिद्ध होती हैं और ये अभिव्यक्तियाँ ही संस्कृति हैं जिनके द्वारा मानवता विशिष्ट रूप को प्राप्त करती है। **संस्कृति, युगप्रवृत्तियाँ, कला-विश्व** ये शुद्ध तार्किक या वैज्ञानिक अनुभव के विषय नहीं है ये तार्किक ज्ञान की अपेक्षा आत्मचेतना की अभिव्यक्ति होने के कारण इतिहास, संस्कृति, कला, दर्शन सभी मानवीय अनभूति और कृतित्व के उदाहरण स्वरूप विषयी के सापेक्ष विषय हैं अतः कला व संस्कृति को तटस्थ करके नहीं देखा जा सकता।

मनुष्य के विकास क्रम के साथ ही सभ्यता - संस्कृति भी विकसित हुई, चित्तवृत्तियाँ समान होने के कारण **संस्कृति सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक है।** व्यापक मानव संस्कृति में अनेकता का आधान परिस्थितिजन्य भिन्नता है इसी ने समष्टि रूप सनातन संस्कृति को देश-काल की सीमाओं में आबद्ध किया। **भूमि, जलवायु, भौतिक परिस्थितियाँ, आचार-विचार, वेश-भूषा, भाषा, साहित्य तथा परम्पराएँ** संस्कृति के तत्त्व हैं जिनकी समानता से सांस्कृतिक एकता तथा भिन्नता से सांस्कृतिक भेद दृष्टिगत होता है इस समानता व भिन्नता का आधार अनुभूतियाँ तथा अभिव्यक्तियाँ होती हैं।

संस्कृति (culture) मानसिक क्षेत्र की प्रगति का सूचक है जो आत्मा की संतुष्टि हेतु प्राप्त है तथा मनुष्य सौन्दर्य की खोज में **संगीत, साहित्य, मूर्ति, चित्र, वास्तु आदि अनेक** कलाओं का वरण करता है तथा मानसिक तृप्ति की सूचक **संस्कृति** का स्वरूप निर्धारित करता है इसमें **धर्म, दर्शन, वस्तु, विज्ञान, सामाजिक प्रथाएँ** विहित होती हैं। संस्कृति के दो पक्ष हैं जिन्हें क्रमशः संस्कृति व सभ्यता कहा गया जो सर्वथा भिन्न हैं संस्कृति आभ्यन्तर है जिसमें परंपरागत चिन्तन, कलात्मक अनुभूति, विस्तृत ज्ञान एवं

धार्मिक आस्था का समावेश होता है जबकि सभ्यता में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक उपलब्धियाँ सम्मिलित होती हैं। संस्कृति हमारे सामाजिक जीवन प्रवाह की उद्गम स्थली है, और सभ्यता प्रवाह में सहायक उपकरण संस्कृति साध्य है तो सभ्यता साधन। दोनों अन्तःसम्बद्ध हैं, सांस्कृतिक मूल्य ही सभ्यता के सृजन में सहायक होते हैं किन्तु सभ्यता के विकास की गति संस्कृति से तीव्र होती हैं फलस्वरूप सभ्यता संस्कृति से आगे निकल जाती है।

अनादि-अपौरुषेय ग्रन्थ वेद एवं वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थों के अनुकूल लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयसोपयोगी व्यापार ही मुख्य संस्कृति है और वही **हिन्दू संस्कृति, वैदिक संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति** है- सनातन परमात्मा ने अपने अंशभूत जीवात्माओं को सनातन अभ्युदय एवं निःश्रेयस परमपद प्राप्त करने के लिए जिस सनातन मार्ग का निर्देश किया है वही सम्पूर्ण संस्कृतियों की जननी है। **वेद, उपनिषद, पुराणों से विकसित संस्कृति जैन, बौद्ध धर्मो से समृद्ध होकर विशिष्ट रूप में स्थापित हुई।**

भारतीय संस्कृति की दृष्टि में मंगलकामनाएँ हैं **एकत्व में अनेकत्व तथा अनेकत्व में एकत्व की** स्थापना करके मानव मंगल को परिमण्डित किया गया है जिसके **शाश्वत तत्त्व सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम्** हैं जिसने मानव चेतना का परिष्कार किया। दर्शन में उसके सत्य स्वरूप का तथा नीति में उसके शिव स्वरूप का दिग्दर्शन हुआ है इन तीनों तत्त्वों का समाहार भारतीय संस्कृति है जिसने अनेक आपदाओं के पश्चात् भी अपने स्वत्व को अक्षुण्ण रखा। **कला - सृष्टि, सांस्कृतिक - दृष्टि और दर्शन में** अनन्योन्याश्रित **सम्बन्ध है। कला में निश्चित वाच्चार्थ न होकर अस्फुट भावात्मक व्यंग्यार्थ** निहित है। कलाकृतियों में भावों का **उद्दीपन तथा आलम्बन** सक्रिय होता है। कला, विद्या आदि प्रकृति प्रदत्त पदार्थ नहीं सांस्कृतिक अवधारणाएँ हैं जो सांस्कृतिक अनुभव के आत्म-परामर्शात्मक विकल्प से सृजित हैं।

भारतीय संस्कृति का मूल वेद भी कला शब्द की प्राचीनता का द्योतक है, **शतपथ ब्राह्मण, षडिवंश ब्राह्मण, शांखायन ब्राह्मण, तैत्तिरीय, आख्यान और अथर्ववेद** में वर्णित इस शब्द का प्रयोग नाट्यशास्त्र में शिल्प के रूप में हुआ ब्राह्मण ग्रन्थों, संहिता ग्रन्थों में, पाणिनि की अष्टाध्यायी से लेकर बौद्ध साहित्य तक शिल्प शब्द का अनुकरण है जिसका अर्थ कला के ललित स्वरूप तथा उपयोगिता के आधार पर हुआ है। **अभिनवगुप्त** ने कला को **गीत, वाद्य व नृत्य** से जोड़ा **विष्णुधर्मोत्तर** पुराण में काव्य को **संगीत एवं चित्र** के साथ जोड़कर कल्पना की गई। कला अत्यन्त व्यापक है शिवत्व की प्राप्ति हेतु कलाकार सत्य का सौन्दर्यमय सृजन करता है। प्रकृति की भाँति असीम कला समस्त जड़-चेतन में व्याप्त है कलाकार जिस कल्पना को अभिव्यक्त करता है, वह कलाकृति है। कलाकृति के दो रूप **आन्तरिक** व **बाह्य** होते हैं **आन्तरिक सूक्ष्म** व **बाह्य स्थूल** है। तात्विक दृष्टि से आन्तरिक और व्यावहारिक दृष्टि से बाह्यरूप कला को अंग स्वीकार किया गया है। अरस्तु ने कला को कला, ललित कला व उदाकला में विभाजित किया है जिसमें आचरण विषयक कला का उद्देश्य उपदेशात्मक रहा ललित कला में **संगीत, काव्य, चित्र, मूर्ति आदि स्थापत्य** आते हैं व उदार कला में **व्याकरण, वेद, रेखागणित, इतिहास** आदि हैं।

अत्यन्त व्यापक कला शब्द के मूलार्थ में ही आन्नददायी शक्ति निहित है वास्तविक कला हमारे भावों - विचारों का विन्यास करती हैं **कला एक दिव्य उपस्थिति का सर्जनात्मक आह्वान** है। उस कला की अनुभूति प्रत्यक्ष नहीं है **दृश्य, श्रव्य, तत्व, वर्ण, स्वर, लय, छन्द** जिस माध्यम से भी कला की अभिव्यक्ति हो रही हो वह मात्र दृश्य-श्रव्य का विषय नहीं अपितु प्रेक्षक की **तल्लीनता, ध्यानमग्नता भावना चर्वणा** से सृजित होती है इसकी अनुभूति अपरोक्ष ही होती है कला की विविधता में एकत्व की अनुभूति है - **'शिवस्वरूपविमर्शिनी'** में उद्धृत है-

विश्रान्तिर्यस्यसंभोगे सा कला न कलामता।
लीयन्ते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला।।

अर्थात् **जिस कला के आस्वाद से केवल विश्रान्ति उत्पन्न हो, वह कला मर्मज्ञों की दृष्टि में कला नहीं है वास्तविक कला वह है जो दर्शक के चित्त को परमानन्द में लीन कर दे। कला अपने विश्व की संरचना स्वयं करती है बाह्य वस्तुओं से मात्र प्रतीकात्मक संवाद होता है।**

संस्कृति अपने को सर्वाधिक सशक्त रूप **में कला के** माध्यम से व्यक्त करती है क्योंकि वह समाज की चेतना - ऊर्जा का रूप है। शास्त्रीय कलाएँ जहाँ अभिजात वर्ग के सौन्दर्य चिन्तन को प्रदर्शित करती है तो लोककला जाति, समाज, राष्ट्र के सौन्दर्यबोध तथा जीवन के प्रति लगाव की जानकारी प्रदान करती है। ये सभी कलाएँ तात्विक दृष्टि से समान हैं और संस्कृतियों के अध्ययन में सभी का महत्त्वपूर्ण स्थान है यथार्थ कलाओं में तात्विक दृष्टि से समानता प्राप्त होती है किन्तु व्यवहारिक रूप से दो वर्गो में विभाजित है प्रथम अभिजात वर्ग द्वितीय लोकोन्मुखी या लोकधर्मा। संस्कृतियों के अध्ययन में दोनों वर्ग की कलाएँ महत्त्वपूर्ण हैं भिन्न शब्दों में कहें तो कलाएँ संस्कृति की अभिव्यक्ति हैं हर्ष-विषाद, जीव-जगत की अनुभूतियाँ, आस्था, विश्वास सब कलाओं से मुखरित होते हैं

इन्हीं कलाओं तथा संस्कृतियों की **'प्रतिध्वनि' 'अनहद लोक'** के द्वितीय अंक को आप सुधिजनों के समक्ष रखने का प्रयास किया जा रहा है जिसमें **गान, आतोद्य, नर्तन, सामायिकी, संस्कृति, थाती, सौन्दर्य, शास्त्र, संगीत चिकित्सा, अंकन, प्रकीर्णक अध्यायों के साथ ही समीक्षा, संवाद, व्यक्तित्व** आदि अध्यायों में कला चिन्तकों के मौलिक विचारों को प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है **'अनुभूति'** अध्याय के अन्तर्गत कलाकारों को नितान्त मौलिक अनुभूति को देने का लक्ष्य है क्योंकि **कला की उत्कृष्टता, व्यापकता तथा मौलिकता कलाकारों के चिन्तन का ही परिणाम है वह अपनी सहज कल्पनाओं के** माध्यम से 'कला लोक' में विचरण करता है और एक नई दृष्टि तथा मूल्य को स्थापित करता है स्वतः प्रस्फुटित कलाकारों की कल्पना जब सृजनात्मक स्वरूप को प्राप्त करती है तो निश्चित रूप से नये प्रतिमानों को स्थापित करती है।

कला का व्यञ्जात्मक वैशिष्ट्य है भाषा की दो विधाएँ **प्रतीकात्मक** तथा **भावात्मक** है प्रतीकात्मक का कार्य **वर्णन, कथा तथा विचारों का संचारण**, भावात्मक का कार्य **आह्वान, भावों की व्यञ्जकता भावों तथा अभिव्यक्तियों का उद्दीपन है** आज शोधपरक लेखों में इन्हीं दो शैलियों का समायोजन है कुछ लेखों में भाषा की कलावस्तु विषयमूलक है तो कुछ नितान्त निजी अनुभवों के आधार पर। यद्यपि

कला का कार्य तथ्यों का अन्वेषण नहीं भावाभिव्यक्ति है किन्तु समय की माँग को देखते हुए तथ्यों का अन्वेषण भी आवश्यक है कला लक्षणात्मक शैली में **'गहनअर्थ'** को व्यक्त करती है जो **सार्वलौकिक** है और यही **व्यञ्जना** है, **प्रतिध्वनि** है, जो मनुष्य को अचेतन से चेतन की ओर ले जाती है जिसके दर्शन आप विद्वत्जनों को इस पत्रिका के अनेक लेखों में होगा।

शोध पत्रिकाओं के निश्चित मापदण्डों के साथ पृथक् दृष्टि से भी कला की व्यापकता को आप सभी तक **'शब्द चित्र'** के माध्यम से प्रतिध्वनित करने का प्रयास किया गया है जिसकी निरन्तरता अपनी समीक्षात्मक प्रतिक्रियाओं पर निर्भर है, आप सभी प्रबुद्ध पाठकों से त्रुटियों की ओर ध्यानाकर्षण की अपेक्षा रहेगी...

मधु रानी शुक्ला

अनुक्रम

गान

1.	भक्ति संगीत	*डॉ. ज्ञानेष चन्द्र पाण्डेय*	15
2.	धमार की परम्परा	*डॉ. संजय कुमार सिंह*	18
3.	भारतीय संगीत में कण्ठ साधना की उपयोगिता एवं महत्व	*डॉ. स्मिता श्रीवास्तव*	20
4.	शास्त्रीय संगीत की उत्थान में चित्रपट संगीत की भूमिका	*श्री राजीव कुमार मलिक*	22
5.	संत रैदास जी व उनके भक्ति गेय पद	*श्रीमती श्रेया श्रीवास्तव*	24
6.	सुगम एवं लोक संगीत में शास्त्रीय संगीत के तत्व	*श्री नंदकिशोर झा*	26
7.	Revati Tillana of Tanjavur	*Mrs. D Padma*	31

आतोद्य

8.	घन-वाद्यों का ऐतिहासिक विवेचन एवं विकासक्रम	*डॉ. बोधिका*	39
9.	स्वतन्त्र रूप से तन्त्री वादन की परम्परा	*डॉ. कीर्ति शर्मा*	45
10.	बनारस घराने के तबले का उदगम, विकास एवं वादन शैली की विशेषताए	*श्री नवीन कुमार मिश्रा*	49
11.	तबला वादन में उपज का महत्व एवं उपयोगिता	*कु. प्रिया तिवारी*	57
12.	Adi Tala	*Guru Raghavendran*	60

नर्तन

13.	Mohiniattam The Lyrically Enchanting Classical dance form of Kerala	*Dr. Deepti Omchery Bhalla*	65
14.	Beauty is Dance Deep	*Smt. Rama Vaidyanathan*	68

सामायिकी

15.	Phenomenology of experiencing art and life	*Prof. Ritwik sanyal*	73
16.	संगीत और समाज : एक अन्योन्याश्रय संबंध	*डॉ. पुष्पम नारायण*	76

17. संगीत में महिला कलाकारों का योगदान — *डॉ. रीता दास* — 80
18. Making Statistical Analysis Reporting More Easy For the Researchers — *Yogita M. Sanas* — 84
19. भारतीय संगीत की वैश्विकता — *श्री प्रमोद कुमार तिवारी* — 93

सौन्दर्य

20. रस के मूल तत्त्व — *डॉ. आनन्दकृण ज्योतिषी* — 99
21. संगीत में रस की प्रासांगिकता — *श्री निलेश चन्द्र त्रिवेदी* — 101
22. वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्षः एक समीक्षण — *डॉ. सन्तोष कुमार मिश्र* — 103

शास्त्र

23. शिक्षा ग्रन्थों में संगीत — *कु. आरती वाही* — 109
24. संगीत और साहित्य — *कु. स्नेहा नावलेकर* — 113
25. संगीत एवं शोध — *श्री ईशान दुबे* — 115

थाती

26. ''संघर्ष का मूर्त रूप'' 'लोक कला : एक विचार' — *श्री नन्दन हितैषी* — 119
27. Folk music in Karaikudi Veena Parampara — *Dr. Shanti Mahesh* — 126
28. बंगाल के लोकसंगीत — *डॉ. प्रामिती चौधरी* — 133
29. लोकसंगीत का महत्व (वैदिक काल) — *कु. आकांक्षा गुप्ता* — 136
30. प्रान्तीय लोक संगीत के अन्तर्गत बिहार के लोग गीतों का वर्णन — *डॉ. अनामिका कुमारी* — 139
31. लोकसाहित्य का महत्व — *कु. ऋचा वर्मा* — 145
32. लोक और फोक — *सुश्री प्रतिभा सिंह* — 148
33. ऋतुओं का मनोहारी चित्रण : ऋतुगीत — *सुश्री अमृता मिश्रा* — 151

संगीत चिकित्सा

34. 'संगीत एक चिकित्सा पद्धति' — *डॉ. अंजू कुमारी* — 157
35. विकलांगता का चिकित्सकीय समाधान- संगीत में संभावनाए एक अध्ययन — *श्री संजय कुमार* — 159
36. Music, Spirituality and the Body — *Manisha Mishra* — 163

अंकन

37. कला का एक रूप : लोक-कला — *डॉ. ज्योति शर्मा* 169
38. Defence Structures as Gleaned from Miniature Paintings — *Dr. Priyanka Chandra* 172
39. राजस्थान में वनवासी-चित्रकला — *सुश्री हर्षा त्रिवेदी* 178
40. कला, रंग और भारतीयता — *के. राजलक्ष्मी* 183

प्रकीर्णक

41. संगीत और दार्शनिक विधान — *डॉ. सीमा वर्मा* 187
42. संगीत में निहित विज्ञान — *डॉ. वेणु वनिता* 192
43. योगतत्व एवं संगीततत्व में साम्यता — *सुश्री निधि श्रीवास्तव* 195
44. योग और नाद योग अन्तः सम्बन्ध — *डॉ. चन्द्रजीत वर्मा* 199
45. Music- A Soul filling Art — *K. Murali* 204
46. Music as an art and science — *Dr. N. Padma* 211
47. भारतीय शास्त्रीय संगीत — *कुमारी चारू शर्मा* 215

संस्कृति

48. भारतीय शास्त्रीय संगीत की आधारशिला रूपी सांस्कृतिक भाषा संस्कृत — *डॉ. मधु भटट तैलंग* 221
49. Depletion of Forests in Punjab and the Bangala tribe — *Dr. Harinder Kaur* 225
50. वैदिक युग में संगीत एवं अन्य कलाएँ — *डॉ. गीता जोशी* 239

व्यक्तित्व

51. बहुमुखी प्रतिभा के धनी-प. तुलसीराम देवांगन — *डॉ. प्रकाश महाडिक* 247
52. Dr. Lalmani Misra — *Prof. N. C. Boral* 252
53. सिद्धेश्वरी देवी का व्यक्तित्व एवं उनकी गायकी का संक्षिप्त विश्लेषण — *सुश्री चित्रा चौरसिया* 255
54. कर्नाटक संगीत पितामह : पुरन्दर दास — *सुश्री श्वेता केशरी* 259
55. रवीन्द्रनाथ टैगोर - एक शिक्षाविद् — *सुश्री प्रीति सिंह* 262
56. Gurudev : Through My Eyes — *Ms. Priyanka Mazumdar* 265
57. The Magical Hands of G Harishankar — *Mr. S. Sankar* 269

समीक्षा

58. रागमाला चित्रकला का रागात्मक विश्लेषण रूप एक युग के संरक्षण का साहसिक प्रयास — *डॉ. मनीषकुमार सी. मिश्रा* 275

59. The journey from struggle to success — *Ashmita Mishra* 278

अनुभूति

60. राधा मोहन प्यारी — *पं. विजयशंकर मिश्र* 283

संवाद

61. अध्यात्म से जुड़ी है संगीत की उत्पत्ति — *डॉ. देवदत्त शर्मा* 299

62. संगीत अनन्त की यात्रा है : पं. सुरिन्दर सिंह — *पं. विजयशंकर मिश्र* 304

भक्ति संगीत

डॉ. ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय

सहायक आचार्य, गायन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मानव जीवन का चरम लक्ष्य अखण्ड आनन्द की प्राप्ति है, जिसके लिए मन, वचन और कर्म से ईश्वर-भक्ति आवश्यक है। धर्म मनुष्य की इस लक्ष्य प्राप्ति में सहायता करता है। प्रत्येक धर्म के अनुसार ईश्वर भक्ति के माध्यम से ही अखण्ड आनन्द प्राप्त हो सकता है। भक्ति की चरमावस्था में भाव-विभोर भक्त अपने आराध्य से एक रस हो जाता है। भक्ति नौ प्रकार की बताई गयी है। जिसमें से भगवान् के गुणों का गान अर्थात् कीर्तन-भजन अधिक संवेदनशील होने के कारण, श्रेष्ठ है। निर्गुण हो या सगुण साधक, प्रेममार्ग हो या ज्ञानमार्ग सभी ने काव्य और संगीत के नैवेद्य से अपने ईष्ट की आराधना की है। वल्लभ, चैतन्य, मीरा, सूरदास, तुलसीदास, त्यागराज, तुकाराम मलूकदास, रैदास, हरिदास, जयदेव, नानक आदि संत-भक्तों ने स्वर और शब्दों की चैतन्य शक्ति से ही ईश्वर का अनन्य प्रेम उपलब्ध किया।

भक्ति का विकास :- भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' धातु से हुई है जिसका अर्थ 'सेवा करना है' संसार से विरक्त होकर ईष्ट देव की उपासना ही सच्ची भक्ति है। भक्ति का अधार ''वैराग्य'' है। यह साध्य व साधन है।शांडिल्य सूत्र में 'सपरानुक्तिरीश्वरें' अर्थात् ईश्वर के सम्पूर्ण अनुराग का नाम भक्ति है। नारद भक्ति सूत्र में तो विभिन्न आचार्यो की भक्ति सम्बन्धी व्याख्या का विवेचन किया गया है। श्री व्यास जी के मत से ''भगवान की पूजा आदि में अनुराग ही भक्ति है।'' श्री गर्गाचार्य के मत से **''भगवान की कथा आदि में अनुराग होना ही भक्ति है।'' देवर्षि नारद के मत से'' अपने सब कर्मो को भगवान के लिए अर्पण करना और किंचित भी भगवान के विस्मरण से व्याकुल होना ही भक्ति है।''**

भक्ति के प्रकारः- भक्ति परक काव्य को ही 'भजन' कहते है। छन्द और स्वर की दृष्टि से भक्ति गीत के लिए कोई बन्धन नहल है। फिर भी गेय पद स्वर, राग व ताल से विभूषित होकर जब प्रस्तुत किये जाते है तो उनसे रस की जो धारा बहती है, वह अनिर्वचनीय है।भक्ति एक मनोवैज्ञानिक भाव है और उसी के आधार पर भक्ति को विविध आचार्यो ने बताया है। श्रीमद् भागवत के तृतीय स्कन्ध में साधक के स्वभावानुसार चार प्रकार की भक्ति बताई गई है-**1. तामस, 2. राजस, 3. सात्विकी, 4. निर्गुण।**

इनमें प्रथम तीनों काम्य और चतुर्थ निष्काम है। भगवान में निष्काम और अनन्य प्रेम होना ही निर्गुण भक्ति योग है। भागवत् में विशुद्ध भक्ति के तीन रुप मिलते है।

1.विशुद्ध 2. नवधा 3. प्रेमा।

भक्ति आन्दोलन का मूल कारण :-भारतीय धर्म साधना में भक्ति भावना के उदय के सम्बन्ध में मतभेद है। पाश्चात्य विद्वान वेकर, कीथ, ग्रियर्सन इसे ईसाई धर्म की देन बताते है। भारतीय विद्वानों में तिलक, कृष्णास्वामी आयंगर तथा डॉ. एच. राय चौधरी ने उक्त मतों का खण्डन करते हुए इसका श्रोत प्राचीन भारतीय परम्परा को ही माना है। आचार्य शुक्ल ने भक्ति आन्दोलन को मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया बतलाया है। जबकि श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भक्ति आन्दोलन का विकास का श्रेय दक्षिण के आलवार भक्तों को दिया है। अतः यहाँ पर इसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। कृष्ण, विष्णु आर्यो के उपास्य होते हुए भी दक्षिण में इसलिये मान्य हुए है कि वैष्णव भक्ति में समन्वय की भावना प्रबल है। इसी के परिणामस्वरुप आर्यो और द्रविणों का भी समन्वय हुआ। दूसरे गुप्त साम्राज्य ही उत्तर भारत में वासुदेव धर्म की उन्नति का काल था। इसके बाद हर्षवर्धन जैसे सम्राटों के बाद वह धीरे-धीरे दबता गया। अतः दक्षिण में उसका महत्व विशेष रुप से बढ़ने लगा।

भक्ति का साम्प्रदायिक स्वरुप :-पौराणिक धर्म का प्रचार सारे भारत में होता जा रहा था किन्तु इसी बीच एक ओर कुमारिल भ्र ने वैदिक कर्मकाण्ड के पुनः प्रतिष्ठापन का आन्दोलन प्रारम्भ किया तो दूसरी ओर जगद्गुरु शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का स्थापन किया।एक ओर तो जगद्गुरु शंकराचार्य को सर्वमान्यता, मिल रही थी और दूसरी ओर दक्षिण के आलवार भक्तों ने इस मत की चिन्ता न करते हुए पौराणिक भक्ति को संरक्षण देते रहने का निश्चय किया 10वीं शताब्दी ई. में कृष्ण भक्ति का साम्प्रदायिक रुप इनसे ही मुखरित हुआ तथा 10वीं और 11व सदी ई. में दक्षिण में एक नाथ मुनि हुए जिन्होंने वैष्णवों का संगठन, भक्ति पदों का संग्रह तथा मन्दिरों में कीर्तन एवं वैष्णव सिद्धान्त की दार्शनिकता की व्याख्या कर भक्ति परम्परा को वल दिया। इन संप्रदायों ने उत्तर भारत के विशाल क्षेत्र को अत्यन्त प्रभावित किया। इन सम्प्रदायों के आचार्य इस प्रकार है ।

सम्प्रदाय	**आचार्य**
श्रीसम्प्रदाय	श्री रामानुजाचार्य
सनक (निम्बार्क)	श्री निम्बार्काचार्य
ब्रह्म (माध्व)	श्रीमाध्वाचार्य
रुद्र (विष्णुस्वामी)	श्री विष्णुस्वामी

भाषा की अपेक्षा नाद का प्रभाव क्षेत्र व्यापक है। भक्ति-काव्य के आदि मध्य अंत में सार, हरिपद, चौपाई, दोहा, सरसी, गीता, मुक्तामणी, श्यामउल्लास, श्लोक, छप्पय इत्यादि प्रायः रहते है। इन्ही सब से भक्ति का क्रमिक विकास होता चला आ रहा है। भक्ति-काव्यों के कुछ प्रकार ऐसे भी प्रचार में आये है, जिन्हें लोक-धुनों का आश्रय प्राप्त हो जाने से वे साधारण जीवन और हिन्दू संस्कृति का अंग बन गये है। इस प्रकार भक्ति के सैद्धान्तिक रुप का विकास तो सूत्रग्रन्थों में हुआ था पर उसका व्यवहारिक रुप पौराणिक साहित्य में स्पष्ट रुप से दिखाई देता है। इस प्रकार सूत्रग्रन्थ व पुराणों ने भक्ति की साहित्य पृष्ठभूमि तैयार की। और भक्ति का क्रमिक विकास हुआ।भक्ति-गीत पवित्र, वंदनीय, तथा अलौकिक शक्ति सम्पन्न होते है। भक्ति काव्य में सत्य, शिव और सौन्दर्य का अद्भुत समन्वय है। परम तृप्ति के साथ-साथ उसमें परम आनन्द भी है। भक्ति-गान

से वृत्ति जब ध्येयाकार होती है, तो चित्त का आवरण हटता है, मैल और विक्षेप समाप्त होती है। ज्ञान की प्रकृष्ट दीप्ति होकर आत्म-ज्योति उद्भासित हो उठती है सूर जैसा भाव, मीरा जैसा प्रेम और तुलसी जैसी श्रद्धा रखकर भक्ति संगीत प्रस्तुत किया जाये, तो मनुष्य का जीवन सफल हो जाए।

भक्ति संगीत में श्रृंगार का एक सुन्दर

उदाहरण :-सोभा आज भली बनि आई।।
जल-सुत ऊपर हंस विराजत।
तापर इन्द्र वधू दरसाई।।1।।
दधि -सुत लियौ दियौ दधि सुत में,
यह छवि देख नन्द मुसकाई।।

संदर्भग्रन्थ - सूची

1. पुष्टिमार्गीय मन्दिरों की संगीत परम्परा (हवेली संगीत) : सत्यभान शर्मा, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
2. निबन्ध संगीत : लक्ष्मी नारायण गर्ग संगीत कार्यालय हाथरस, द्वितीय संस्करण

धमार की परम्परा

डॉ. संजय कुमार सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर, रा.मा.तो.सं. एवं क.वि.वि. ग्वालियर (म.प्र.)

प्राचीन संगीत शास्त्र ग्रन्थों में 'विप्रकीर्ण' प्रबन्ध के अन्तर्गत 'चर्चरी' प्रबन्ध अत्यन्त प्रचलित रहा। चर्चरी प्रबन्ध 16 मात्रा युक्त ताल में तथा बसन्त उत्सव में बहुधा हिण्डोल, बसन्त आदि रागों में गाने की प्रथा रही। स्वभाविक रूप से सामाजिक उत्सव प्रधान गीत होने के कारण इसकी भाषा प्राकृत थी। चर्चरी प्रबन्ध को लोक-जीवन में चर्चर-गान भी कहा जाता था। वर्तमान समय में दीपचन्दी ताल को चांचर कहने की प्रथा है। चर्चरी और चार्चर दोनों ही 'होली' विशयक गीत है। शास्त्रज्ञों के मतानुसार यही चर्चरी गीत 'धमार' की प्रारम्भिक श्रोत-स्वरूप हैं। कलान्तर में 14 मात्रा की ताल धमार या धमाल में 'धमार गीत' गाने की प्रथा प्रारम्भ हुई।

शास्त्रीय संगीत में धमार गायन को एक प्रमुख गायन शैली मानी गयी है। मतगांदि विद्वानों ने इसे 'भिन्ना गीति' के नाम से पुकारा है। यह ध्रुपद शैली से गाये जाने वाला गीत का वह प्रकार है जो 14 मात्रा के धमार ताल में गाया जाता है। 'धमार' गायन में मुख्य रूप से होली के अवसर पर अबीर-गुलाल, कंचन की पिचकारी तथा रंग से सनी चुनरियों का रंगारंग वर्णन होता है। अतः फाग अथवा होरी से सम्बन्धित होने के कारण धमार को 'पक्की होरी' भी कहते हैं। इसमें भगवान श्री कृष्ण की रास-लीला तथा ब्रज की होली के दृश्यों का मनोहारी वर्णन इसके काव्य का मुख्य आधार है। प्रारम्भिक समय में धमार सिर्फ पद-गान के रूप में गाया जाता था।

इसमें वर्तमान समय की तरह विविध लयकारियों का प्रयोग नहीं होता था। धमार गीत विशेष रूप से उत्तर-प्रदेश के वृन्दावन प्रान्त में संगीत गुणीयों द्वारा मंदिरों में देवताओं को प्रसन्न करने के लिये श्रीकृष्ण की लीला विषयक तथा राधा-कृष्ण की होली विशयक विषय-वस्तु युक्त पद-गान के ही रूप में संदर्भित होता था। शास्त्रीय संगीत में इसे 'भक्ति गायन' कहा जाता है। धमार के पद ज्यादातर ब्रज भाषा में रचित होते हैं। इसमें भी स्थाई और अन्तरा दो खण्ड होते हैं। इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसे सिर्फ 'धमार ताल' में ही गाया जाता है अन्य किसी और ताल में नहीं। धमार गीत 'ध्रुपद और ख्याल' के बीच वाली स्थिति का निर्देशक है। इनकी रचना ख्याल के समान दो तुक वाली होती है परन्तु गायन शैली ध्रुपद के समान होती है। ध्रुपद गायन के समान ही धमार में भी सव्रप्रथम नोम-तोम के आलाप तथा बोल-बॉट का प्रयोग होता है इसलिये धमार को ध्रुपद अंग में ही रखा जाता किन्तु धमार गीत ध्रुपद की तरह गम्भीर नहीं होता धमार में होरी और रास के श्रृंगारिक युक्त पद के कारण ध्रुपद जैसी गम्भीरता विविधता व अनेकरूपता नहीं होती बल्कि मधुरता, तरलता व लालित्यपूर्ण रहती है।

धमार में पदों का सौन्दर्य और लयकारियों की विविधता उल्लेखनीय रूप से सौन्दर्य-युक्त होती

है। लयकारी का यह कार्य 'उपज अंग' कहलाता है। इसमें 'उपज' आदि का प्रयोग ही गायक बखुबी से करते हैं। जिसके अन्तर्गत ताल-परनों के आधार पर गीत के वर्णों जैसे- ''होरी खेलत नन्दलाल री देखो'' इत्यादि वर्णों को लेकर बोल-बॉट व लय-बॉट का अंग दिखाया जाता है। धमार गायन की संगति मृदंग अथवा पखावज के खुले बाज द्वारा की जाती है। ध्रुपद की अपेक्षा धमार की गायकी कुछ कठिन है क्योंकि इसमें ध्रुपद की तरह गीत के धुन न बदलकर विभिन्न प्रकार के रागवाचक धुनों द्वारा व्यक्त किया जाता है। प्रारम्भिक समय में हिन्डोल, बसन्त, बहार आदि रागों में ही धमार, धम्माली या धमाल गाने की प्रथा थी किन्तु धीरे-धीरे ध्रुपद-गान विद्या के साथ इसे गाने की परम्परा के कारण विविध रागों में भी धमार को गाने की परम्परा प्रारम्भ हो गयी। दानों की शैली मिलती-जुलती होने के कारण उनकी परम्परा हमेशा एक घराने में ही चलती रही। धमार के सर्वश्रेष्ठ गायकों में रामपुर घराने के उस्ताद वजीर खॉ व अहमद अली खॉ तथा जयपुर घराने के बहराम खॉ हैदर बक्ष के नाम लिये जा सकते हैं। ख्याल गायकी के आगरा घराने में भी धमार-गायन कुछ अंशो में सुरक्षित है। स्वयं विलायत हुसैन खॉ तथा फैयाज खॉ इसके जाने-माने कलाकार माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त तानसेन, सदारंग, अदारंग, मनरंग, नूररंग तथा प्रेमदास आदि कलाकारों के गीतों में जैसा सरस, सुन्दर, राधा-कृष्ण की रूप माधुरी व होली खेलने आदि का संवेग है वह अलौकिक व अद्वितीय है। अतः धमार-गायन शैली सुनिश्चित रूप से विशेष तैयारी सहित धमार ताल में होली विषयक गायन की शास्त्रीय-परम्परा सम्पन्न गेय विद्या है तथा स्वर, लय, ताल में विविध कलात्मक वृत्ति सहित अपने-आप में एक अनुठी प्रबन्ध संरचना है।

कुछ रागाधारित धमार गीत इस प्रकार हैं।

राग पूरिया-कल्याण

स्थाई-

रंग जिन डारो गिरधारी
भीगे मोरी तन की सारी।

अन्तरा-

हाथे रंग भर पिचकारी
मग बिच थारो कुँवर-कन्हाई
तक-तक मारत सब बश्जनारी।

राग परज

स्थाई-

लाल-गुलाल जिन डारों,
बरजोरी न करो रघुनन्दन छोरी जी हाथ हमारो।

अन्तरा-

झकझोरी न मुरक जात बइयॉ,
छूट जाये कचबारो राम सखे धारे पइयॉ परत,
मेरो घुघॅट पट न उघारो।

राग-पुरिया

स्थाई-

चली नार बन-ठन होरी खेलन लिये पिचकारी।

अन्तरा-

मुदित भई जैसी शरद-चॉदनी,
पूरन कला बृखभामिनी।।

संदर्भग्रन्थ - सूची

संगीत बोध - पराजंपे शरदच्चन्भ
संगीत संचयन - चौधरी सुभभा
संगीत मैनुअल - शर्मा डॉ. मृत्युन्जय

भारतीय संगीत में कण्ठ साधना की उपयोगिता एवं महत्व

डॉ. स्मिता श्रीवास्तव

शोधार्थी, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इ. वि. वि., इलाहाबाद

नादमय संगीत का अनुपम आनन्द ही हमारा साक्षात्कार परब्रह्मा परमात्मा से कराता है क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश तीनों नादब्रह्म के रूपी हैं अतः ये नाद की ही उपासना द्वारा उपासित होते है। सप्त स्वर तथा गाथा इत्यादि सभी नाद **(Musical Sound)** से ही उत्पन्न होते है जिसकी पांच अवस्थायें हैं 1. निश्वशब्द, 2. परा, 3. पश्यन्ति, 4. मध्यमा तथा बैखरी। निश्वः शब्द शेष सभी अवस्थाओं का आधारजनक है। संगीत में जिसको अनाहत नाद कहते हैं, वह परा अवस्था है एवं पश्यन्ति भी इसके निकट की अवस्था है जिसका सम्बन्ध ज्ञान से है इन्भियों से नहीं। गहन साधना की विशेष अवस्था में नाद के इस रूप का अनुभव मात्र किया जा सकता है। मध्यमा ध्वनि अथवा शब्द ही वह अवस्था है जो पूर्णतया हृदय अथवा मन में अनुभव होने के योग्य होती है। मध्यमा अवस्था अत्यन्त ध्यान एवं साधना के फलस्वरूप श्रवणगोचर होती है। संगीत के सम्बन्ध में इसको सूक्ष्म नाद अवस्था कहते हैं। विद्वानों ने बैखरी का स्थान कण्ठ बताया है। कण्ठ ही भाषा अथवा संगीत की अभिव्यक्ति का मुख्य स्त्रोत है। यहीं से मध्यमा का श्रवण रूप पर-श्रवण रूप की स्थिति में पहुंचता है।[2]कण्ठ जो कि नाद के मधुरतम स्वरूप संगीत की अभिव्यक्ति का स्त्रोत है उसी कण्ठ से मुखतरित साधारण आवाज से लेकर मधुरतम् हृदयपर्शी संगीतमय आवाज बनाने में सधी उचित कण्ठ साधना तथा स्वरों के कठिन नियमित रियाज़ का मूल मन्त्र निहित है जिसके आभाव में कर्णप्रिय संगीत की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। कण्ठ की कठिन सटीक साधना और स्वरों के नियमित अभ्यास ही किसी भी कलाकार की प्रस्तुति में निहित रस और आनन्द की अभिव्यक्ति को सार्थकता प्रदान करता है। इसकी उपयोगिता और महत्व को बताते हुये तानसेन ने कहा है कि-**प्रथम सुर साधे, फिर बैठे गुनिन में रस की करे पुकार**[3]। मानव शरीर को 'गात्र वीणा' या शारीरी वीणा कहा गया है जब शरीर से कोई ध्वनि निकलती है तो इसकी प्रक्रिया वही होती है जो एक वाद्य के द्वारा सम्पन्न होती है। कण्ठ साधना को अंग्रेजी में वॉयस कल्चर (Voice Culture) कहते हैं। इसे परिभाषित करने के लिये कहा गया है- **'Properly Trained voice which is useful for music'.** वैदिक काल मे विद्यार्थियों को वेद पाठ की सास्वर शिक्षा दी जाती थी जिसने उसका कण्ठ स्वतः संस्कारित हो जाता था। उदात्त (ऊंचा), अनुदात्त (नीचा) और स्वरित (सम) स्वरों के प्रयोग द्वारा उच्चारित किये जाने वाले मंत्र तभी सार्थक होते थे जब उन्हें निश्चित ध्वनियों पर निश्चित

परिमाण में और निश्चित बला घातों द्वारा प्रयुक्त किया जाय इसलिये कण्ठ संस्कार का कोई अलग शास्त्र विकसित करने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। कण्ठ साधना गुरू शिष्य परम्परा से घरानों की परम्परा तकै दृष्टिगत होता है। विभिन्न घरानों में अलग-अलग ढ़ग से स्वर लगाओ की परम्परायें विकसित हुई। जैसे-किराना घराना में आवाज की मिठास कायम रखने के लिये खुली आवाज लगाने की अपेक्षा कृत्रिम आवाज लगाने पर अधिक जोर दिया गया, जयपुर घराने में लयकारी की प्रधानता के कारण विभिन्न लय कि पलटों का अभ्यास कराया जाता था उसी से आवाज में विशिष्टता पैदा की जाती रही है। आगरा घराने में ध्रुपद धमार का प्रचार अधिक होने से दमदार आवाज के लिये नोम-तोम और लम्बी सांस पर विशेष ध्यान देते हैं। ग्वालियर घराने में ृाड्ज साधना और गायिकी में प्रयुक्त आलापचारी, बंदिशों एवं तानों की प्रकृति के अनुसार कण्ठ साधना की आधुनिक तकनीकी का इस्तेमाल किया जाता रहा है। कुछ अन्य घरानों में अपने-अपने ढ़ग से लोक प्रचलित स्वर लगावों और स्वर साधना को अपनाया। इसलिये ओंमकार नाथ ठाकुर, बड़े गुलाम अली खाँ, फैयाज़ खाँ, कुमार गंधर्व, भीमसेन जोशी, किशोरी अमोनकर इत्यादि सभी गायकों के कण्ठ स्वर में अलग-अलग विशेषताऐं दिखाई देती हैं और उनका प्रभाव भी अलग ढ़ग से पड़ता है। **भारतीय कण्ठ संस्कार का मूल ऊँकार की ध्वनि में निहित है जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्राण है। यह ऊँकार साधना ही भारतीय 'षड्ज याखरज साधना' कहलाती हैं जिसपर सभी एक मत हैं।**[5]

कण्ठ साधना ही रियाज़ का उत्तम और सार्थक माध्यम है जिसमें मधुर संगीत की अवधारणा निहित है कण्ठ साधना के इस महत्व को बताते हुये पं. ***ओमकार नाथ ठाकुर जी*** कहते हैं- ''कण्ठ वह बर्तन है जिसे नित्य साफ करने से अधिक चमक आती है।'' कण्ठ साधना के महत्व को ही बताते हुये ***पं. शारंगदेव*** कहते हैं-जब आत्मा बोलने की इच्छा प्रगट करती है तो वह मन को प्रेरित करती है मन शारीरिक अग्नि को संकेत करता है तथा शारीरिक अग्नि प्राण को स्पर्श करती है प्राण नाभि, कण्ठ, मुख, हृदय और मस्तिष्क आदि स्थानों को तथा स्वर तंत्रियों को स्पर्श करता है तंत्रियां कांपती हैं और कम्पन द्वारा ध्वनि उत्पन्न करती हैं आवाज में आन्दोलन तथा कम्पन तो अवश्य होते हैं क्योंकि वे ध्वनि के जन्मदाता हैं'' परन्तु आवाज में आन्दोलन और कम्पन आवाज में अवगुण भी पैदा करते हैं तथा स्वरों के इन्हीं अवगुणों को दूर करने के लिये कण्ठ साधना आवश्यक है।[6]

अतः निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि संगीत उपयोगी कर्णप्रिय ध्वनि और आवाज के प्रस्फुटन, पल्लवन एवं प्रसारण में कण्ठ साधना के कठिन सटीक एवं नियमित रियाज़ का महत्वपूर्ण योगदान है।

संदर्भग्रन्थ - सूची

1. सौन्दर्य रस एवं संगीत-डॉ. स्वतन्त्र शर्मा,
2. रेडियो और संगीत-डॉ. अशोक कुमार 'यमन'
3. आधुनिक व्यावसायिक हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन परम्परा व लक्षण - जीतराम 1. परम्परा व लक्षण-जीतराम शर्मा, पेज-52

शास्त्रीय संगीत की उत्थान में चित्रपट संगीत की भूमिका

श्री राजीव कुमार मलिक

अध्यापक (संगीत) केन्द्रीय विद्यालय, श्रीनगर

शास्त्रीय संगीत परंपरा को जनसाधारण तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य चित्रपट संगीत ने किया है। शास्त्रीय संगीत नियमबद्ध संगीत होता है जिसके कुछ विशेष नियम एवं सीमा होती है, जिसका पालन हर गायक को करना पड़ता है। चित्रपट संगीत की अपनी ही विषेषता होती है जैसे आकर्षक रचना,भावपूर्ण साधारण शब्द, वाद्यवृन्द (आरकेष्ट्रा) का उत्कृष्ट प्रयोग चटकीली रचनाये एवं मधुर कंठ द्वारा विभिन्न भावों को व्यक्त करना आदि ये सभी चित्रपट संगीत के प्रमुख लक्षण है। सहज अर्थों में अगर कहे कि चित्रपट संगीत का मुख्य उद्देश्य यह है कि सुनने में मधुर एवं शीघ्र प्रभाव डालने वाला जिसके द्वारा साधारण श्रोता तक पहुंचा जा सके। चित्रपट संगीत में शास्त्रीय संगीत जैसे स्वर, राग, ताल एवं शब्द आदि का कोई बन्धन नहीं होता है। इस संगीत में कहरवा एवं दादरा ताल का खूब वादन हुआ है। शास्त्रीय का आनन्द वही ले सकता है जिसे इस विद्या का ज्ञान हो दूसरी तरफ चित्रपट संगीत (फिल्म संगीत) को समझने हेतु संगीत का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। यही कारण है कि साधारण जनता चित्रपट से अधिक प्रभावित होती है।

चित्रपट संगीत में शास्त्रीय संगीत पर आधारित बहुत सारी रचनाये हुई है जो विभिन्न रागो पर आधारित है। शास्त्रीय संगीत पर आधारित कुछ चित्रपट संगीत (फिल्म संगीत) के गानो का उदाहरण निम्न तालिका के माध्यम से देने का प्रयास कर रहे है जिनका उल्लेख करना इस सन्दर्भ में आवश्यक है चित्रपट (फिल्म) संगीत में जिन रागो में सबसे अधिक रचनाये हुई है वे राग है- भैरवी, यमन, पीलू, पहाड़ी, भूपाली, शिवरंजनी, दरबारी कान्हड़ा, झिंझोटी, अहिर भैरव, चारूकेशी, भीम पलासी, विहाग एवं गारा। ये कुछ ऐसे राग है जिनमे रागो पर आधारित बहुत सारे फिल्मी गाने गाये गये है। शास्त्रीय संगीत के कई विख्यात कलाकारो ने फिल्म संगीत मे भी अपनी गायन द्वारा अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया है जैसे- बड़े गुलामअली खां, अमीर खां, नजाकत-सलामत अली, वर्तमान समय के कलाकारों में उस्ताद राशिद खां, पं. राजन-साजन मिश्र, पं. छन्नूलाल मिश्रा, अजय चक्रवर्ती एवं महिला कलाकार में परवीन सुल्ताना, एवं कौशिकी चक्रवर्ती का नाम प्रमुख है। अपने गायन द्वारा चित्रपट संगीत में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर आम लोगों तक अपनी शास्त्रीयता का परिचय दिया।

चित्रपट संगीत शास्त्रीय गायन ही नहीं बल्कि शास्त्रीय वाद्यों के वादन को भी जन साधारण तक फैलाने में अहम भूमिक रही है शास्त्रीय वाद्यो का वादन फिल्म जगत के शुरूआती दिनों से ही होता चला आ रहा है। चित्रपट संगीत में सुविख्यात सारंगी वादक सुल्तान खां, सरोद वादक अली अकबर खां, सितार वादक (भारत रत्न) पं. रविशंकर, शहनाई वादक (भारतरत्न) बिसमिल्ला खाँ, तबला वादक पं. सामता प्रसाद उर्फ गुदई महाराज, बांसुरी वादक हरिप्रकाश चौरसिया इत्यादि जैसे भारत के बड़े-बड़े विभूतियों ने फिल्म संगीत में मानो कुशल वादन द्वारा उन गानों को अमरता प्रदान की है।

चित्रपट संगीत में भारतीय शास्त्रीय नृत्यों को प्रचारित एवं प्रसारित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। फिल्म संगीत में उत्तर भारत के कथकनृत्य का

सबसे ज्यादा प्रयोग एवं फिल्मांकन हुआ है। फिल्म जगत में ऐसी बहुत सारी अभिनेत्रिया हुई है जिन्होंने कथक नृत्य को सीखा है तथा उनका समय-समय पर प्रस्तुती भी दी है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि चित्रपट (फिल्म) संगीत भारतीय शास्त्रीय संगीत के तीनों आयामों गायन, वादन एवं नृत्य इन विद्याओं को जनता के समक्ष रखने का समय-समय पर अवसर दिया है तथा इन विद्याओं को लोगों तक जोड़ने एवं प्रचारित करने में एक अहम भूमिका निभाई है। दुर्भाग्य से वर्तमान समय के फिल्म संगीत में पहले की तुलना में स्वच्छता, सुकुमता, सौन्दर्य एवं रस नहीं रह गया है। वर्तमान फिल्म संगीत में पाश्चात्य संस्कृति हावी हो गई है जिसमें ना ही हमारी भारतीय सभ्यता है ना ही संस्कृति। फिल्म संगीत में भारतीय वाद्यो का ज्यादा से ज्यादा वादन प्रयोग हो रहा है। सिनेमा हमारे समाज का आइना है। हमारी सभ्यता, संस्कृति एवं संगीत का ज्यादा से ज्यादा अवसर फिल्म संगीत में मिलना चाहिये।

	गीत	राग	फिल्म
1.	'दो हंसो का जोड़ा'	भैरवी	गंगा यमुना
2.	'मोहे भूल गये सांवरिया'	भैरव	बैजू बावरा
3.	'पूछो ना कैसे मैंने रैन बिताये'	अहीर भैरव	मेरी सूरत तेरी आंखे
4.	'आयो प्रभात'	भटियार	सुर संगम
5.	'झूठे नैना बोले'	विलासखानी तोड़ी	लेकिन
6.	'रैना बीती जाये'	गुर्जरी तोड़ी	अमर प्रेम
7.	'सांझ ढले गगन तले'	विभास	उत्सव
9.	'तू है मेरा प्रेम देवता'	ललित	कल्पना
10.	'दिल एक मंदिर है'	जोगिया	
11.	'आपकी नजरो ने समझा'	अड़ाना अनपढ़	
12.	'छम-छम पाजे रे पायलिया'	बहार	तलाश
13.	'वादा कर ले साजना'	बसंत मुखारी	हाथ की सफाई
14.	'नैनो में बदरा छाये'	भीम पलासी	मेरा साया
15.	'ज्योति कलश छलके'	भूपाली	भाभी की चूड़िया
16.	'तेरे सुर और मेरे गीत'	विहाग	गूंज उठी शहनाई
17.	'जादूगर सईयां'	वृन्दावनी सारंगी	नागिन
18.	'छोड़ दे सारी दुनिया'	चारुकेसी	सरस्वती चन्द्र
19.	'झनक-झनक तोरी बाजे पायलिया'	दरबारी कान्हड़ा	मेरे हजूर
20.	'बन्दे मातरम्'	देश	राष्ट्रगीत
21.	'जन गण मन'	अल्हैया विलावल	राष्ट्रगान
22.	'माहो पनघट पे'	गारा	मुगल-ए-आजम
23.	'मधुवन में राधिका'	हमीर	कोहिनूर
24.	'तु मुझे यू भूला ना पावोगे'	डिंडोटी	पगला कहीका
25.	'हमको मन की शक्ति देना'	केदार	गुड्डी
26.	'जब दीप जले आना'	यमन	चितचोर

संगीत मैनुअल-लेखक-डॉ. मृत्युंजय शर्मा, राम नारायण त्रिपाठी, पृ. सं.- 290
राग परिचय भाग-2, लेखक- प्रो. हरिश्चन्भ श्रीवास्तव, प. सं.-169

संत रैदास जी व उनके भक्ति गेय पद

श्रीमती श्रेया श्रीवास्तव

शोध छात्रा, गायन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संत रविदास जी का जन्म सन् 1388 (इनका जन्म कुछ विद्वानों ने 1398 में हुआ ऐसा भी बताते हैं) को काशी में हुआ। आप निर्गुण और सगुण ब्रह्म के उपासक रहे हैं। निर्गुण भक्ति में निहित मूल्य मानवीय शाश्वतता की महागाथा है। आपके भक्ति की लगन संसार से विरक्त नहीं करती, बल्कि इस धरती को कर्म-भूमि मानकर श्रम का महत्व प्रतिपादित करती है। आपकी कविताएं आत्म गरिमा, स्वाभिमान, किसी भी प्रकार के दार्शनिक मतवादों और दबावों से दूर स्वतंत्र चिन्तन की कविता है। संत रैदास जी की वाणीं में सूफी मत का प्रभाव दिखता है तथा उनकी वाणीं की जो विशेषता है उसे कवियों, भक्तों, विद्वानों और आलोचकों आदि सभी ने स्वीकार किया व मुक्त कंठ से उनकी प्रशंसा की। आपने सामाजिक कुरीतियों, बुराइयों को दूर किया तथा दार्शनिक सिद्धान्तों को सीधी-सीधी सरल शब्दावली में जनता की भाषा में समझाया और इस प्रकार आपने आत्म सम्मान व भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

सन्त रैदास जी की भक्ति गीत और छंद भक्ति आन्दोलन पर एक स्थायी प्रभाव बना दिया। वह एक सामाजिक, धार्मिक सुधारक, विचारक, एक ब्रह्म, मानवतावादी और कवि थे। उनकी कविता भगवान, ब्रह्मांड, प्रकति,गुरू और नाम के लिए प्रबल प्रेम से भरी पड़ीहै। सन्त रैदास जी का जीवन ऐसे अविस्मरणीय प्रसंगो से भरा हुआ है, जो मनुष्य को सच्चा जीवन-मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित करता है। उन्होंने अपने संदेशों और कविताओं के जरिये जीवन-यापन की ऐसी युक्ति सिखाई, जो आज भी पूर्ण प्रासंगिक है। मनुष्य की लोभी प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए गुरू रविदास जी ने लिखा है कि-

"माटी को पुतरा कैसे नचतु है।देखै
सुनै बोलै दउरिओ फिरत है।।
जब कछु पावै तब गरबु करतु है।
माइआ गई तब रोवनु लगतु है।।

अर्थात्- शरीर माटी का पुतला है, जो नाचता, दौड़ता और फिरता है। जब उसे कुछ मिल जाता है तो वह गर्वीला हो जाता है, और वहीं माया खत्म होती है तो रोने लगता है। गुरू रैदास जी का विश्वास था कि यदि सभी प्राणी रैदास जी के शिक्षाओं पर चलें तथा विकारों को त्याग कर शुद्ध हृदय से युक्त हो जाएं तो निश्चित ही एक श्रेष्ठ समाज की स्थापना हो सकती है। एक प्रसंग में सन्त रैदास जी ने कहा है कि-

"इहु तनु ऐसा जैसे घास की टाटी जली
गइओ घासु रलि गइयो माटी।"

अर्थात्- मनुष्य का शरीर मात्र घास की टाटी है, जिसे एक दिन जलकर माटी में मिल जाना है। रविदास जी कहते हैं कि सम्पन्न वही है जिसके पास ईश्वर का नाम है। मानवीय आस्था के स्वर इस वाणीं से सशक्त होते हैं। आपने समाज की भलाई के लिए बहुत सारे काम किये। आपकी वाणीं में कहीं आक्रोश या बदले की भावना नहीं झलकती। इन विभाजक रेखाओं को पाटने के लिए आपने सहज रास्ता अपनाया और कहा कि-

"रविदास राति ने सोईयो,
दिवस न करिये स्वाद।

अह निस हरि जी सुभारिये,
छोड़ि सकल प्रतिवाद।।''

ये रचना आप अक्सर ही गाया करते थे। आपके भक्ति का मुख्य उद्देश्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना था जहाँ कोई गम, दुख व चिन्ता न हो। संत रैदास जी ने अपने ब्रह्म का परिचय देते हुए कहा है कि उनके ब्रह्म का चरण पाताल है, सिर आसमान है, जो किसी पात्र में नहीं समा सकता। उनके नख का स्वेद-सुरसरिधारा है जिसके विराट स्वरूप का परिचय शिव, सनकादि तथा ब्रह्मा तक नहीं पा सके-

''चरन पताल सीस असमाना,
सो ठाकुर कस संपुट-समाना।
शिव सनकादिक अंत न पाया,
ब्रह्मा खोजत जनम गँवाया।।''

संत रविदास, ग्रन्थ पद 57

कवि रैदास जी ने राम को जगत का कर्ता बताया है जो एक मात्र सत्यरूप है तथा सभी प्रकार के सुख-दुख से परे है-

'जोग न भोग रोग नहीं जाके,
कहा नाम सत् सांई।'

संत रविदास और उनका काव्य,पद 11

संत रविदास जी की यह धारणा है कि जब तक कृष्ण और करीम, कुरान और पुराण को एक रूप में नहीं समझाया जायेगा, तब तक सारी पूजा व साधना झूठी सिद्ध होती रहेगी-

''कृष्णकरीम राम-हरि-राघव,
जब लग एक न पेषा।
वेद कतैव कुरान-पुरानन,
सहज एक नहीं पेषा।।''

संत रविदास पद 4

संत रैदास जी आगे की पंक्तियों में अतीत अनाहत शब्द के अनुरागमय हो जाने की बात का उल्लेख करते हैं परन्तु उनमें हठयोगिक प्रक्रिया का परिचय नहीं मिलता। वे कहीं कुण्डलिनी योग की ओर भी प्रवृत्त नहीं दिखाई पड़ते-

पिंड परे जिव जत घर जाता,
शब्द अतीत अनाहत राता।'

संत रविदास पद 56

आगे के श्लोक में रैदास जी कहते हैं कि जब तक साधक में भगवान के प्रति अनन्य भक्ति भावना का उदय नहीं होता तब तक सब व्यर्थ है। भला-पारसमणि के स्पर्श बिना लोहा स्वर्ण कैसे बन सकता है-

''पड़े गुने कछु समझि न परही,
जोलो भाव न दरसे।
लोहा हिरन होय यौं कैसे,
जो पारस नहिं परसै।।''

संत रविदास पद 13

रविदास गृहस्थ संत तथा भाव-भक्ति के साधक थे। गुरू ग्रन्थ में आपके 40 पद संकलित हैं तथा आपने बहुत से गेय पदों की रचना की है। इसके अतिरिक्त श्री गुरू रविदास जी के 41 भजन के तहत गुरू ग्रन्थ साहिब में ये राग भी शामिल हैं। जैसे- राग सिरी, गौरी, गुर्जरी, जैत श्री, बिलावल, रामकली, केदार, भैरव, बसन्त व राग मल्हार इत्यादिं। आप सर्वथा ही विनीतता एवं मधुरता से परिप्लावित रहे हैं। आपका निधन सन् 1518 ई. में बनारस में ही हुआ।

संदर्भग्रन्थ - सूची

1. कबीर संत और विचारक-डॉ. भगवान देव पाण्डेय
2 .संत रविदास की निर्गुण भक्ति-डॉ. मीरा गौतम

सुगम एवं लोक संगीत में शास्त्रीय संगीत के तत्व

श्री नंदकिशोर झा

ति. मा. भागलपुर विश्वविद्यालय

सुगम का अर्थ होता है, सरल अर्थात् संगीत की ऐसी रचनाऐं शास्त्रीय संगीत का अध्ययन किये बिना गाई जा सकती है तथा सामान्य श्रोता वर्ग को सरलता से समझ में आ सके, साथ ही उनके मन मस्तिष्क पर प्रभाव डाल सके। सुगम संगीत के अन्तर्गत भजन, गजल, गीत एवं वर्तमान में प्रचलित चित्रपट संगीत को लिया जा सकता है। सुगम संगीत की रचना जनमानस में शीघ्र ही लोकप्रिय हो जाती है।

19वीं शताब्दी से सुगम संगीत प्रचलन में आया। यह संगीत शास्त्रीय संगीत की गम्भीरता से पृथक सामान्य संगीत रसिकों की रूचि को ध्यान में रखते हुए तैयार किया जाता है, सुगम संगीत विद्या, रेडियो आकाशवाणी के प्रसारण के पश्चात अधिक लोकप्रिय हुई। इस तरह से भारतीय सुगम संगीत भारत में ही नहीं वरन विदेशों में भी बी.वी. सी. द्वारा लोकप्रिय हुआ। फिल्म संगीत में शास्त्रीय रागों को अत्यंत सुन्दरता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। सुगम संगीत को लोकप्रिय और जन-जन तक पहुँचाने के लिए फिल्म, रेडियो, दूरदर्शन आदि महत्वपूर्ण योगदान है।

गजल - यह मूलतः फारसी शब्द है जिसका अर्थ मुहब्बत भरे गीत से है। इसकी पैदाइश फारस के लोक संगीत से हुई और वहीं से उसका प्रसार अरब, मिश्र एवं भारत में हुआ। भारत में गजल तथा कब्बाली को प्रसारित करने का श्रेय ई. 13 के प्रसिद्ध सूफी संत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती को है। गजल को प्रतिष्ठा दिलाने में खिलजी तथा तुगलक साम्राज्य के राजकवि अमीर खुसरों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। वे स्वयं गजल निर्माता एवं गजल गायक भी थे। मुगलकाल में गजल गायन की ईरानी शौली को काफी प्रोत्साहन मिला। भारत के अंतिम सम्राट बहादुर शाह जफर तक यह परम्परा चलती रही। गजल की शायरी और गायकी एक अपना ढंग रखती है। इसकी रचना विविध छंदों में होती है जिसको 'बहर' कहते हैं। गजल का पहला शेर दो चरणों से बनता है - स्थायी होता है और शेष 'अंतरा' होते हैं। यह प्रायः देस, खमाज, भैरवी, जैसे- ठुमरी प्रधान रागों मे गाये जाते हैं। इसमें राग शुद्धता के अपेक्षा भावमयता का अधिक ध्यान रखा जाता है। यह अधिकतर पश्तों, रूपक, कहरवा, दादरा, जैसे तालों में गायी जाती है। शास्त्रीय संगीत के गायन शैली में मिलती जुलती होने के कारण शास्त्रीय संगीत के मान्य कलाकार भी इसको गाते हुऐ देखे जाते हैं। इसके प्रमुख कलाकारों के निम्न नाम मुख्य रूप से दिये जा सकते हैं। अख्तरी बाई फैजाबादी, सुन्दराबाई, गौहराजान, प्यारे साहब, कमला

झरिया, नूरजहाँ, लता मंगेशकर, तलत महमूद।

संगत - इस गायकी के साथ कहरवा ताल के अलग-अलग ठेकों का प्रयोग किया जाता है और कुछ वादक लड़ी लग्गी का प्रयोग भी करता है।

भजन- जिस प्रकार उर्दू भाषा के शब्दों में गजलें तैयार होती हैं, उसी प्रकार हिन्दी शब्दावली से पद, भजन या धार्मिक गीतों की रचना होती है। ईश्वर स्तुति या भगवान की लीला का वर्णन भजनों में किया जाता है। भजन को किसी एक राग में बांध कर भी गाते और ऐसे भी भजन हैं जो किसी विशेष राग में न होकर मिश्रित राग स्वरों द्वारा तैयार हुए हैं। भजन अधिकतर कहरवा, दादरा, धुमाली, रूपक एवं तीनताल जैसे तालों में गाये जाते हैं।

संगत - इस गायकी के साथ कहरवा ताल बजायी जाती है और भजन का ठेका बजाया जाता है।

ठेका - धिऽताधिं ऽधिं नक तिंऽ ततिं ऽतिं नक।

गीत- ईश्वर प्रार्थना या भगवान की लीला संबंधी पदों को छोड़कर जो साहित्यिक रचनाएँ ऐसी होती है जो किसी ताल में बांधकर गाई जा सके, उन्हें 'गीत' कहते हैं। इनमें भाव की प्रधानता रहती है। गीतों में श्रृंगार और करूण रस अधिक पाया जाता है। गीतों में किसी प्रकार का स्वर विस्तार या तानों का प्रयोग नहीं होता है। आकाशवाणी तथा फिल्मों द्वारा गीत व भजनों का यथेष्ट प्रचार हुआ है।

लोक संगीत

लोक संगीत सुगम संगीत की ही श्रेणी में आता है। इस प्रकार के गीतों की शब्द रचना, स्वर रचना एवं ताल रचना सरल होती है। इस प्रकार के गीतों की शब्द रचना विभिन्न प्रकार के प्रांतों की भाषा शैली के अनुसार होकर रागों के स्वरों में बंधक से मुक्त होती है। ये गीत स्वर प्रधान या ताल प्रधान न होकर लय प्रधान होते हैं। प्रांत तथा अवसर के अनुसार इन गीतों की रचना की जाती है। जैसे- दादरा, लावली, काजरी, चैती, आल्हा, मांड, झूमर, बिरहा, सोहर।

इन गीतों के साथ संगत करते समय लघु तालों का या छोटी-छोटी मात्रओं के बोल समूहों का वादन होता है। लोक संगीत के साथ वादन में तालों में शास्त्रीय नियमों का वादन आवश्यक नहीं समझा जाता, परन्तु इसमें लघु की निश्चित मात्र या मात्र खण्डों का निर्वाह अवश्य किया जाता है। इसीलिए लोक गीतों के साथ संगत करने वाले असंख्य तबला वादक शास्त्रीय वादन का ज्ञान नहीं रखते। पर लोक गीतों की संगत में चार चांद लगा देता है। वही तालों में शास्त्रीय अर्थो का कुशल जानकार लोकसंगीत की संगत करते समय असफल होता है।लोक संगीत के तहत कहरवा ताल, कई प्रकार से बजाया जाता है।

कजरी - 'कजरी' गीतों में वर्षा ऋतु का वर्णन, विरह वर्णन तथा राधा कृष्ण की लीलाओं का वर्णन अधिकतर मिलता है। कजली की प्रकृति शुद्ध है। इसमें श्रंगार रस प्रधान है। मिर्जापुर और बनारस में कजली गाने का प्रचार अधिक पाया जाता है।

ख्याल, ठुमरी और भजन, गजल आदि में देख सकते हैं। उपयुक्त सभी गान शैलियों में शब्दों का प्रयोग होता है। किन्तु उनकी मात्र में अन्तर है ख्याल शब्दों का प्रयोग गानकता के सहायक रूप में होता है। ठुमरी में शब्दों का महत्व बढ़ जाता है, फिर भी उनकी एक सीमा है। कम शब्दों को, जो साहित्यिक दृष्टि से बोधक होते हैं, स्वर की विभिन्न सन्निवेशों द्वारा भिन्नार्थक अथवा भिन्न भावोदबोधक बना दिया जाता है। यहाँ यद्यपि शब्दों के अपेक्षा संगीत का ही विशेष महत्व है फिर भी शब्दों का स्थान ख्याल के अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है, अतएव

ख्याल जिस तरह का संगीत माना जाता ठुमरी उससे निम्न स्तरीय हो जाती है।

जब गायक भजन, गजल, गीत, आदि का गान करता है तब शब्दों की मह ा काफी बढ़ जाती है तथा संगीत उन शब्दों के भावार्थ को वहन करने में सहायक रूप में व्यवहुत होता है। इस प्रकार ख्याल में संगीत की प्रमुखता एवं काव्य की गौणता और भजन आदि में काव्य की प्रमुखता एवं संगीत की गौणता स्पष्ट परिलक्षित होती है। अतएव संगीत मय काव्य का योग यद्यपि उसे भावों की गौणता स्पष्ट परिलक्षित होती है। अतएव संगीत मय काव्य का योग यद्यपि उसे भावों की विस्तृत भूमि प्रदान करता है। किन्तु उसे अपने उच्च स्थान से गिरा देता है। संगीत की श्रेष्ठता की दृष्टि से कण्ठ संगीतमय इस प्रकार जो कमी दिखाई देती वह वादय संगीत में नहीं है। कण्ठ संगीत की शैलियाँ के अनुकरण में अथवा राग, ताल, नियमों के परिपालन, अपरिपालन के कारण वादय संगीत में भी यद्यपि 'शास्त्रीय' एवं सरल 'संगीत' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु संगीत के तत्वों के दृष्टि से उसमें न कोई कमी आती है और न ही कोई मिलावट होती है। इस प्रकार संगीतमय तात्विक दृष्टि से वादय की मह ा सर्वाधिक हो जाती है।

उक्त सभी दृष्टियों से अर्थात् संगीत के मूल तत्व की दृष्टि से, स्वतंत्र कला की दृष्टि से दूसरी कलाओं को निखार प्रदान करने की दृष्टि से सामाजिक धार्मिक रूप से प्रतीकात्मक की दृष्टि से, स्वरों के विश्लेषणात्मक कार्यों की दृष्टि से, वादय कला मय तबला जितना अधिक महत्वपूर्ण एवं व्यापक है। उतना अन्य कोई महत्वपूर्ण नहीं है।

गायन की विभिन्न शैलियों में तबला संगति का सिद्धान्त

''संगत'' इस शब्द का अर्थ स्पष्ट है। किसी के साथ उनके अनुसार जाना या चलना संगीत में संगत का अर्थ होता है किसी गायक, वादक या नर्तक के चलन, लय, ताल एवं संगीत के प्रकृति के अनुसार वादन करना। वह वादन चाहे तालवाद्य से हो अथवा तत या सुषिर वाद्य से ही क्यों न हो। प्रायः गायक तथा नर्तक के साथ ताल, वाद्य एवं तत् या सुषिर वाद्य से उनके स्वर, गीत प्रकार - नृत्यप्रकार, गीत, प्रकृति नृत्य, ताल एवं लय के अनुसार संगत की जाती है। तत् तथा सुषिर वाद्यों के साथ ताल वाद्य से संगत की जाती है। नृत्य में प्रायः अवनद्ध तथा धन दोनों प्रकार के वाद्यों से लय धारण की जाती है। दक्षिण भारतीय संगीत में अनवद्ध वाद्य, धन वाद्य दोनो प्रकार के वाद्यों से लय धारणा की जाती है। दक्षिण भारतीय संगीत में अवनद्ध वाद्य, धन वाद्य तथा तालक द्वारा हाथ की सशब्द और निःशब्द क्रिया से गायन, वादन और नृत्य धारणा के लिये संगत की जाती है।

संगीत के लय एवं ताल का अत्यंत महत्व होता है। ऐसा कहा गया है कि तालविहीन संगीत ''आरण्यक संगीत'' होता है। नाट्यशास्त्र में ताल की व्याख्या करते हुए भरतमूनी ने कहा है 'कलापातलयान्वितम'। नाट्यशास्त्र में ताल की व्याख्या करते हुए भरतमूनि ने कहा है 'कलापातलयान्वितम्'। सशब्द और निशब्द क्रियाओं से गीत, वाद्य और नृत्य का परिमाण धारण कराने वाला काल ही ताल है। ताल एवं लय धारणा से संगीत निबद्ध होकर रंजक होता है, उसकी रंजकता स्थाई बनती है, संगीत प्रभावी होता है, संयम व रसनिष्पति होती है, भाव एवं रस की आनंद प्राप्त होता है, सौन्दर्य पूर्ण फलन एवं गति भेद से संगीत

अधिक मनोरंजक होता है। इसी कारण अति प्राचीनकाल से वर्तमान काल तक संगीत के साथ ताल वाद्य की संगत आवश्यक मानी गई है। लय एवं ताल में वद्ध संगीत को निबद्ध संगीत कहा जाता है।

तबला वाद्य अवनद्ध वाद्यों की श्रेणी में आता है। प्राचीन काल से वर्तमान काल तक कई अवनद्ध वाद्य प्रचार में आये। सामाजिक अनुकूलता के अनुसार उनका प्रयोग संगीत में संगत के लिये होता रहा। अति प्राचीन काल में भूमि दुंदुभी-दुंदुंभी समान वाद्यों की संगत लयधारणा के लिये की जाती थी। तत् पश्चात मृदंगादि वाद्य प्रचार में आये तथा उनका उपयोग संगीत में लयधारणा के साथ-साथ संगीत को मनोरंजक बनाने के लिये किया जाने लगा। प्राचीन काल में संगीत में ताल की धारणा 'ताल' नाम धन वाद्य से की जाती थी। सशब्द और निशब्द की ताली एवं खाली से ताल को दर्शाने का कार्य ''तालक'' (ताल देने वाला) किया करता था। अवनद्ध वादक तो ताल मात्रओं के आधार पर लघु गुरू वर्णाक्षरों से वादन कर संगीत में रस भाव और रंजकत्व बढ़ाने का कार्य मात्र करते थे। भरत काल में (3-री 4-बी सदी) सर्वप्रथम तालों का उल्लेख ''नाट्यशास्त्र'' ग्रंथ में उपलब्ध होता है। भरत ने अपने समय के संगीत के लिये उपयुक्त पुष्कर नाम अवनद्ध वाद्य का विस्तृत विवेचन अपने ग्रंथ में किया है तथापि तालों का निश्चित पाटाक्षरों के अनुसार वादन का कोई उल्लेख नहीं है।

मध्यकाल के सर्वश्रेष्ठ संगीत ग्रंथ ''संगीत रत्नाकर'' में सारंगदेव ने (13वीं सदी) समयानुकूल भरत के मार्गी तथा प्रचलित देशी तालों का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने मर्दल को ही मृदंग के समान मानकर मर्दल एवं पटह के वादन विधि का विस्तृत विवेचन किया है। इन्होंने भी ताल के निश्चित पाटाक्षर नहीं बताये। भरत काल में शारंगदेव के काल क अवनद्ध वाद्य वादक ताल नहीं अपितु लय धारण कराता था तथा गायन, वादन, नृत्य में प्रयुक्त तालों के आधार पर बोलो की रचना करके संगीत को मनोरंजक बनाता था। प्राचीन काल से मध्य काल तक मृदंग या मृदंग समान वाद्यों से दी संगीत के साथ संगत की जाने का उल्लेख मिलता है। शारंगदेव ने उस काल के संगीत के लिये पुष्कर वाद्य को अव्यवहारिक बताया। कुछ राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक कारणों से संगीत के गायन, नर्तन प्रकारों में अंतर आया। प्राचीन गीत प्रकारों का प्रचलन धीरे-धीरे कम होने लगा एवं ख्याल, ठुमरी, टप्पा, गजल, भजन, अदिगीत प्रकार विशेषकर उत्तरी भारत में प्रचार में आये। श्रृंगारिक गीत प्रकारों का प्राधान्य होकर तबला वाद्य संगीत के लिये प्रचार में आया। तबले में संगत करते समय मृदंग के खुले बोल, ढोलक समान मीडयुक्त बोल एवं चांटी के बंद बोल बजाने में आसानी होने से संगत के लिये अधिक उपयुक्त समझा जाने लगा। यद्यपि खुले बोल तबले पर बज सकते हैं तथापि मृदंग के ध्वनि का गांभीर्य तबले के वादन से प्राप्त नहीं होता। इसी कारण वर्तमान काल में भी ध्रुवपदादि गीत प्रकारों के साथ मृदंग से ही संगत की जाती है। तबले के वोलो के सरल निकास, मिठास, कायदे, पेशकार, रेले, परने, गते, तिहाइया तथा विभिन्न लयकारियों के सुन्दर वादन में कारण साथ, संगत के लिये तबले ने संगीत में शीर्ष स्थान प्राप्त कर लिया।

संगीत के अंतर्गत गायन, वादन और नत्य तीनों कलाएँ आती है एवं नजरंजन तीनों का मूल तत्व होता है। तबला वादक को तीनों कलाओं के साथ संगत करनी पड़ सकती है तथा तीनों में जय ताल धारण कराने के साथ-साथ रंजकता में वृद्धि

लाने का प्रयास भी करना पड़ता है। गायन, वादन और नृत्य तीनों कलाओं के प्रदर्शन को स्थायित्व प्रदान करना, रस भाव निष्पत्ति में सहयोग देना, श्रोताओं के मन को आल्हादित कर उन्हें आनंद प्राप्त कराना तबला संगत कार्य का प्रमुख कर्तव्य होता है। तबला संगत करने वाले वादक को स्वर ज्ञान होना नितांत आवश्यक होता है। तभी वह निश्चित स्वर के अनुसार वाद्य का चयन कर वाद्य को निश्चित स्वर में मिलाने एवं स्वर बनाये रखने में सक्षम हो सकता है। संगत करने वाले तबला वादक को गायन के गीत प्रकार वादय प्रकार, गीत प्रकार एवं नृत्य प्रकार का ज्ञान आवश्यक होता है। तभी वह उचित संगत कर सकता है। तबला संगत कार्य को गायन, वादन और नृत्य के साथ संगत करने का अभ्यास जरूरी है। उसकी कल्पना शक्ति, प्रतिभा एवं निरीक्षण शक्ति अत्यंत क्षीण होनी चाहिए। आदर्श तबल संगत तभी कहलाती है जब तबल संगत कार्य अपने वादन से मुख्य कलाकार (गायक, वादक और नृतक) की कलाकृति को अर्थात् उसकी प्रस्तुति सफल कराके यश प्रदान कराता है। यदि कोई श्रेष्ठ तबला कलाकार संगत करते समय मुख्य कलाकार का ध्यान न रखकर अपने को उच्च दर्शाने की दृष्टि में अपने ही मस्त होकर वादन करता है, तो वह स्वयं संगत में यशस्वी नहीं होगा और ना ही गायक, वादक या नृतक के प्रस्तुतीकरण की सफलता में तबला संगत कार्य की अहम् भूमिका होती है। स्वतंत्र तबला वादन और शास्त्रसंगत दोनों में काफी अंतर होता है।

संदर्भग्रन्थ - सूची

1. मगठे डॉ. मनोहर भालचन्द्रराव ; ताल वादय शास्त्र।
2. मिश्र लालमणि ; भारतीय संगीत वाद्य।
3. पटेल डॉ. जमुना प्रसाद ; ताल वाद्य परिचय।
4. बसंत ; संगीत विशारद।
5. पगांजपे डॉ. अरदचन्द्र श्रीधर ; संगीत बोध।

Revati Tillana of Tanjavur

Mrs. D Padma

Dept. of Music, Queen Mary's College

Karnatik Music performance is constituted by a small entity of artists-main performer supported with melodic and rhythmic accompaniment. In vocal performances, Violin is used as melodic support. Mrdangist provides percussion support to all Vocal and Instrumental music concerts. In addition, Ghatam, Kanjira, Morsing may also be used for rhythmic support. It is evident that the percussion support does not just maintain the tempo, but enhances the melodic output. After the main section of melodic cum rhythmic creativity i.e. Niraval, Kalpana Svara, the rhythmic performers enchant the programme with the possible rhythmic intricacies in 'Tani Aavartanam-featuring the speciality of rhythm and tempo.

Karnatik concert known as Kutcheri normally comprises varied compositions. Starting with a Varnam which emphasizes svaras of the raga, also having lyrics, makes a very lively start. This is followed by Kritis. Kriti is a format of a musical composition typical to Carnatic music, an Indian classical music style. Kritis form the backbone of any typical Carnatic music concert and is the longer format of a Carnatic music song.

Conventional Kritis typically contain three parts-Pallavi, the equivalent of a refrain in Western music.

Anupallavi, the second verse, which is sometimes optional.

Charanam, the final (and longest) verse that wraps up the song.

The lyrics of musical compositions are the channels taking everyone to spiritual bliss.

Beginning with an invocatory Kriti on Lord. Ganesha, there are the following Kritis.

It may be observed that before starting some Kritis, the essence of the raga is depicted through aalapana, in a few, for a particular line, kalpana svaras are rendered. The crux of the Raga is embedded with svaras depicting the firm tempo cohering with melodic classicism. In a few Kritis, a particular line featuring a state like for example, "oh lord, I await your opinion" or "you abound with grace, charm" etc.,

The performer must improvise a string of swaras in any octave according to the rules of the raga and return to beginning of the cycle of beats smoothly, joining the swaras with a phrase selected from the kriti. The violin performs raga alapana, niraval, kalpana svara alternately with the main performer. In very long strings of swara, the performers must calculate their notes accurately to ensure that they stick to the raga, have no awkward pauses and lapses in the beat of the song, and create a complex pattern of notes that an experienced audience can follow.

Performers then begin the main compositions with a section called raga alapana exploring the raga. In this, they use the sounds aa, ri, na, ta, etc. instead of swaras to slowly elaborate the notes and flow of the raga. This begins slowly and builds to a crescendo, and finally establishes a complicated exposition of the raga that shows the performer's skill. All of this is done without any rhythmic accompaniment, or beat. Then the melodic accompaniment (violin or veena), expounds the raga. Experienced listeners can identify many ragas after they hear just a few notes. With the raga thus established, the song begins, usually with lyrics. In this, the accompaniment (usually violin, long time before, it seems Veena, Venu also provided melodic support).

In most concerts, the main item will at least have a section at the end of the item, for the percussion to perform solo (called the tani avartanam). The percussion performers perform complex patterns of rhythm and display their skill. If multiple percussion instruments are employed, they engage in a rhythmic dialogue until the main performer picks up the melody once again. Some experienced artists may follow the main piece with a ragam thanam pallavi mid-concert, if they do not use it as the main item. Following the main composition, the concert continues with shorter and lighter songs. Some of the types of songs performed towards the end of the concerts are tillanas and thukkadas - bits of popular kritis or compositions requested by the audience. Every concert that is the last of the day ends with a mangalam, a thankful prayer and conclusion to the musical event.

Mrdangam mastereo Tanjavur Sri. Upendran

He was a left-handed Mridangist, had a very bright career as a Carnatic musician, which was cut short by his untimely demise at the age of 52. He was the disciple of Sri Tanjavur Rajam Iyer and Sri Palghat Mani Iyer. He did his Arangetram with Sri Chembai in Thanjavur. He was a very sought-after accompanist for great Vidwans like Flute Mali, Chitti Babu, S. Balachander, Dr. Balamuralikrishna and so on. His speciality in providing support to instrumental music concerts is very noteworthy. Many Veena artists like

Karaikudi. Smt. Rajeswari Padmanabhan performed enormously with him.

Sri. Upendran introduced Mandolin Srinivas to the music field. He has many well-known disciples such as Sri Tanjavur Kumar, Sri Neyveli Narayanan, and Sri Tanjavur Murugabhoothi. Sri. Upendran's grandson, Thanjavur Praveen Kumar, is an outstanding upcoming young mridangist.

Thanjavur Upendran developed an extremely distinct, unique style. He was well known for his finesse in accompaniment, which led to him being extremely in demand throughout his career. He played for all the famous musicians of his era, such as M. Balamuralikrishna, D. K. Jayaraman, Maharajapuram V. Santhanam, Dr. S. Ramanathan, T. R. Subramaniam, T. R. Mahalingam (flute Mali), N. Ramani, and Chittibabu, among others. He also accompanied female artists, including the Sikkil Sisters (flute) and M. L. Vasanthakumari. He was very meticulous in tuning his instruments – he was a fickler for perfection of the sruthi and only ever used kappi mrudangams. I've learned some of these aspects along the way; when checking the sruthi, the chapu, dhin, and nam strokes must all be aligned. Most vidwans do not check all three of these. The meetu must also be at the same sruthi; in fact sometimes Upendransir (and my guru) tune the mrudangam on the meetu alone! His style of accompaniment was very sensitive, and he was always quick to adjust his approach to that of the main artist; he was very popular with veena artists due to this reason. His speciality in providing support to instrumental music concerts is very noteworthy. Many Veena artists like Karaikudi. Smt. Rajeswari Padmanabhan performed enormously with him. Once while they were travelling for a performance outside Tamil Nadu by train, he had the urge to compose a Tillana in the Raga Revati. It is excellent to observe how both the artists contributed to the aroma of classicism exchanging melodic and rhythmic supremacy in this unison which would be evident in the composition. With the available sources in the Karaikudi. Veena Gharana, the notation of the Tillana is supplied below. Such mesmerising classical pieces must not get extinct.

TILLANA

RAGA: REVATI

TALA: ADI

COMPOSER: TANJAVUR UPENDRAN

PALLAVI

1. !! nadrudru tom tom dru dru tom tom dru dru tom ! dhim ! til laa na !!

2. !! nadrudru tom tom dru dru tom tom dru dru tom ! dhim ! ta na na til laa na !!

3. !! nadrudru tom tom dru dru tom tom dru dru tom ! dhim dhim ! ta na na til laa na !!

4. !! nadrudru tom tom dru dru tom tom dru dru tom ! dhim dhim dhim ! ta na na til laa na !!

(nadrudru tom tom dru dru tom tom dru dru tom....)

ANUPALLAVI- Only the svaras notated from the available renderings in the tradition of Karaikudi. Smt. Rajeswari Padmanabhan is available.

CARANAM

!! ka ru nai cei du en ! nai kaat ta rul ! vaa ye !!

!! ja ga mel laam nee ye ! tu nai nee ! kan naa !!

!! pa ramapavit ra sri ! paranda ! ma un mel !!

!! pa da malar a di yai ! pa nin ! de ne !!

!! taj jam jaj jam taj ! am ! !!

VARIATIONS TO BE RENDERED AS NOTATED FOR THIS AND REMAINING PORTION AS SVARAS AND CONCLUDED AS (nadrudru tom tom dru dru tom tom dru dru tom....)

PALLAVI

1. !! m p m p „ p n p n, n s n s, ! r,,, ,,,, ! ,,, s n p m r !!

!! nadrudru tom tom dru dru tom tom dru dru tom ! dhim ! til laa na !!

2. !! m p m p „ p n p n, n s n s, ! r,,, ,,,, ! s n p n ,p m r !!

!! nadrudru tom tom dru dru tom tom dru dru tom ! dhim ! ta na na til laa na !!

3. !! m p m p „ p n p n, n s n s, ! r,,, „ r, ! s n p n ,pm r !!!! nadrudru tom tom dru dru tom tom dru dru tom ! dhim dhim ! ta na na til laa na !!

4. !! m p m p „ p n p n, n s n s, ! r,,, r, r, ! s n p n ,pm r !! !! nadrudru tom tom dru dru tom tom dru dru tom ! dhim dhim dhim ! ta na na til laa na(nadrudru tom tom dru dru tom tom dru dru tom)

ANUPALLAVI

i) !! s,rn rsnp n,sp snpm ! p,nm npmr ! mpns r,,, !!

ii) !! sr,n rsnp ns,p snpm ! pn,m npmr ! mpns r,r, !!

iii) !! ssrn rsnp nnsp snpm ! ppnm npmr ! mpns rrrr !!

!! nsrm pmr, mrnr s,,, ! mpns rsnp ! snpn ,pmr (nadrudru tom tom dru dru tom tom dru dru tom....)

CARANAM

!! „s r , sn p pnsn pm np ! p, mn ,pm r ! n,r, s,,, !!

!! ka ru nai cei du en ! nai kaat ta rul ! vaa ye !!

!! „s r „m m r m pm r,,, ! „m p „ns ! n,r, s,,, !!

!! ja ga mel laam nee ye ! tu nai nee ! kan naa !!

!! „s r „mm rmpmm pm r, „„ ! „ns „r, ! nrsn p, p, !!

!! pa ramapavit ra sri ! paranda ! ma un mel !!

!! „ m p „ n s r, r, snp, ! pnsn pmr, ! n,r, s„ !! !! pa da malar a di yai ! pa nin ! de ne !

a) !! r„ s„ n, r, „ nr ! s„ „„ ! „„ „„ !!!! taj jam jaj jam taj ! am ! !!

b) !! r„ s„ n, r, „ nr! s„ „„ ! „„n pnpn !!!! taj jam jaj jam taj ! jam! !!

c) !! r„ s„ n, r, „ nr! s„ „„ ! „„p npns !!!! taj jam jaj jam taj ! jam ! !!

d) !! r„ s„ n, r, „ nr ! s„ „„r ! m„p m„n !! taj jam jaj jam taj ! jam ! !!!! r„ s„ n,r, „nr ! s„ „„r !m„p m„ !! rrnp npmr „rr „p ! n„ „„m ! r„n s„p !!

!! n„ „ns rmrs r,s,! „rm ,r„ ! mrmr sr,n !! „n, s„r „r, n,r s ! ns,n „p, ! s,n, ,pmr!!

(nadrudru tom tom dru dru tom tom dru dru tom....)

BIBLIOGRAPHY

1. Thanjavur Upendran | musings on music and life sankirnam.wordpress.com/2013/07/24/thanjavur-upendran
2. Kriti - Wikipedia, the free encyclopedia en.wikipedia.org/wiki/Kriti Wikipedia
3. Performances of Carnatic music - Wikipedia, the free ... en.wikipedia.org/wiki/Performances_of_Carnatic_music Wikipedia

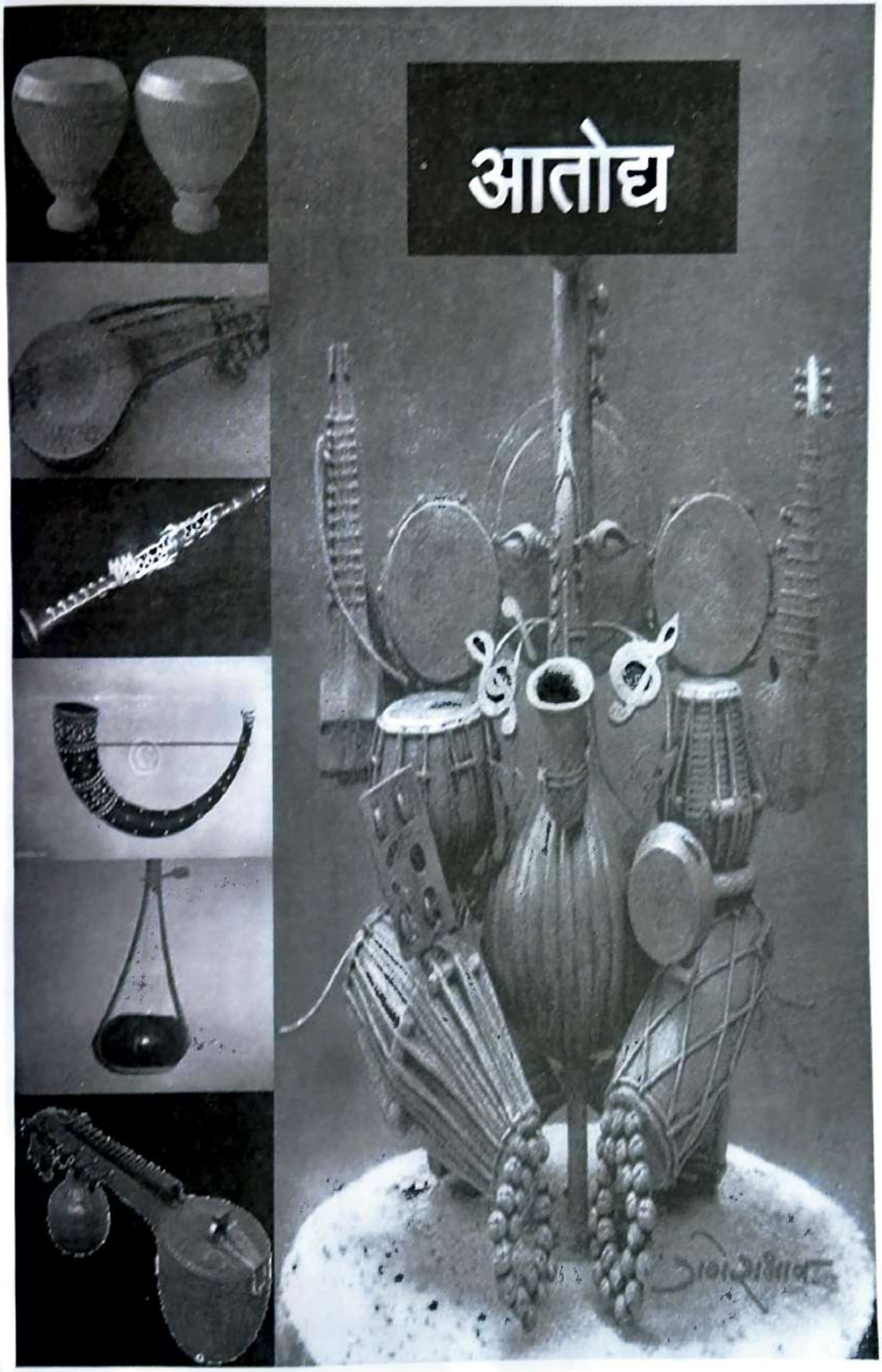
आतोद्य

घन-वाद्यों का ऐतिहासिक विवेचन

डॉ. बोधिका

संगीत सेवी, इलाहाबाद

वाद्यों की उत्पत्ति का प्रारम्भ घन वाघों से माना जाता है। इसका एक महत्वपूर्ण आधार यह है कि वाघों की उत्पत्ति प्राकृतिक अवयवों के रूप में हुई मानी जाती है, जिसमें चारों श्रेणी के वाद्यों का निर्माण अधिक स्वाभाविक और सरल है। मानव अपने जन्म के साथ ही अन्य प्राणियों से अलग था। इसीलिये अन्य प्राणियों से इतर उसे अने मनोभावों को उस काल में भी औरों से अलग अधिक कलात्मक रूप से प्रस्तुत किया, जहां मन के अतंगित भावों के हाथ-पैर के एक नियंत्रित और नियमित भावों द्वारा व्यक्ति किया, जसके साथ संगत हेतु लय के लिये एक ऐसे वाद्य की आवश्यकता हुई जो ध्वनि के साथ लय प्रस्तुत करे जिससे नृत्य करने और देखने वाले को उससे निर्मित आन्नद की प्राप्ति हो सके। कई विद्वानों का मानना है कि मनुष्य ने लय निर्धारण के लिये सबसे पहले ताली यानि 'सशब्द क्रिया' का प्रयोग किया जिसे प्रथम लय-वाद्य के रूप माना जा सकता है, जो आज भी दक्षिण-भारत-संगीत एवं लोक-संगीत में अपना महत्व प्रस्तुत करते हुए इन विचारों को प्रमाणित करता है। संभवतः तभी आदिवासी गीत-संगीत एवं लोक-संगीत में भी हाथ की ताली को एक वाद्य के रूप में प्रयोग किया जाता है।

घन वाद्यों के अस्तित्व में आने से पूर्व गायक कलाकारों ने अपने शरीर के विभिन्न अंगों पर आघात द्वारा लय स्थापित कर गायन का अभ्यास किया होगा। बाद मे, इसी आधार पर, किसी वस्तु में कंकड़ आदि भरकर या दो वस्तुओं को टकरा कर घन वाद्यों की उत्पति हुई होगी। प्रारम्भ में घन वाद्यों का प्रयोग नृत्य के साथ लय रखने के उद्देश्य से हुआ होगा जैसा कि एस. कुण्णा स्वामी का विचार है-

"The basic impluse of rhythem in him led him tj standardise the various emotional expression. He was familier with and to create and design rhythemic instuments."[1]

मानव के प्रागैतिहासिक काल के घन वाद्यों का इतिहास प्रारम्भ होता है। हालस्टेट काल से लेटिन काल तक के जो लयवाद्य प्राप्त हुए हैं, उनमें नर मुण्डों के झुनझुने एवं हाियों द्वारा बने अन्य वाद्य शामिल हैं। इतिहास-पूर्व काल के वाद्य लय-वाद्य ही थे, ऐसा प्रमाणों से सिद्ध होता है। इसके बाद मनुश्य ने मिट्टी लकड़ी तथा धातु निर्मित ताल वाद्यों का उपयोग करना प्रारम्भ किया होगा, जिसमें झुनझुने, घर्षक, स्टेपर्स, टाल (CLAPPERS) आदि द्वारा आनन्द प्राप्ति के लिये लय धारण अथवा संगीत में लय धारण के लिये उपयोग करना प्रारम्भ किया होगा।[2] प्राचीन काल से ही भारतीय संगीत में घन वाद्यों का प्रयोग कालमान स्पष्ट करने और ताल संबंधी 'प्रमाद निवृति' (अर्थात् ताल से विमुख

न होने) के लिये किया जात रहा है जो निम्न श्लोक से अधिक स्पष्ट होता है-

गान्धर्वमार्ग कुशलः कांस्यतालधरीऽपरः।
गातुः सहायः कर्तव्यः प्रमादविनिवृत्तये।।[3]

प्रस्तुत श्लोक से लय धारण के लिये घन वाद्यों की उपयोगिता स्पष्ट परिलक्षित होती है। भारतीय संस्कृति के समृद्ध अतीत का प्रथम दस्तावेज़ हमें सिन्धु सभ्यता से प्राप्त हाता हैं ये हिन्दू यूरोपीय तथा वैदिक सभ्यता को जोड़ने वाली मूलतः भारतीय सभ्यता है, जो चतुर्दिक विस्तार का स्पष्ट संकेत देती है। 'मोहनजोदड़ों और 'हड़प्पा' की खुदाई के बाद से सिंधु सभ्यता/संस्कृति सामने आयी, जहां कई अन्य सामग्री के साथ ही संगीत के कई वाद्य-यंत्र मूर्तियों के रूप मिले हैं जहां झांझ और करताल के समान वाद्य भी उपलब्ध हुए।[4]

वैदिक साहित्य में 'आघाटि' नामक वाद्य का उल्लेख प्राप्त होता है, जो मजीरे का ही प्राचीन रूप था।[5] वैदिक काल में वीणाओं आदि के साथ ताल धारण के लिये घन वाद्यों का प्रयोग होता था इससे ये प्रतीत होता है कि लोक में नृत्य आदि के साथ अवश्य ही लय के लिये झुनझुने, मजीरे आदि का प्रयोग होता होगा। रामायण में दशरथ पुत्रों के जन्मोत्सव, विकास तथा बनवास के पश्चात् राम के पुनः अयोध्या आगमन जैसे अवसरों पर विभिन्न प्रकार के वाद्यों के साथ गीतों की मनोरम ध्वनियां तथा नृतय के साथ घुघरूओं की झंकार सुनाई पड़ती है। नृत्य का प्रयोग वैदिक काल से ही यज्ञादि अवसरों पर होता था परन्तु घुंघरू का प्रयोग सबसे पहले 'रामायण' से ही मिलता है। जिसे प्राचीन संगीत शास्त्रीय ग्रंथों में 'क्षुभघंआ' अथवा 'क्षुभघंटिका' कहा गया है।[6] ये ऐसा घनवाद्य है जिसका प्रचलन प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक है। आज भी इसे नृत्य में नर्तक द्वारा पैरा में बांधा जाता है। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग लोक-नृत्य एवं लोग-गीत में गायक के साथ चंचलता-चपलता लाने के लिये या फिर आम जन-जीवन में ये पालतू जानवरों के गले में बांधने के काम आता है। महाभारत काल में भी जन-जीवन में धर्म का गहरा प्रभाव था।

जहां संगीत मनोरंजन के साथ ही ईष्वर आराधना के लिये प्रयुक्त होता था, जिसमें नर-नारी भजन, कीर्तन, नृत्य आदि द्वारा देवी देवताओं के पूजन के लिये संगीत को माध्यम मानते थे। लोक में सदा ही घन वाद्यों को अधिक उपयोगी माना जाता रहा है और भजन, कीर्तन में तो ये सर्व-उपयुक्त वाद्य हैं, जिनके द्वारा भक्ति रस का पूर्ण संचार होता है और वातावरण में एक आत्मिक शान्ति का वातावरण तैयार करने का श्रेय, आज भी घन वाद्यों को ही दिया जाता है। अजन्ता के भित्ति चित्रों में बौद्ध कालीन नृत्य-वादन की झांकी मिलती है, जिसमें तीन स्त्रियों द्वारा कांस्य ताल के साथ गान करते हुए प्रदर्शित किया है। इसके साथ ही बौद्ध काल के अन्य घन वाद्यों में घण्टा, झल्लरी का विशेष महत्व था। भरत के नाट्यशास्त्र में ताल-वाद्यों का समावेश घन वाद्यों को सम्मिलित किया है। भरत ने ये स्पष्ट किया है कि प्राचीन गीतों के साथ हाथ से ताल देने की प्रणाली प्रचलित थी तत्पश्चात् गुप्त काल में भी अनेक लोकोत्सव के अवसरों पर होने वाले नृतय गीत में अन्य वाद्यों के साथ ही 'झल्लरी' वाद्य का संदर्भ मिलता है, जिससे लोकोत्सवों एवं जन-जीवन में इन वाद्यों की उपयोगिता सिद्ध होती है।

शारंग देव ने 'ताल' नामक घन वाद्य को सर्वप्रमुख ताल-वाद्य माना हैं प्रारम्भिक समय में गायक, वादक तथा नर्तक लय प्रदर्शन के लिये हाथ से ताल देकर लय प्रदर्शित करते थे परन्तु वीणा वादक के लिये ये संभव नहीं था अतएव इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु धातु निर्मित 'ताल'

नामक वाद्य का प्रयोग किया जाने लगा। संगीत रत्नाकर के अनुसार इस काय्र के लिये सर्वाधिक प्रयुक्त होने वाला वाद्य, जो ताल का धारण करने वाला वाद्य था, 'ताल' कहलाया।[7]

वास्तव में वैदिक कालीन 'आधाटि' को ही बाद में 'ताल' या 'मंजीरा' या 'कांस्य ताल' कहा गया ये सब 'मंजीरे' या 'झांझ' के ही विभिन्न रूप हैं जो समय और आवश्यकता के अनुसार छोटे-बड़े विभिन्न आकारों और धाताओं में पाये जाते हैं। 'ताल'के बाद प्रमुख वाद्य 'कांस्य ताल' का विशेष महत्व था। इसका संदर्भ हमें नाट्य-शास्त्र, संगीत परिजात के अतिरिक्त प्राचीन मध्य युगीन सभी ग्रंथों में मिलता है। इसे झांझ भी कहते है।

घंटा भी एक प्राचीन महत्वपूर्ण घन वाद्य है। वर्तमान समय में मंदिरों में जो विभिन्न आकार के घण्टे टंगे रहे हैं, उन्हीं को संगीत सार, संगीत परिजात आदि ग्रंथों में 'कल्पतरू' कहा गया है। 'कल्पतरू' घण्टे से काफी बड़ा और अधिक भारी भी होता था, इस कारण वादन में असुविधाजनक था। इसलिये बाद में इसका आकार छोटा कर दिया गया और इसे 'घण्टा' कहा जाने लगा। विजय अथवा युद्ध के अवसर पर बजाया जाने वाला वाद्य 'जय घण्टा' कहताला था। यह कांसे या बना समतल, चिकना तथा गोल होता था जिसकी मोटाई आधे अंगुल के बराबर होती थी। इसके वृत्त में किनारे एक छेट में डोरी डालकर दाहिने हाथ से पकड़कर बांधे हाथ से किसी ठोस वस्तु से बजाया जाता था। संगीत सार के अनुसार मध्यकाल में 'जय घंटा' को 'झालर' कहा जाने लगा जो वर्तमान समय के घड़ियाल के समान था। 'क्रमा' नामक घन वाद्य का उल्लेख मानसोल्लास तथा संगीत रतनाकर आदि ग्रंथों में मिलता है। संगीत रत्नाकर में वर्णित 'क्रमा' लकड़ी का होता था जो वर्तमान समय में बंगाल में प्रयुक्त होने वाले 'करताल' के समान था परन्तु बंगाल में ये लोहे का बनता है। और यह काफी प्रचलित वाद्य है।[8]

इस प्रकार, प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक घन वाद्यों की निर्माण-सामग्री में नर-मुण्ड, हड्डी, मिट्टी, लकड़ी, कांसा, पीतल आदि धातुओं का प्रयोग होता रहा है। वर्तमान में अधिकतर घन वाद्य धातुओं के या कुछ लकड़ी के बनते हैं। आधुनिक काल में घन वाद्यों का प्रयोग मात्र लोक-संगीत में रह गया है। आज इस घन वाद्यों की पहचान मात्र लोक-वाद्यों के रूप में रह गयी है। प्रारम्भ में जब अवनद्ध वाद्यों का विकास नहीं हुआ था तो इसे लय धारण के लिये उपयोग किया जाता था। फिर धीरे-धीरे अवनद्ध वाद्य को वादन विधि के साथ विभिन्न स्वरों में मिलाने की सुविधा के कारण घन वाद्यों का चलन (जो प्राचीन काल में शास्त्रीय संगीत के लय धारण में प्रयुक्त होता था) मध्यकाल में आते-आते कम होने लगा और वर्तन में तो ये शास्त्रीय संगीत से पूर्णतः ग़ायब हो चुका हैं आज मात्र घुंघरू के अतिरिक्त कोई वाद्य शास्त्रीय संगीत का हिस्सा नहीं रह गया हैं मध्यकाल में निर्मित माना जाता है, जिसे संगीत परिजात आदि ग्रंथों में घन श्रेणी के अन्तर्गत माना गया है, के आधार पर बाद में काष्ठ-तरंग, मृदंग-तरंग, तबला-तरंग आदि के रूप में वाद्यों की एक नयी शैली का विकास हुआ, जो किसी भी तरह घन की श्रेणी में नहीं आ सकते थे या हैं। इसी लिये बाद में कई विद्वानों ने जल-तरंग को घन श्रेणी का वाद्य नहीं माना है। इस वाद्य की श्रेणी पर आज भी विवाद स्थापित है।

इस प्रकार हम यह कह सकते है। कि भले ही आज शास्त्रीय-संगीत से घन वाद्यों का लोप हो चुका हो परन्तु हमारे प्राचीन ग्रंथों एवं मानव उत्पत्ति के संदर्भों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट होती है कि घन श्रेणी के वाद्य ही वह प्रथम वाद्य रहे होंगे जिसका उपयोग मानव के सांगीतिक ज्ञान

के साथ ही उपजा होगा जैसे नृत्य आदि के साथ लय धारण करने के लिए इनका उपयोग हुआ होगा। तब से लेकर आज तक ये वाद्य सामान्य-जन के बीच वैसे ही प्रसिद्ध है जैसे प्रागैतिहासिक काल में थे। वास्तव में यह वाद्य निश्चित स्वरों नहीं मिलते हैं जो एक बड़ा कारण है किसी के द्वारा प्रयोग किये जाने का, इसक लिऐ न किसी विशेष कौशल की आवश्यकता होती है औन किसी अभ्यास की। प्रयोग के लिए मात्र गायक या वादक के साथ लय को साधने की आवश्यकता होती है क्योंकि न यहाँ कलाकार अधिक आड़ी-तिरछी लय का काम करते हैं और न सुनने वालों की यह अपेक्षा ही होती हैं घन-वाद्यों की मूल प्रवृत्ति में चंचलता एवं चपलता रही है जिसके कारण यह लोक-संगीत से दूर होते गये और आज भी यह लोग-संगीत में उतने प्रासंगिक हैं।

सभी लोक कलाएँ, लोग परम्पराओं में ही जीती हैं, शास्त्रीयता में नहीं। इनकी जड़े गहरी हैं, थाह पाना आसान नहीं, शायद इतिहास की परतों से भी नीचे, अजन्ता, एलोरा, कुषाण काल और गुप्त काल से भी पहले।

लोक कलाएँ अपनी विकास यात्रा में, विभिन्न स्वरूपों में होकर गुजरी हैं तब जा करके इन कलाओं ने एक परम्परा का रूद ग्रहण किया। तमाम युद्ध मार-काट और सत्ता परिवर्तनों में भी इन कलाओं का भाव, निर्माण, सृजन, मनोरंजन और उपयोगी बना हुआ है।

लोक कलाएँ तहजीवयाफ्ता बनाने के साथ-साथ एक शऊर पैदा करती है, जिन्दगी को सलीके और कलात्मक ढंग से जीने और

4- मध्यमा

5- बैखरी आदि।

निःशब्द शेष सभी अवस्थाओं का आधारजनक है। संगीत में जिसको अनाहत नाद कहते हैं, वह परा अवस्था है एवं पश्यन्ति भी इसके निकट की अवस्था है जिसका सम्बन्ध ज्ञान से है इन्द्रियों से नहीं गहन साधना की विशेष अवस्था में नाद के इस रूप का अनुभव मात्र किया जा सकता है। मध्यमा ध्वनि अथवा शब्द ही वह अवस्था है जो पूर्णतया हृदय अथवा मन में अनुभव होने के योग्य होती है। मध्यमा अवस्था अत्यन्त ध्यान एवं साधना के फलस्वरूप श्रवणगोचर होती है संगीत के सम्बन्ध में इसको सूक्ष्म नाद अवस्था कहते हैं। विद्वानों ने बैखरी का स्थान कण्ठ बताया है। कण्ठ ही भाषा अथवा संगीत की अभिव्यक्ति का मुख्य स्त्रोत है। यहीं से मध्यमा का श्रवण रूप पर-श्रवण रूप की स्थिति में पहुंचता है। कण्ठ जो कि नाद के मधुरतम स्वरूप संगीत की अभिव्यक्ति का स्त्रोत है उसी कण्ठ से मुखतारित साधारण आवाज से लेकर मधुर हृदयस्पर्शी संगीतमय आवाज बनाने में सधी उचित कण्ठ साधना तथा स्वरों का कठिन नियमित रियाज़ का मूल मन्त्र निहित है जिसके आभाव में कर्णप्रिय संगीत की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

कण्ठ की कठिन सटीक साधना और स्वरों के नियमित अभ्यास ही किसी भी कलाकार की प्रस्तुती में निहित रस और आनन्द की की अभिव्यक्ति को सार्थकता प्रदान करता है। इसकी उपयोगिता और महत्व को बताते हुए तानसेन ने कहा है कि-प्रथम सुर साधे, फिर बैठे गुनिन में रस की करे पुकार[1]। संगीत प्रदर्श कला है जिसे वैदिक काल से ही गुरूमुखी विद्या के रूप में ग्रहण करने की परम्परा रही है जहां शिष्य गुरू की सेवा के फलस्वरूप गुरू द्वारा संगीत रूपी मीठे फल की प्राप्ति करता है। परन्तु संगीत शिक्षण की इस अवधि के दौरान स्वरों का नियमित और स्थिर अभ्यास तथा उसी के अनुरूप कठोर कण्ठ साधना सबसे आवश्यक और महत्वपूर्ण क्रिया कलाप होते है जिसका प्रमाण

वैदिक कालीन परम्परा से लेकर घराना परम्परा में मिलता है।आधुनिक समय में विज्ञान ने संगीत के रियाज़ अथवा अभ्यास को नवीन आयाम प्रदान किये हैं जिसने संगीत को सर्वसुलभ तो बनाया है परन्तु कहीं न कहीं कलाकारों को कठोर कण्ठ साधना के रियाज़ से दूर भी किया है।

रियाज़ स्वरों के नियमित अभ्यास को दर्शाता है तो कण्ठ साधना आवाज के अनुरूप संगीत साधने को दर्शाता है। अर्थात् हम कह सकते हैं कि सधे हुये कण्ठ से ही संगीत उपयोगी स्वर का रियाज़ किया जा सकता हैं देखा जाय तो कण्ठ साधना और रियाज़ संगीत रूपी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

मानव शरीर को **'गात्र वीणा'** या शारीरी वीणा कहा गया है जब शरीर से कोई ध्वनि निकलती है तो इसकी प्रक्रिया वही होती है जो वाद्य के द्वारा सम्पन्न होती है।

कण्ठ संस्कार या साधना को अंग्रेजी में वॉयस कल्चर **(Voice Culture)** कहते है। इसे परिभाषित करने के लिए कहा गया है- **"Properly Trained voice which is useful for music".** अर्थात् संगीतपयोगी परिष्कृत आवाज। मनुष्य की आवाज कैसी भी हो उचित साधना और संयम के द्वारा उसे सुरीला और आकर्षक बनाया जा सकता है।[4] वैदिक काल में छोटे बच्चों को जब वेद पाठ की शिक्षा दी जाती थी तो उसी के माध्यम से उसका कण्ठ स्वतः संस्कारिकर्त हो जाता था।

उदात्त (ऊँचा), अनुदात्त (नीचा) और स्वरित (सम) स्वरों के प्रयोग द्वारा उच्चारित किये जाने वाले मंत्र तभी सार्थक होते थे जब उन्हें निश्चित ध्वनियों पर निश्चित परिमाण में और निश्चित वलय घातों द्वारा प्रयुक्त किया जाय इसलिये कण्ठ संस्कार का कोई अलग शास्त्र विकसित करने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। परन्तु संगीत में कण्ठ साधना के अभ्यास का प्रचलन वैदिक कालीन गुरू शिष्य परम्परा से घरानों की परम्परा तक दृष्टिगत होता है।

भारत के विभिन्न घरानों अलग-अलग ढंग से स्वर विकास की परम्पराये विकसित हुई। जैसे-किराना घराना में आवाज की मिठास कायम रखने के लिये खुली आवाज लगाने की अपेक्षा कृत्रिम आवाज लगाने पर अधिक जोर दिया गया, जयपुर घराने में लयकारी की प्रधानता के कारण विभिन्न लय कि पलटों का अभ्यास कराया जाता था उसी से आवाज में खासियत पैदा की जाती रही है।

आगरा घराने में ध्रुपद धमार का प्रचार अधिक होने से दमदार आवाज के लिये नोम-तोम और लम्बी सांस पर विशेष ध्यान देते है। ग्वालियर घराने में षड्ज साधना और गायिकी में प्रयुक्त आलापचारी, बंदिशों एवं तानों की प्रकृति के अनुसार कण्ठ साधन की आधुनिक तकनीकी का इस्तेमाल किया जाता रहा है कुछ अन्य घरानों में अपने-अपने ढंग से लोक प्रचलित स्वर लगाओं और स्वर साधना को अपनाया।

इसलिये ओंकार नाथ ठाकुर, बड़े गुलाम अली खाँ, फयूयाज़ खाँ, कुमार गंधर्व, भीमसेन जोशी, किशोरी अमोनकर इत्यादि सभी गायकों के कण्ठ स्वर में अलग-अलग विशेषतायें दिखाई देती है और उनका प्रभाव भी अलग ढंग से पड़ता है। एक प्रकार से जितने घराने बने उतनी ही कण्ठ संस्कार से सम्बन्धित पद्धतियां विकसित हुई।

परन्तु इतना निश्चित है कि भारतीय कण्ठ संस्कार का मूल ओमकार की ध्वनि में निहित है जो भारतीय सीयता और संस्कृति का प्राण है। यह ओंमकार साधना ही भारतीय 'षड्ज या खरज साधना' कहलाती हैं जिस पर सभी एक मत हैं।[5]

कण्ठ साधना ही रियाज़ का उत्तम और सार्थक माध्यम है जिसमें मधुर संगीत की अवधारणा निहित है कण्ठ साधना के इस महत्व को बताते हुये पं. ओंकार नाथ ठाकुर जी कहते है- ''कण्ठ वह वर्तन है जिसे नित्य साफ करने से अधिक चमक आती है। कण्ठ वह बर्तन है जिसे नित्य साफ करने से अधिक चमक आती है। ''कण्ठ साधना के महत्व को ही बताते हुए पं. शांरगदेव कहते हैं- जब आत्मा बोलने की इच्छा प्रगट करती है तो वह मन को प्रेरित करती है मन शारीरिक अग्नि को संकेत करता है तथा शारीरिक अग्नि प्राण को स्पर्श करती है प्राण नाभि, कण्ठ, मुख, हृदय और मस्तिष्क आदि स्थानों को तथा स्वर तंत्रियों को स्पर्श करता है। तंत्रियां कांपती है और कम्पन द्वारा ध्वनि उत्पन्न करती है आवाज में आन्दोलन तथा कम्पन तो अवश्य होते है क्योंकि वे ध्वनि के जन्मदाता है।'' परन्तु आवाज में आन्दोलन और कम्पन आवाज में अवगुण भी पैदा करते हैं तथा स्वरों को इन्हीं अवगुणों को दूर करने के लिये कण्ठ साधना आवश्यक है।"

अतः निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि संगीत उपयोगी कर्णप्रिय ध्वनि और आवाज के प्रस्फुटन, पल्लवन एवं प्रसारण में कण्ठ साधना के कठिन सटीक एवं नियमित रियाज़ का महत्वपूर्ण योगदान है।

संदर्भग्रन्थ - सूची

1. सौन्दर्य रस एवं संगीत -डॉ. स्वतन्त्र शर्मा, पेज-24
2. रेडियो और संगीत -डॉ. अशोक कुमार 'यमन', पेज-XXI
3. आधुनिक व्यावसायिक हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायनः परम्परा व लक्षण - जीतराम शर्मा, पेज-15
4. संगीत विशारद -बसन्त, पेज-600
5. संगीत विशारद -बसन्त, पेज-602
6. आधुनिक व्यावसायिक हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायनः परम्परा व लक्षण -जीतराम शर्मा, पेज-52

स्वतन्त्र रूप से तन्त्री वादन की परम्परा

डॉ. कीर्ति शर्मा

संगीत सेवी, इलाहाबाद

शास्त्रीय संगीत सदैव से ही भारत देश की गरिमा का श्रोत रहा है संगीत के तीन अंग माने गये गायन, वादन और नृत्य। संगीत रत्नाकर में भी कहा गया है।

गायन, वादन, नृत्य, त्रयं संगीत्मुच्यते।

-संगीत रत्नाकर

अर्थात् तीनों ही कलाये एक देसरे की पूरक है। प्राचीन काल से गायन का संगीत में प्रथम स्थान माना जाता रहा है तत्पश्चात वादन एवं नृत्य।

वाद्य यंत्रों का प्रयोग हमेशा से ही संगत के लिए किया जाता आ रहा था।, चाहे वो गायन हो या नृत्य। वाद्यों का प्रयोग सदैव से संगत वाद्यों के रूप में किया जाता है। धीरे-धीरे वाद्यों की लोक प्रियता शास्त्रीय जगत में बढ़ती गयी और कलाकरों के रियाज और लगन से वाद्यों ने भी स्वतन्त्र वादन शैली का रूप धारणकर लिया।

वातावरण के बदलते स्वरूप के साथ संगीत में भी परिवर्तन और सृजन शीलता की आवश्यकता थी, पहले सहायक तंत्री वाद्य यंत्रों के रूप में वीणा, तानपुरा और इसराज जैसे तंत्री वाद्यों का बोल बाला था, लेकिन परतंत्रता के अधीन ये वाद्य भी न रह सकें, और तंत्री वाद्यों ने भी शास्त्रीय संगीत अपने स्वतन्त्र वादन का परचम लहराया।

उत्तर मध्यकाल तक तार के वाद्यों की वादन सामग्री वही थी जो कंठ (गायन) संगीत की थी। ऐतिहासिक विधि में सितार वादन का प्रारम्भिक रूप भी गायन के साथ संगत करना था, अतः इसके रियाज की आवश्यकता पर जोर नहीं दिया गया। दो सौ वर्ष से, अर्थात् जब से रागों के अन्तर्गत गत् वादन शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

तन्त्रों वाद्यों की वादन शैलियों के विकास पर दृष्टिपात करने से पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि घराना एवं ऐतिहासिक क्रम में तन्त्रीं वाद्यों की वादन शैलियों का अधययन तभी सम्भव है जब दोनों का मिश्रण किया जाय। परन्तु यह मिश्रण ऐसा नहीं होना चाहिए कि इतिहास का कालक्रम "घरानों" पर इस प्रकार अधिकार जमा लें कि घरानों की वादन शैलियाँ दब जायें और इतिहास के कालक्रम में उलझ जायें। घराने दारी के क्रम में हम वादन शैलियों का अध्ययन या मूलयांकन करें, इसे पूर्व आवश्यक है कि हम संक्षिप्त रूप से जान लें कि आधुनिक संगीत जगत में घरानों का क्या स्थान है - किसी भी घराने के एक या दो गायक या वादक ही उस घराने की संगीत शैली का निर्माण करते है फिर उसे अपने अभ्यास से खूब निखारते है और उसमें एक ऐसी विशेषता को जन्म देते है जो दूसरे संगीतज्ञ में नहीं होती है। अपनी इसी शैली के वे संरक्षक और मार्ग दर्शक बन जाते हैं। वे अपनी शैली की शिक्षा यानी तालीम देनें की नींव भी डालते हैं और स्वयं उसका क्रियात्मक रूप से प्रचार भी करते है। अपने वादन की विशिष्ट शैली के कारण उनके परिवार का शिष्य अपने वादन से उसकी व्याख्या करता है यह व्याख्या तभी सम्भव होती है। जब शिष्य अपने गुरू के कला की अक्षरशः नकल करके उसमें और मिठास भरते है, वे ही सफल शिष्य या घराने के सफल व्याख्या

समझे जाते हैं। जो असाधारण प्रतिभा वाले शिष्य होते है वे अपने उस्ताद की मौलिकता को प्रदर्शित करते हुए उसकी आत्मा की झलक दिखाते है। किसी भी घराने का भविष्य ऐसे ही शिष्यों पर अवलम्बित रहता है और वे ही उसे जीवित रखकर उसके कर्णधार बनते हैं। प्रत्येक घराने की वादन शैली, मींड लगाने, गमक का उपयोग तानों की बनावट और उसकी लयकारी, गत की बन्दिश, आलापचारी आदि अलग ढंग की होती है यह अलग ढंग या तरीका ही घराने की नींव डालता है, उसकी पहचान बनाता है।

कोई भी घराना क्यों न हों, वह अपने शैलीगत बाज से ही जाना जाता हैं प्रत्येक घराने का विकास कुछ समय बाद होता है। कुछ प्रतिभाशली संगीतज्ञ ही घराने की नींव डालते है। प्रत्येक शैली की प्रतिष्ठा उसके सुव्यवस्थित और परिमार्जित रूप में ही होती है, जिसकी अपनी कुछ विशेषताएँ होती है। प्रत्येक शैली अपनी तकनीक का स्वयं निर्माण करती है। आज गायन में अनेक घराने हैं, परन्तु तन्त्रीं वाद्यों में घरानों की संख्या सीमित है अैर वह भी समय की मांग या विवशता के कारण टूट रही है। आज एक अच्छा वादक उन सब शैलियों का गुण अपने वादन में भरने का प्रयास करता है, जिससे श्रोता आनन्दित हों और उसके वादन की प्रशंसा करें। इस दृष्टि से घराने या शैलियों की परम्परा टूटती जा रही है। सृष्टि के सृजन वर्तमान तक परम्पराओं का टूटना और बनना चला आ रहा है। हर परम्परा के टूटने के बाद एक नयी परम्परा का आगाज़ हुआ है। जहाँ तक तन्त्रीं वाद्यों की वादन शैलियों के अध्ययन के लिए घराने दारी की बात है, वहाँ एक बड़ा प्रश्न चिन्ह लगता है। तन्त्रीं वाद्यों में सितार के घराने सही दृष्टि से अभी तक भी विकसित नहीं हुए हैं। सितार की वादन शैली या बाज आज भी दो ही है, यथा-मसीखनी। और रज़ाखानी। इन दोनों शैलियों को आज के सभी सितार वादक बजाते हैं, अतः घराने दारी के क्रम में भी इनका अध्ययन या मूलयांकन कैसे सम्भव हो सकता है।

घरानेदारी के क्रम में तन्त्री वाद्यों की वादन शैलियों के अध्ययन को एक निष्कर्ष दना, वादन शैलियों और उनके वादकों के प्रति अन्याय होगा। किसी वादक के कहने के आधार पर हम उसे अमुक घराने दार मानकर यदि घरानेदारी के क्रम का निर्माण करे तो सितार के इतिहास के प्रति अन्याय होगा।

प्राचीन काल में 'तत् वाद्यो' की वादन सामग्री प्रायः वही होती थी जिसका प्रयोग गायन में होता था। वीणा वादन का प्रयोग गायन की संगति निमित ही था। यह स्थिति 18 वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में वाद्यों की 'गत' नामक शैली का अविष्कार हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप कुछ वाद्यों को गाने के प्रभाव से पूर्णतया मुक्ति प्राप्त हो गई। 'गत' की बन्दिश यद्यपि मूलरूप में गायन शैलियों से ही प्रभावित थी। तन्त्र वाद्यों के लिए गत शैली का निर्माण सैनी घराने के उस्तादों की देन है। वास्तव में सितार को गान से पृथक ले जाकर उसे केवल तन्त्र वाद्य के रूप में प्रयोग करने की प्रथा सेनी घराने से ही शुरू हुई है। सितार में प्रयुक्त होने वाली गतों के निर्माणकर्ताओं में निहाल सेन के सुपुत्र अमीर खाँ जिनके नाम पर **'अमीर खानी गत'** तथा मसीत खाँ, जिनके नाम पर **'मसीत खानी गत'** प्रचार में आई इनके शिष्य बरकतुल्ला खाँ व सैनी घराने के शिष्य गुलाम रजा खाँ जिनके नाम से 'रज़ाखानी गत' चली, यही मख्य थे।

तन्त्रीं वाद्यों (सितार) की वादन शैलियों के विकास पर दृष्टिपात करने से पूर्व यह स्पष्ट कर दूँ कि सितार का जब अविष्कार हुआ था, तब उस स्वर को स्थिर रखने के लिए इसका (सितार वादन का) उपयोग 'रिक्त-स्थल-पूरक' के रूप में किया जता था। इस प्रकार सितार, गायक का उस पूर्णता से अनुसरण नहीं करता, जैसा कि सारंगी करती है।

तन्त्री वाद्यों (सितार) के सवतन्त्र वादन की ऐतिहासिकता में ही वादन शैलियों का विकास हुआ है। सितार के आविष्कार खुसरों-खाँ के पौत्र

तथा फिरोज खाँ 'अंदारंग' के पुत्र उस्ताद मसीत खाँ अपने वंशानुगत ज्ञान और प्रतिष्ठा के तब अधिकारी सिद्ध हो गये जब उन्होंने तीन तारों वाले सितार में बजने वाली **'गतों'** का निर्माण किया।

एक तरफ जब सितार की मसीतखनीबाज की शैली का विकास हो रहा था, जिसके विकास में अनेक वादकों ने योग दिया और मसीतखानी शैली के वादन का साज-सँवार अलवर-जयपुर आदि स्थानों पर हो रहा था, उसी काल में सितार वादन की दूसरी शैली भी लखनऊ, काशी और जौनपुर में पनपकर सम्पूर्णता की ओर बढ़ रही थीं इसी शैली के प्रवर्तक थे- उस्ताद गुलाम रज़ा खाँ। जौनपुर निवासी और सेनिया परम्परा के उस्ताद गुलाम रज़ा खाँ ने सितार की प्रारम्भिक शिक्षा उस्ताद मसीत खाँ से ही प्राप्त की थी। अपनी खोजपूर्ण दृष्टि और श्रम से आपने एक ऐसी वादन शैली को जन्म दिया, जिसकी चाल चंचल थी। इसमें चंचलता रहे, इसके लिए लय में भुत और मध्य गति की प्रधानता थी। इसके वादन में प्रयुक्त होने वाले बोलों में गीत के अनुसार दार, भि, भिदा दाभि बालों की प्रधानता दी। इस शैली के वादन में 'जोड़' वादन पर विशेष जोर दिया जाता था। यही शैली 'रज़ाखानी बाज' नामक शैली से संगीत जगत में विख्यात हुई, जिसे 'पूरब की शैली' के नाम से भी जाना जाता है।

उक्त दोनों शैलियों को आज 'विलम्बित गत' (मसीतखानी) और 'भुतगत' (रज़ाखानी) के नाम से भी जाना जाता है। रज़ाखानी बाज (शैली) के विकास के अध्ययन में एक बाज का ध्यान रखना आवश्यक है कि इस शैली के विकास में अनेक संगीतज्ञों का हाथ है, मगर किसी अन्य नाम से किसी अन्य शैली का प्रचार नहीं हुआ।

वादन शैली में उस्ताद इमदाद खाँ का भी नाम लिया जाता है कि उनके नाम से 'इमदाद खाँ शैली' का प्रचलन हुआ, परन्तु ऐसा आज देखने को नहीं मिलता है। यह ऐतिहासिक सत्य है कि उन्नीसवीं, सदी के अन्तिम चरण में उदित इमदादखाँ ने सितार-वादन में कुछ परिर्तन किये, जिससे उन्हें ख्याति मिली। खाँ साहब ने अपनी वादन शैली में दा और रा बोलों को अधिक महत्व दिया तथा दोहरे झाले के वादन को प्रचलन किया। 'गत' के विकास में जहाँ मसीतखाँ का महत्वपूर्ण योग है, वहीं 'तोड़ा' वादन का पूर्व विकास करने में इमदादखाँ और उनके ही समकालीन बरकतउल्लाखाँ का महत्वपूर्ण योग है।

इमदाद खाँ के पुत्र इनायत खाँ ने सितार पर आलाप बजाने पर विशेष ध्यान दिया तथा मसीतखानी और रज़ाखानी गतों के समय बजने वाली तानें भी प्रारम्भ। की, जिनमें स्वरों और बालों की निश्चित व्यवस्था रहती थी। सितार में 'तिहाई' प्रारम्भ करने का श्रेय भी इन्हें ही जाता है।

मुख्य रूप से मसीत खाँ और रज़ा खाँ द्वारा निर्मित शैली ही आज प्रचार में है, मगर वादन अपनी कल्पना के अनुसार उसके वादन में कुछ न कुछ जोड़ते गये। उस्ताद विलायतखाँ के दादा इमदादखाँ ने जहाँ दोहरे झाले को जोड़ा, वहीं सितार में तरबें जोड़ी और मींड, घसीट का भी समावेश किया। उन्होंने ठुमरी और गायकी अंग को अपने वादन में प्रमुखता दी। कुछ लोग इसे 'इमदादखानी बाज' भी कहने लगे।

वर्तमान काल में पं. रविशंकर ने अतिमन्भ का एक तार जोड़ दिया और बीणा का 'कृन्तन अंग' भी प्रविष्ट कर दिया। विलायतखाँ उस्ताद ने अपने वादन में गायकी (ख्याल) अंग और ठुमरी अंग का पूरी तरह प्रवेश करके, मधुरता पैदा की। सितार वादन में बीणा की तरह बायें हाथ की उँगजियों को कठिन प्रयोग करके सितार के वादन को सजाया तथा विभिन्न स्वरों पर भिन्न-भिन्न लयकारी में सजकर वह सम पर आने लगे।

रहीमसेन और अमृतसेन ने परदों की संख्या में परिवर्तन किया था। तुम्बे के आकार और स्थान में भी परिवर्तन किया था। बीनकारी के जोड़ तथा मींड को भी प्रयोग किया। इसी प्रकार अनेक लोगों ने अनेक परिवर्तन किये, मगर ऐतिहासिक दृष्टि से

सितार में ऐसा कोई परिवर्तन किया, जिसे एक शैली या बाज का नाम दिया जा सके। आज विलायत खाँ, रविशंकर आदि कलाकारों ने अपने-अपने वादन में कुछ-कुछ जोड़ा है। लेकिन उसे शैली की संज्ञा नहीं दी जा सकती, जबकि आज भी अनेक लोग रविशंकर, विलायतखाँ, आदि कलाकारों के नाम से शैली जोड़ देते हैं।

जैसे- ज़ाफरखानी बाज, रविशंकर शैली, विलायत खाँ आदि। परन्तु इन्हें ऐतिहासिक दृष्टि से शैली की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

उक्त ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि खुसरोखाँ ने सितार की अविष्कार किया। उसकी वादन-शैली को जन्म दिया। मसीत खाँ और रज़ा खाँ ने। रहीमसेन ने काफी कुछ जोड़कर शैली का भाष्य किया। अमृतसेन ने सितार के आचारशास्त्र पर कार्य करके उसे बढ़ाया। उस्ताद हलीमजाफरखाँ और बरकतउल्लाखाँ ने अपने वादन से शैली की विशद व्याख्या प्रस्तुत की; तथा ऐतिहासिक क्रम के अनुसार पं. रविशंकर, उस्ताद हलीम जाफर खाँ आदि ने देश-विदेश में सितार-वादन की शैली को जन-जन में प्रचारित कर उसे आज का बहुप्रचलित वाद्य बना दिया।

वर्तमान युग में सितार सरोद ऐसे तत् वाद्य हैं जिनमें कल्पना की उड़ान हेतु गुंजाइश है। सुमधुर स्वरों के अतिरिक्त इन वाद्यों में कण, मुरकी, खटका, कृन्तन घसीट, मींड तथा गमक के अनेक प्रकार की सुन्दरअभिव्यक्ति होती है। विभिन्न गतों का प्रयोग मध्यकालीन तथा आधुनिक सितार वादकों ने विभिन्न वादन शैलियों द्वारा किया है। इसी तरह वादन संगीत की घरानेदानर शैली 'बाज' कहलाई। बाज का शाब्दिक अर्थ बजाने का ढंग, वाउन शैली, बजाने की रीति से है। जो प्रतिष्ठा पुराने तंत्रकारी के बाज की थी और जिसका सम्बन्ध बीन, रबाब और सुर-सिंगार ऐसे वाद्यों से था। वीणा की प्रचीन परम्परागत शैली जो ध्रुवपद की प्राचीन शैली से सम्बन्धित थी, इस शुद्ध बाज का श्रोत अथवा उद्गम स्थान थी, आधुनिक सरोदवादन और सितार वादन की शैलियों में प्रतिक्रया का ही रूप धारण किया है और इन्होंने गले पर कोई विशेष रोकथाम नहीं लगाई है। लोकप्रिय और रूचिकर बाज में आज कल गायकी अंग, कला और मिज़राबदारी का चमत्कार समझा जाता है और श्रोतागण इस तरह के मिश्रित बाज का पूरा आनन्द लेते है।

जैसे भिन्न-भिन्न गायकियों का मिर्माण भिन्न-भिन्न गायकों ने किया उसी प्रकार किसी विशेष बाज का निर्माण कुड विशेष वादकों ने ही किया। आधुनिक युग में सितार के सबसे अधिक लोकप्रिय बाज का आविष्कार गौरीपुर कलकत्ता के सुप्रसिद्ध सितार वादक उस्ताद इनायत खाँ और दनके पिता इमदाद खाँ ने किया था। पिछले तीस वर्षों के उभरते हुए सितार वादकों ने चाहे वे किसी भी घराने के हों अधिकतर इसी बाज का अनुकरण किया।

हर अच्छा बजाना किसी बाज के अन्तर्गत नहीं आ सकता। बिना 'बाज' कि विशेषताओं को जाने हुए कोई भी प्रवीण वादक बाज विशेषज्ञ नहीं बन सकता और कुशल घरानेदार वादकों के समाज में उसको आदर नहीं मिल सकता। बाज के मामले में किसी वादक को मान्यता तभी मिलती है जब उसको उसका विशेष ज्ञान होता है। जो आवश्यकताएं गायकी पर लागू होती हैं, वही बाज पर भी लागू होती हैं। बाज विभिन्न घरानों में अपनी विशेषताओं से सुसज्जित होकर अनेक व अनगिनत प्रकार के हो जातहैं।

संदर्भग्रन्थ - सूची

1. सितार-वादन की शैलियाँ - रजनी भटनागर
2. उत्तरी भारत में संगीत शिक्षा - तृप्प कपूर
3. हिमाचल के प्रचलित संगीत वाद्य - नन्द लाल गर्ग
4. 'सितार' का वास्तविक प्रचन कार्ता 'अमीर खुसरों' या 'खुसरों खाँ फकीर' ?

बनारस घराने के तबले का उद्‌गम, विकास एवं वादन शैली की विशेषताएं

नवीन कुमार मिश्र

भातखण्डे संगीत संस्थान, सम विश्वविद्यालय, लखनऊ

भारत की सांस्कृतिक राजधानी बनारस शुरू से ही संगीत और संस्कृति का प्रधान केन्भ रहा है, इसलिए संगीत की समस्त विधाएं यहां पल्लवित और पुष्पित होती रही है, यद्यपि यहां के तबले का इतिहास सन् 1797 में जन्में पं. राम सहाय मिश्र के काल से ही आरम्भ होता है, किन्तु तबला वादन की परम्परा यहाँ काफी पहले से रही है। भले ही उस परम्परा को बहुत महत्व नहीं मिला। तबले का इतिहास इसका प्रमाण है कि पं. राम सहाय बचपन से ही अपने पिता पं. प्रकाश मिश्र और चाचा से तबला वादन की शिक्षा प्राप्त करते रहे, और उस्ताद मोदू खाँ से सीखने के पूर्व बाल्यावस्था में ही वह अपने मधुर तबला वादन से लोगों को आकृष्ट करने लगे थे। सांगीतिक इतिहास में इसका भी स्पष्ट उल्लेख है कि किशोरवयी राम सहाय का आकर्षक तबला वादन सुनकर ही उ. मोदू खाँ ने उन्हें शिक्षा देने की इच्छा स्वयं प्रकट की थी। क्योंकि तब तक उनके युवा पुत्र का निधन हो चुका था और मुस्लिम संगीत समाज में 'परकटे कबूतर' के नाम से उपहास के पात्र बने हुए थे। अतः उन्होंने किसी मुस्लिम को तबला वादन की शिक्षा न देने की प्रतिज्ञा की थी। यही कारण है कि उ. मोदू खाँ के शिष्यों में किसी अन्य कलाकार का नाम नहीं मिलता। इसलिए कुछ लोगों का यह आरोप सर्वथा गलत है कि चूँकि राम सहाय ने मोदू खाँ से सीखा था, अतः बनारस कोई प्रथम घराना नहीं हुआ। क्योंकि यहालखनऊ का ही तबला बजता है।गणेशी महाराज और महेशी महाराज दो व्यक्ति थे। इसके विषय में श्री सत्य नारायण वशिष्ठ ने अपनी बनारस घराने के प्रवर्तक के विषय में कुछ लोगों के अनुसार पं. राम सहाय न होकर कोई लखनऊ का ही तबला बजता है।

बनारस घराने के प्रवर्तक के विषय में कुछ लोगों के अनुसार पं. राम सहाय न होकर कोई पुस्तक तबले पर दिल्ली और पूरब के पृष्ठ 93 में उल्लेख किया है। परन्तु खेद है कि ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर निराधार आलेख किया गया है। क्योंकि न तो उनकी वंश परम्परा का कोई व्यक्ति आज विद्यमान है और न आज का कोई प्रतिष्ठित बनारस का विद्वान इस कथन को मानने को तैयार है। पं. राम सहाय का उल्लेख मोहम्मद करम इमाम ने अपनी पुस्तक में भी किया है। अतः निर्विवाद, रूप से बनारस घराने के प्रवर्तक राम सहाय जी ही थे। आज उन्हीं के वंश परम्परा के लोग इस घराने की प्रतिष्ठा बनाये हुये हैं। उल्लेखनीय है कि बनारस ही एक मात्र तबले का ऐसा घराना है जिसके सूत्रधार एक हिन्दू कलाकार थे।

डॉ. आबान-ए-मिस्त्री जी ने अपने पुस्तक में लिखा है कि पं. रामसहाय अपने बाल्यावस्था में

तबले के साथ ही नृत्य भी किया करते थे और उसकी आगे की शिक्षा को प्राप्त करने के लिए ही वे लखनऊ गये थे।लखनऊ में उन दिनों नवाब आसुफुद्दौला का शासन था और उसी समय में दिल्ली से तबले के उस्ताद मोदू खाँ तथा उनके छोटे भाई बख्शू खां लखनऊ आकर बस गये थे। पं. राम सहाय मोदू खां साहब के तबले से बहुत प्रभावित रहा करते थे और समय मिलने पर उनके सत्संग को लालायित रहा करते थे। शनैः-शनैः खाँ साहब भी इस युवक के मृदु स्वभाव एवं तबले के प्रति आकर्षण से उन्हें पुत्रवत् स्नेह देने लगे। उ. मोदू खां अब प्रौढ़ हो चले थे और उनके अनुज बख्शू खाँ का व्यवहार उनके साथ अच्छा नहीं था। दुर्भाग्य से उनके एक मात्र युवा एवं प्रतिभाशाली पुत्र की अकाल मृत्यु हो गयी। इस घटना से खाँ साहब टूट गये। ऐसे समय में युवा राम सहाय को एक आज्ञांकित शिष्य के रूप में पाकर निश्चित ही वे संतुष्ट हुए होंगे। फिर क्या था। राम सहाय की तालीम शुरू हो गयी। वे दिन रात रियाज में लगे रहे। गुरू अपने शिष्य की लगन, परिश्रम तथा एकाग्रता पर बहुत प्रसन्न थे। यह क्रम बारह वर्षों तक अनवरत चला। वे खाँ साहब के परिवार में एक सदस्य के रूप में रहकर ही सीखा करते थे। अतः उनको गुरू माता का भी उतना ही स्नेह मिला। कहते हैं कि मोदू खाँ की पत्नी पंजाब के किसी उस्ताद की पुत्री थी और उनको तबले का अच्छा ज्ञान था। इस प्रकार उस्ताद से लखनऊ की तालीम और उनकी पत्नी से पंजाब घराने की शिक्षा और तकनीक उन्हें मिलने लगी। इतिहास से भी प्रमाणित होता है कि राम सहाय जी अपने समय के एक श्रेष्ठ तबला वादक हुए और नवाब वाज़िद अली शाह के दरबार में उनके तबले की धूम मची थी। किवदन्ती है कि उन्होंने नवाब के दरबार में सात दिनों तक तबला वादन किया था और तत्कालीन सभी उस्तादों ने उनको श्रेष्ठ तबला वादन के रूप में मान्यता दी थी। कुछ लोग इस घटना का सम्बन्ध उ. बख्शू खां के पुत्र की सुन्नत के अवसर पर आयोजित जलसे से जोड़ते हैं। इस प्रकार की अनेक घटनायें सुनने को मिलती है। जिनमें नवाब वाज़िद अली शाह द्वारा सवा लाख रूपये नकद, कीमती जवाहरात तथा चार हाथी के उपहार की बातें भी सम्मिलित हैं किन्तु किसी का भी कोई प्रमाणिक आधार नहीं मिलता। निश्चित समय तो बताना कठिन है परन्तु अनुमान है कि राम सहाय जी अपने जीवन की उत्तरावस्था में स्थायी रूप से बनारस में रहने लगे होंगे। पंडित जी ने अपनी प्रतिभा से एक मौलिक वादन शैली का निर्माण किया, बहुत सी बंदिशें बनायी और तबला वादन को एक नवीन मोड़ दिया जिसमें उनका बाज एक पृथक घराने के रूप में स्वीकारा गया।

पं. राम सहाय सम्भवतः लखनऊ घराने के ही अनुयायी बनकर रह जाते, किन्तु नियति को कुछ और ही मंजूर था, और परिस्थितियों के आगे नतमस्तक पं. राम सहाय मिश्र को बनारस आकर बनारस घराने की नींव डालने के लिए विवश होना पड़ा। दरअसल कि अपनी बिरादरी के दबाव में आकर उ. मोदू खां ने पं. रामसहाय से गुरू दक्षिणा में यह वचन मांग लिया कि आज के बाद न तो लखनऊ, घराने का तबला कहीं बजायेंगे और न तो किसी को सिखायेंगे। वचनबद्ध रामसहाय जब लखनऊ, से बनारस पहुंचे तो उनका तबला वादन सुनने और सीखने के लिए लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी। लेकिन पं. राम सहाय उन्हें टालते रहे। आखिर यह सूचना धीरे-धीरे लखनऊ से बनारस तक पहुंच ही गयी कि पं. रामसहाय अपने उस्ताद को गुरू दक्षिणा में दिए वचन से बँधे हुए हैं और तब राम सहाय को एक अलग घराने के निर्माण का निर्णय लेना पड़ा। आखिर मोदू खाँ से सीखने के

पूवभी तो वह तबला बजाते थे। फिर दूसरे घराने के प्रतिष्ठित कलाकारों ने उनकी भुजा पुजी थी और अपने-अपने घराने के दुर्लभ बन्दिशें भेंट स्वरूप दी थी और सबसे बड़ी बात उनकी सृजनात्मक प्रतिभा थी। अतः पं. रामसहाय ने एक नवीन शैली का सृजन करते हुए बनारस घराने की नीव डाली। पं. राम सहाय के अद्‌भुत तबला वादन से प्रभावित, सम्मोहित एवं चमत्कृत यूँ तो लगभग पूरा बनारस ही उनसे सीखने को इच्छुक था। किन्तु उन्होंने काफी सोच.-समझकर पांच लोगों को अपना शिष्य बनाया। पंज प्यारे और पांच प्यादों के नाम से विख्यात इन पाँच कालजयी शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं:- मस्तराम पं. रामशरण जी मिश्र, पं. प्रताप महाराज, पं. बैजू जी, पं. भगत जी और पं. यदुनन्दन जी। इन पांच शिष्यों के अलावा उन्होंने अपने अनुज पं. जानकी सहाय का नृत्य छुड़ाकर उन्हें भी तबला वादन की उच्चस्तरीय शिक्षा दी। उन्होंने अपने अन्तिम दिनों में अपने अनुज पं. गौरी सहाय के पुत्र पं. भैरव सहाय को अपना अन्तिम शिष्य बनाया। पं. राम सहाय का निधन 46 वर्ष की अल्पायु में 1843 में हुआ। पं. परतप्पू मिश्र उर्फ प्रताप महाराज अत्यन्त प्रतापी कलाकार हुए।

इन्होंने मिर्जापुर स्थित काली खोह के मन्दिर में संगीत साधना करके माँ काली को प्रसन्न किया और उनसे सिद्धहस्त ताबलिक बनने का वरदान मांगा। प्रताप महाराज के विषय में जनश्रुति है कि संगीत समारोहों में इनका कार्यक्रम बिल्कुल अन्त में रखा जाता था। क्योंकि, इनके बाद किसी का भी कार्यक्रम प्रभाव नहीं छोड़ पाता था। इन्हें नेपाल नरेश का राज्याश्रय प्राप्त था। परतप्पू जी के पुत्र पं. जगन्नाथ मिश्र भी सूयोग्य ताबलिक थे, जिनकें दो पुत्र हुए शिवसुन्दर मिश्र और हरिसुन्दर मिश्र। हरिसुन्दर मिश्र अपने उपनाम बाचा मिश्र के नाम से विख्यात थे। बाचा मिश्र के पुत्र पं. सामता प्रसाद उर्फ गुदई महाराज अपने प्रपितामह की तरह ही तेजस्वी ताबलिक हुए। पं. सामता प्रसाद (19 जुलाई 1920-31 मई 1994) जिस समय छः वर्ष के थे, तभी 1926 में इनके पिता की मृत्यु हो गयी थी। अतः अपनी शेष शिक्षा इन्होंने अपने मौसेरे भाई, तबला के प्रकाण्ड विद्वान पं. विक्रमादितय मिश्र उर्फ खलीफा बिक्कू महाराज जी से प्राप्त की। इनके पांच पुत्रों में से प्रमुख पं. कुमार लाल मिश्र सहित इनके कई शिष्य भी इनकी परम्परा का विकास कर रहे हैं।

पं. बैजू जी की शिष्य परम्परा में उनके दोनों पुत्रों सूरज प्रसाद और शिव प्रसाद एवं पौत्र हरिदास, गणेशदास तथा पं. ननकू महाराज विख्यात ताबलिक हुए। पं. भगत जी तबले के कोशाध्यक्ष माने जाते थे। इनके प्रमुख शिष्यों में पं. भैरो प्रसाद, दीनू मिश्र, बूंदी मिश्र, श्याम मिश्र, राजा मियां तथा ढ़ाका के अता हुसैन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पं. भैरो प्रसाद के शिष्यों में पं. मौलवीराम मिश्र, नाधिंछिना के जादूगर पं. अनोखे लाल मिश्र और पं. महादेव मिश्र ने अच्छी ख्याति अर्जित की, पं. अनोखे लाल जी के शिष्यों में उनके पुत्रों पं. राम जी मिश्र और काशीनाथ मिश्र सहित महापुरूष मिश्र, पं. ईश्वर लाल मिश्र और प्रो. छोटे लाल मिश्र ने विश्वव्यापी ख्याति अर्जित की। भगत जी की परम्परा के अन्य कलाकारों में नागेश्वर मिश्र उर्फ पांचू महाराज, राम बहादुर केशवचन्भ बनर्जी, हिरेन्भ किशोर, राम चौधरी, राम कृष्ण चौधरी, विपिन राय, काशीनाथ मिश्र एवं शिवशंकर मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय है। बूंदी मिश्र के पुत्र दामोदार मिश्र एवं पौत्र श्याम मिश्र भी इसी परम्परा से सम्बद्ध हैं।

पं. जानकी सहाय के शिष्यों में पं. विश्वनाथ मिश्र और पं. गोकुल मिश्र ने विशेष ख्याति अर्जित की। विलक्षण प्रतिभा के धनी पं. गोकुल मिश्र ने अपने तबला वादन पर फिदा एक मुसिलम गायिका के प्रेमवश मुस्लिम धर्म स्वीकार कर अपना नाम गोकुल मियां रख लिया। इनके दोनों पुत्र यूसुफ और सन्नीउल्लाह भी योग्य ताबलिक हुए। सन्नीउल्लाह मियां के षिश्यों में वासुदेव प्रसाद (1905-1956) ने काफी नाम कमाया। इन्होने बाद में बीरू जी से भी सीखा। बीरू मिश्र के नाम से सुख्यात बीरू जी (1896-1934) वस्तुतः किन्नर परिवार से सम्बद्ध थे। इनके पिता का नाम भगवान प्रसाद था। बीरू जी ने विश्वनाथ जी से तबला वादन की शिक्षा प्राप्त की थी। गुणग्राही बीरू जी ने लखनऊ घराने के खलीफा उस्ताद आबिद हुसैन की एक गत से प्रभावित होकर उसी गत को सीखने के लिए उनकी शिष्यता स्वीकार ली थी। संगति रत्न की उपाधि से सम्मानित बीरू जी का अधिकांश समय नेपाल में राजकीय संगीतज्ञ के रूप में व्यतीत हुआ। इनके शिष्य वासुदेव प्रसाद के दो शिष्यों श्री लक्ष्मीनारायण सिंह उर्फ लच्छू महाराज तथा डॉ. केदारनाथ भौमिक ने भी अच्छी ख्याति अर्जित की।

पं. राम सहाय के अन्तिम शिष्य उनके भतीजे पं. भैरव सहाय धुरंधर ताबलिक हुए, तेजस्वी प्रकृति के पं. भैरव सहाय की संगति बेजोड़ होती थी। इनके पुत्र पं. बलदेव सहाय भी तबला जगत के महान आचार्य हुए। पं. बलदेव सहाय की शिष्य परम्परा में पं. बिक्कू महाराज पं. कण्ठे महाराज पं. हरिसुन्दर मिश्र उर्फ बाचा मिश्र, बेनी माधव जी व राम जी गंधर्व काफी विख्यात हुए। पं. बलदेव सहाय के चार पुत्र हुए- दूर्गा सहाय, देवी सहाय, लक्ष्मी सहाय व भगवती सहाय। ये चारों ही अच्छे ताबलिक थे, किन्तु इस परम्परा को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया नन्हू जी के नाम से प्रसिद्ध पं. दूर्गा सहाय ने। दूर्गा सहाय वाद में चेचक के प्रकोप से नेत्र ज्योति खो बैठने के कारण सूरदास नन्हूं जी के नाम से जाने गए। सूरदास नन्हूं जी निःसन्तान थे। इनके दो शिष्यों पं. श्यामलाल मिश्र उर्फ छम्मा महाराज एवं कृण कुमार गांगुली उर्फ नाटू बाबू प्रसिद्ध कलाकार हुए। छम्मा महाराज के शिष्यों में प्रो. लाल जी श्रीवास्तव और पं. जगदीश मोहन गुणी तबलिक हुए। इस परम्परा को पं. भगवती सहाय के चार पुत्रों मंगला सहाय, विद्या सहाय, रामशंकर सहाय एवं पं. शारदा सहाय ने आगे बढ़ाया, जिसमें शारदा सहाय की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। पं. बलदेव सहाय के शिष्य पं. कंठे महाराज महान ताबलिक हुए। इनकी शिष्य परम्परा में इनके छोटे भाई पं. हरिमहाराज के पुत्र किशन महाराज, आशुतोश भट्टाचार्या, कृण कुमार गांगुली (नाटू बाबू), विश्वनाथ बोस, बभी महाराज, कपिल देव सिंह, अर्जुन पाण्डेय, शारदा सहाय और शीतल मिश्र जैसे कई विख्यात ताबलिक हुए। पद्मविभूषण पं. किशन महाराज के पुत्र पूरण महाराज और शिष्य नन्दन मेहता, कुमार बोस (पं. विश्वनाथ बोस के सुपुत्र) सुखविंदर सिंह नामधारी, संदीप दास जैसे कई कलाकार इस परम्परा का विकास कर रहे हैं। बनारस बाज का सृजन करते हुए इसके सर्जक पं. राम सहाय ने घोषणा की थी कि "इस शैली का वादन करने वाला कलाकार गायन, तन्त्र, सुषिर वाद्य तथा नृत्य की कुशल संगति करने के साथ-साथ स्वतन्त्र तबला वादन में भी निपुण होगा। पं. रामसहाय ने बनारस घराने और बाज से सम्बन्धित एक ग्रन्थ की भी रचना की थी। किन्तु दुर्भाग्यवश घर में आग लग जाने के कारण यह ग्रन्थ नष्ट हो गया। पं. राम सहाय जी ने उ. मोदू खां से प्राप्त तबले की शिक्षा में मौलिक महत्वपूर्ण एवं विविध परिवर्तन करके एक नवीन वादन शैली का निर्माण किया जो तबले के अन्य घरानों से पृथक, नवीन

एवं प्रभावशाली हुई। दिल्ली वाज में प्रचलित तर्जनी एवं मध्यमा अंगुलियों की प्रधानता के स्थान पर वनारस घराने के तवले में की विधि पखावज वादन के आधार पर होती है। तबले के पूर्व बनारस में पखावज का अधिक प्रचलन होने के कारण यहाँ का तवला भी पखावज के प्रभाव से अछूता न रहा। वनारस घराने में पखावज के बोलों को तबले में खुलकर सम्मिलित किया गया है। पखावज एवं नृत्य के प्रभाव से बनारस घराने का तबला खुला और जोरदार हो गया।

पं. किशन महाराज का कहना था "तवला सम्राट पं. राम सहाय जी ने जिस घराने और वाज को अविष्कृत किया वह ध्रुवपद धमार के साथ मृदंग की जगह पर, नृत्य के साथ खुले रूप में, सितार सरोद आदि के साथ मधूर रूप में एवं सुगम तथा लोक संगीत के साथ नक्कारा, खोल और ढ़ोलक आदि की जगह पर बजने लगा। इसके अलावा स्वतंत्र वादन की एक नई शैली भी पं. राम सहाय जी ने आविष्कृत की। इन सबका परिणाम यह हुआ कि वनारस वाज ने एक अलग स्थान प्राप्त कर लिया। वनारस घराने के तवला वादक हर प्रकार के संगीत के साथ निपुणतापूर्वक संगति कर सकते हैं।

बोलो को निकालने के विधि, अंगुलियों का रखाव, वर्णों का संयोजन एवं वादन शैली में विशेष परिवर्तन करके पं. राम सहाय जी ने तबले पर लगने वाली स्याही के महत्व को पूर्णता दी। तबले पर स्याही इसलिए लगाई जाती है, जिससे आवाज खुले। सभी कुछ किनारे पर ही बजा लेना सम्भव नहीं होता है। इसीलिए पं. रामसहाय ने पूरा-पूरा स्याही का प्रयोग करने का निश्चय किया। जिससे बनारस का तबला अन्य घरानों की अपेक्षा अधिक खुला व जोरदर हो गया। तबले पर पांचों अंगुलियों का प्रयोग और तबले के पूरे मुख का प्रयोग करने के उद्देश्य से बनारस बाज के कलाकारों ने अनेक प्रयोग किये हैं। शुरू में पश्चिम बाज में डग्गे (बाएँ) को गोद में रखकर बजाने का प्रचलन था। बनारस घराने के कलाकारों ने इस परम्परा में परिवर्तन किया तथा दाहिने-बाएं को सामने रखकर वीर-आसन की मुभा में बैठकर वादन करने की प्रथा को प्रचलित किया। बनारस घराने के कलाकार अनामिका अंगुली को अर्द्धचन्भाकार मोड,तर्जनी व मध्यमा को एक सीध में रखते हए, तर्जनी से स्याही पर प्रहार करके 'धा' बजाते हैं, जिसस'धा' में आँस बढ़ जाती है। बनारस में चांटी की अपेक्षा लव का अधिक प्रयोग होता है। बनारस घराने को छोड़कर अन्य सभी घरानों में तबला वादन का प्रारम्भ पेशकार से होता है। लेकिन बनारस घराने के कलाकार स्वतन्त्र तबला वादन का प्रारम्भ उठान से करते हैं, उठान की रचना प्रायः बँधी रहती है।

बनारस घराने में उठान के बाद पेशकार की ही तरह एक रचना बजाया जाता है। जिसे ठेके का वांट या विस्तार कहते हैं। इसमें तीन ताल के ठेके के विभिन्न प्रकार को बजाते हैं, पं. किशन महाराज इसे 'ठेके का आलाप' कहते थे। यहाँ के कलाकार तीन ताल के ठेके" धा धिं धिं धा को ना धिं धिं ना' भी पढ़ते हैं। ना धिं धिं ना कोमलता और सौन्दर्य का द्योतक है। इसका प्रयोग केवल मौखिक रूप से किया जाता है, बजाया "धा धिं धिं धा" ही जाता है।

बनारस हो छोड़कर अन्य घराने में तेटे और तिरकित का वादन दो अंगुलियों मध्यमा व तर्जनी के द्वारा होता है कई जगहों पर तिरकित' में अनामिका का हल्का सा स्पर्श होता है। जबकि बनारस बाज में 'ते' के लिए मध्यमा, अनामिका व कनिष्का तथा 'टे' के लिए तर्जनी से जोर से स्याही के मध्य में प्रहार करते हैं। उसी प्राकर 'तिरकित' में 'ति' व त' के लिए मध्यमा अनामिका व

कनिष्का तथा 'र' के लिए तर्जनी का प्रयोग करते हैं। अर्थात बनारस घराने में सभी अंगुलियों का प्रयोग किया जाता है। बनारस घराने में 'तिनकिन' और धिनगिन' के साथ-साथ 'तूंनाकत्ता' या 'तूनाकिटतक' जैसे बोलों का भी खूब प्रयोग होता है। बनारस घराने में तू' का वादन स्याही पर पांचों अंगुलियों के संयुक्त प्रहार द्वारा करते हैं। बनारस घराने के सम्बन्ध में एक मिथ्या प्रचार यह है कि यहाँ केवल जोरदार तबला वादन होता है। परन्तु ऐसा नहीं है बनारस में मधुर व कर्णप्रिय तबला भी बजता है, और इसके लिए यहां के वादक चांटी का निःसंकोच प्रयोग करते हैं, बनारस घराने में तबले के सभी घराने की रचनाओं को बजाया जाता है।

बनारस में पूर्व प्रचलित सभी विशेषताओं को जो दूसरे घरानों की है, उसी रूप में अपनाते हुए विकास एवं विस्तार किया गया है। जैसे दिल्ली घराने के प्रसिद्ध कायदे ''धाते टेधा तेटे धाधा तेटे धागे तीना कीना'' को बनारस के कलाकार दिल्ली घराने की वादन ौली में ही बजाते हैं उसे बनारस घराने की ौली में बदलने का प्रयत्न नहीं करते हैं। 'धा' को चांटी पर बजाते हैं तथा तेटे' को दो अंगुलियों से बजाते हैं। पं. अनोखेलाल मिश्र, पं. गुदई महाराज, पं. छोटेलाल मिश्र , पं. रामजी मिश्र आदि दिल्ली घराने के कायदों को बहुत ही स्पष्ट एवं दिल्ली बाज की शैली में ही बजाते रहे। इस सम्बन्ध में श्री सुधीर मार्डणकर का कहना है ''बनारस के वादक दिल्ली घराने के कायदे दो अंगुलियों से अत्यन्त तैयारी में तथा मोहक नाद सौन्दर्य के साथ प्रस्तुत करने की क्षमता रखते हैं। बनारस घराने में कायदा के साथ-साथ 'बांट' भी खूब बजाया जाता है। यहां 'बांट' बजाने की विशेष परम्परा रही है। बनारस में 'बांट' की विभिन्न लयकारियों में भी बजाया जाता है, जैसे त्रयश्र, चतुरश्र, खण्ड, मिश्रस्व एवं संकीर्ण। बनारस घराने में कायदों से अधिक महत्व उठान बांट, गत, परन, मोहरे, मुखड़े, रेला, लग्गी-लड़ी आदि बंदिशों पर दिया जाता है। इस घराने का सम्बन्ध नृत्य से भी अधिक रहा है, अतः उसमें तोड़े, टुकड़े, चक्रदार आदि विशेष बजते हैं। 'धिर धिर किट तक' बनारस बाज का एक प्रमुख बोल है। बनारस में 'धिर धिर' को धेर' धेर' बोला जाता है। फर्द की तो यह विशेष पहचान के रूप में जानी जाती है। बनारस वाज के कलाकारों ने गतों को पूरी गम्भीरता और सम्मान के साथ अपनाया है। लेकिन इसके साथ ही फर्द नामक एक विशेष. रचना प्रकार बनारस घराने की प्रमुख विशेषता है। फर्द के प्रचार का श्रेय पं. बैजू महाराज को दिया जाता है। बनारस बाज में लखनऊ की सारी विशेषताये तो हैं, अतः तबला तथा पखावज दोनों के वर्ण एवं शब्द उसमें आ जाते हैं। नक्कारा, हुडुक, दुक्कड़, ताशा आदि की वादन शैली का प्रभाव भी बनारस के तबले में दिखता है।

- बनारस घराने में जनानी तथा मर्दानी गतें बहुत प्रसिद्ध है। जनानी गतो में जनाना खूबसूरती तथा कोमलता देखी जाती है। इसमें केवल अँगुलियों से बजने वाले वर्णों का प्रयोग होता है। जबकि मर्दाना गतों में जोरदार बोलों का प्रयोग किया जाता है। इसमें पूरे पंजे का प्रयोग होता है तथा बोलों के संयोजन एवं उनकी निकास पद्धति में गम्भीरता और धिधिर किटतक बोल की अधिकता होती है।
- परनों का तबले में प्रचलन सर्वप्रथम बनारस में ही प्रारम्भ हुआ। बनारस में विभिन्न विशेषता वाले लम्बे-लम्बे टुकड़े व परनों की रचना हुई। चक्रदार के विभिन्न प्रकार भी निर्मित हुये। चक्रदार-फरमाइशी व कमाली अत्यधिक प्रसिद्ध हुए।
- टुकड़ों तथा परनों को बजाने तथा उन्हें ताल

देकर उच्चारण करने की प्रथा बनारस की एक और विशेषता है।

- पखावज के बोलों को बनारस बाज में इस प्रकार आत्मसात् किया गया कि ध्रुपद गायन की संगति में भी बनारस का तबला श्रेष्ठतर सिद्ध हुआ।
- संस्कृत में विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति, श्लोकों, मंत्रों एवं छंदों की कण्ठ से उच्चारण कर उसी के अनुरूप तबले पर बोलों के माध्यम से उसका वादन बनारस बाज की एक सषक्त अभिव्यक्ति है।
- 'घेड़नग तगेन्न' शब्द हुडुक-वादन में प्रचलित बोल तथा 'धा धिं ना ड़ा धा तिं ना ड़ा' बोल नगाड़े के हैं, जिन्होंने बनारस-बाज के प्रचलित ठेकों को प्रभावित किया। ढ़ोलक के बायें वादन के स्वरूप को भी बनारस बाज में अपनाया गया।
- कथक नृत्य के लिए प्रभावात्मक साथ-संगत करने का शैली (तंत्र) इस घराने ने विकसित की है। लखनऊ घराने को नचकरन बाज कहा जाता है परन्तु बनारस घराने के तबला वादक भी कथक नृत्य के साथ अद्‌भुत संगति करते हैं। पं. किशन महाराज तो कथक नृत्य के साथ संगति में माहिर थे।
- बनारस घराने की लोकप्रियता का मुख्य कारण यह है कि यह बाज गायन, वादन तथा नृत्य सभी की संगति में खरा उतरता है। जहाँ तक स्वतन्त्र वादन का प्रश्न है उनकी तैयारी और सफाई सभी को आकर्शित करती है। हाथ की तैयारी तथा बोलों के स्पष्ट निकास के लिये यहाँ के लोग कठोर परिश्रम करते हैं।
- बायें को घसीट कर लम्बी मीड़ निकालने की प्रथा बनारस घराने में अधिक देखने को मिलती है।

बनारस बाज के विकास में यहाँ की लोक-संस्कृति ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। ठुमरी, होरी, दादरा, चैती, कजरी जैसी उपशास्त्रीय और लोक गायन विधाओं का यह आरम्भ से ही गढ़ रहा है। बनारस अंग की ठुमरी गायन की अपनी विशेषताएँ हैं। कजरी और चैती तो यहीं की देन है और होरी गायन भी बनारस में बहुत लोकप्रिय है। उल्लेखनीय है कि बनारस में केवल कृण जी ही नहीं, शंकरजी भी होली खेलते हैं। इन गायन विधाओं की कुशल व सफल संगति हेतु बनारस के कलाकारों ने लोकशैली के दादरा, कहरवा, दीपचन्दी, जत्, खेमटा, धुमाली और पश्तो जैसी तालों को भी गम्भीरता से अपनाया है। इस गम्भीरता का ही परिणाम है कि अगर एक ओर कठिन चक्करदार परनों के वादन के लिए यहाँ के कलाकारों की ख्याति है तो दूसरी ओर लग्गी-लड़ी की खुशनुमा प्रस्तुति के लिए भी। बनारस में ठुमरी बहुत प्रसिद्ध है, अतः यहाँ के वादन में लग्गी-लड़ी का काम विशेष होता है। बनारस घराने का तबला शुद्ध है क्योंकि इसने स्याही प्रयोग का चलन आरंभ किया और अगर तबले में स्याही का समुचित प्रयोग न हो तो फिर तबले, दुक्कड़, ताशा और नगाड़े में अन्तर ही क्या रह जायेगाड़ वैसे अपने-अपने स्थान और परिवेश के अनुसार हर बाज शुद्ध भी हैं और श्रेष्ठ भी।

बनारस बाज की श्रेष्ठता के पीछे केवल यहाँ के कलाकारों का ही नहीं, बनारस की सांगीतिक व सांस्कृतिक वातावरण और सामयिक परिस्थितियों का भी बहुत बड़ा योगदान है। इस आधार पर हम दिशा में नहीं अपितु चतुर्दिक हुआ है। इसमें खुलापन, जोरदारी और गाम्भीर्य भी है लेकिन इसके साथ ही सुकुमारता और माधुर्य भी। बनारस बाज में मेघ-गर्जन का भी अनुभव कर सकते हैं और रस वर्षा का भी। यह प्रकृति का सर्वज्ञात नियम है कि जिसकी उत्पत्ति जितनी देर से होती है वह उतना ही आधुनिक,

सुसंस्कृत और समृद्ध होता है क्योंकि दूसरों की विशेषताएँ उसे स्वतः ही मिल जाती है। चूंकि घरानों की श्रृंखला में बनारस बाज का निर्माण सबसे अंत में हुआ, इसलिए इसे अन्य घरानों की विशेषताओं का भी स्वाभाविक व परिस्थितिजन्य लाभ हुआ। बनारस के कलाकार चाँटी, लव, स्याही सहित पूरे तबले का प्रयोग करते हैं, अतः व्यवसायिकता की दृष्टि से भी उनकी उपयोगिता अधिक है। बनारस बाज के वादकों ने सितार, सरोद, बाँसुरी, शहनाई, कथक नृत्य, ख्याल, ध्रुवपद, ठुमरी, टप्पा, कजरी, चैती आदि सभी के साथ बार-बार सफल संगति करके बनारस बाज की विविधता व विशेषता को रेखांकित किया है। बनारस घराने की स्थापना हुए लगभग 200 वर्ष हो गये हैं और इन वर्षों में तबले का कोई नया बाज आविष्कृत नहीं हुआ, कोई नयी वादन शैली नहीं विकसित हुई। इसका क्या कारण है? कहीं यह सच तो नहीं कि बनारस में आकर तबला पूर्ण हो गया?

संदर्भग्रन्थ - सूची

1. तबला विशारद, डॉ. शिवेन्द्र प्रताप त्रिपाठी, कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्युटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2012,
2. तबले के घराने वादन शैलियां एवं बंदिशें डॉ. सुदर्शन राय, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्युटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008
3. तबला पुराण, पंडित विजय शंकर मिश्रा, कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005
4. पखावज और तबले के घराने एवं परम्परायें, डॉ. आबान-ए-मिस्त्री, पं. के.के.एस. जिजिना स्वर साधना समिति बम्बई, प्रथम संस्करण 1984
5. भारतीय संगीत वाद्य, डॉ. लालमणि मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ, लोधी रोड, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण -2005
6. अवनद्ध वाद्यों में तबला एक सर्वोच्च वाद्य डॉ. प्रियंका शर्मा दरियागंज, राधा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2011,
7. प्रमुख ताल वाद्य पखावज तथा तबले की विभिन्न परम्पराएं डॉ. मोहिनी वर्मा अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण- 2011
8. तबले का उद्गम विकास और वादन शैलियां डॉ. (श्रीमती) योगमाया शुक्ल, हिन्दी माध्यम कार्यालय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संशोधित संस्करण - 2003

तबला वादन में उपज का महत्व एवं उपयोगिता

कुमारी प्रिया तिवारी

वाद्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उपज :

यह हिन्दी भाषा का स्त्रीलिंग शब्द है। इसका अर्थ है - उत्पन्न होना, पैदा होना, उपजना, विकसित होना या सृजन करना इत्यादि।

भारतीय संगीत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें निर्धारित सीमा या नियमो में रह कर सदा नवीन प्रयोगों की अपार सम्भावना या स्वतन्त्रता बनी रहती है। संगीत में इसे ही उपज कहते हैं। इसी से भारतीय संगीत में सदैव नवीनता बनी रहती है तथा प्रत्येक कलाकार को अपनी कल्पना को साकार करने का भरपूर अवसर मिलता रहता है।

प्रत्येक कला को कलाकार का सृजनात्मक कार्य कहा गया है। सृजनशीलता को भी उपज का पर्यायवाची कहा जा सकता है। संगीत में यह सृजनशीलता या उपज Imagination एवं Iprovisation के रुप में निरन्तर प्रस्तुत होती रहती है। उपज के माध्यम से कलाकार को एक नवीन आत्मसंयोजन का अवसर प्राप्त होता है।लय-ताल वादकों को अपनी कला में उपज का अवसर दो प्रकार से मिलता है। एक बोलों की रचनाओं में तथा दूसरी लयकारी में। वादन के समय निश्चित बन्दिश बजाने के बाद उसी क्षण उसको बोल तथा लय के अनुसार नया रुप दे देना ही उपज है। इसकी सम्भावना उन रचनाओं में अधिक होती है, जिसमें विस्तार किया जाता है। जैसे :- कायदा, पेशकार, रेला, बोल-बाँट तथा लय-बाँट इत्यादि। इसी प्रकार विभिन्न लयकारियों द्वारा नवीन रुप दे कर सृजन करना भी उपज है। किसी कलाकार की कला में गहराई की पैठ उसके उपज की क्षमता से ही आँकी जा सकती है तथा उससे वह अपनी छवि बनाने में सफल होता है। उपज अंग की वादन क्षमता बढ़ाने हेतु (रियाज़ के दृष्टिकोण से) मार्ग दर्शक बातें तीनताल के सहारे प्रस्तुत की जा रही है-

- तीनताल के किसी भी लय में चलने वाले आवर्तन में प्रत्येक मात्रे से 'सम' पर पहुँचने के बारे में सोच कर तदनुरुप वाक्य या वाक्यांश बनाना तथा उक्त मात्रे से उठकर आत्मविश्वास पूर्वक 'सम' पर आने का रियाज़ करना।
- रियाज़ तथा प्रयोग करने के लिये मुखड़े के आरम्भ बिन्दु की मात्रा, उदाहरणार्थ 12वी मात्रा निश्चित की जानी चाहिये। कलाकार को ऐसे शब्दबन्धों को सोचकर चुनना चाहिये,जिनकी सहायता से उसे सम से बारहवीं मात्रे पर आत्मविश्वास से पहुँचना चाहिये तथा बाद में फिर बारहवीं मात्रे से मुखड़े की नादबन्धरुपी प्रतिकृति बजाकर उसे सम पर आने की क्षमता बढ़ानी चाहिये। कुछ काल के बाद मुखड़े की आरम्भ बिन्दु की जगह बदल कर फिर उसी प्रकार रियाज़ करना चाहिये। आवर्तन की प्रत्येक मात्रे को उलट-पलट कर, मुखड़े का आरम्भ बिन्दु मानकर इस प्रकार से रियाज करना चाहिये। इस प्रकार के परिश्रम में सफल होने के लिये कलाकार को उचित मार्गदर्शन मिलना आवश्यक है। इस प्रकार के बौद्धिक रियाज़ पर कलाकार

को चिन्तन भी करना चाहिये। साथ ही साथ उपज-क्रिया में कुशल कलाकारों का वादन भी साधक कलाकार को सुनना चाहिये, उसका अध्ययन तथा विश्लेषण करना चाहिये। इन सब क्रियाओं से अध्ययनशील साधक 'उपज-अंग' का सफल प्रयोग कर सकेगा।

तबला-संगत के सन्दर्भ :- स्वतन्त्र वादन के साथ-साथ सह वादन में भी एक कलाकार को सफल होना अत्यन्त आवश्यक है। जब हम किसी के साथ तबला-संगत करते हैं तो हमारा उद्देश्य मुख्य कलाकार को सपोर्ट करना तथा कार्यक्रम को आकर्षक बनाना होता है। सह-वादन स्वतन्त्र वादन की तुलना में अधिक कठिन होता है। क्यों कि स्वतन्त्र वादन में हम लय के चयन में, बन्दिशों के चयन में तथा प्रत्येक रुप से स्वतन्त्र होते हैं। परन्तु संगत में हमें मुख्य कलाकार के अनुरुप लय, ताल आदि में वादन करना होता है जो वादक के सूझ-बूझ, तीव्र बुद्धि तथा अपनी वादन में कुशलता पर निर्भर करता है। संगीत की प्रस्तुतिकरण में 'सवाल-जवाब' का प्रयोग जब होता है, कलाकार सवाल पूछता है तब उसी समय उस सवाल का समयोचित जवाब देना, यह संगत कलाकार के लिये एक मुश्किल क्रिया हो जाती है। इसके लिये केवल उत्कृष्ट तबला वादन की सिद्धी ही काफी नहीं होती, उसकी 'समय सूचकता शक्ति' सतर्क होना जरुरी है। युद्ध में परिस्थिति के अनुरुप दाँव-पेंच खेलने पड़ते हैं। लगभग ऐसे ही प्रसंग संगत करने में भी निर्माण होते हैं। परन्तु दोनों में फर्क इतना है कि युद्ध में प्रतिपक्ष को हराना उद्देश्य होता है तो उपज अंग की सहायता से साथ-संगत करने में महफिल की प्रभावकारकता कैसे बढ़ाई जाये यह उद्देश्य होता है।

अपनी प्रस्तुतिकरण के आरम्भ में गायक या वादक कौन सी बन्दिश किस ताल में गायेगा, उसका ढाँचा क्या होगा, उसके मुखड़े की उठान किस मात्रे पर होगी, गाते समय गायक लयकारी में क्या-क्या प्रयोग करेंगे, तिहाई किस रुप में प्रस्तुत होगी, अनाघात, अतीत, की चमत्कृति कब पेश होगी, इन सबके बारे में संगतकार अनजान रहता है। अगर तबला-वादक उपज-अंग की साथसंगत करने में माहिर ना हो तो उसकी संगत प्रभावकारी नहीं हो सकती। ऐसे वादक को अगर उपज-अंग की तालीम प्राप्त हुई है तो भी अगर उस समय वह असावधान हो तो दो-तीन आवर्तनों के बाद ही वह उचित वादन कर पायेगा। संक्षेप में तबला-वादक को समयोचित साथ-संगत करने की शिक्षा न मिलने के कारण उसका वादन निष्प्रभ बन सकता है।

लय-लयकारी के सन्दर्भ में :- प्रायः ऐसा देखने सुनने को मिलता है कि जब कोई उच्चकोटि का कलाकार अपना गायन-वादन प्रस्तुत करता है तो लय तथा लयकारी के माध्यम से अपनी प्रस्तुतिकरण को और अधिक रोचक तथा आकर्षक बना देता है। लयकारी क्रियां के वादन में लय में बदलाव पूर्वनियोजित विचार से किया जाता है। यह लयकारी आनन्दायक होती है। ऐसे लयकारीयुक्त वादन में कलाकार की लयकारी क्रिया में प्राप्त की हुई श्रेष्ठता की अनुभूति मिलती है। परन्तु कभी-कभी इस प्रकार की लयकारी का प्रस्तुतिकरण पूर्व-नियोजित नहीं होता है। जब हम उपज क्रिया का विश्लेषण करते हैं, तब कुछ विशेष बातें हमारी ध्यान में आती हैं अलग-अलग मात्राकाल की अलग-अलग गतियों में भिन्न-भिन्न बोल-समुहों व नादबन्धों को चुनकर उनपर रियाज़ करके उन्हें प्रभावकारकता से बजानें का ज्ञान प्रत्येक कुशल तथा सफल कलाकार को होना चाहिये। इस प्रकार के रियाज़ को उपज-अंग का प्रारम्भिक रियाज़ कहा जा सकता है।अलग-अलग जातियों के शब्दबन्धों को एक-दूसरे से जोड़ना और तोड़ना और पुनः जोड़ना इस पद्धति से नये-नये नादबन्धों की निर्मिति करने के रियाज़ से साधक कलाकार 'उपज-क्रिया' के विषय के बहुत करीब पहुँच सकता है।

उपर्युक्त बताई गई क्रियाओं के कारण मात्रा, लय तथा गणित के विषय में सतर्कता से ध्यान देकर रियाज़ करने से साधक किसी मी मात्रा काल तथा जाति का शब्द-बन्ध बना सकता है। इन क्रियाओं की मदद से साधक-कलाकार जब चाहे तब अलग-अलग प्रकार की नादाकृतियाँ बना सकता है। कलाकार अपने सवतन्त्र वादन में भी इस प्रकार की 'उपज-क्रिया' से वादन करेगा, तब उस वादन को 'उपज-अंग' युक्त वादन माना जायेगा।

विस्तारशील रचनाओं के सन्दर्भ में :- तबला वादन में विस्तारशील रचनाओं की श्रेणी में मुख्य रुप से कायदा, गत कायदा, रेला, पेशकार, बाँट आदि आते हैं। यद्यपि ये रचनाएँ पूर्व रचित होती हैं तथा बहुतांश में पल्टों या बलों का विचार पहले से ही किया होता है। केवल प्रस्तुतिकरण में विस्तार के क्रम में विचारवान कलाकार अपनी कला-कौशल के आधार पर स्वतन्त्रता से काम लेता है। प्रायः बन्दिशों को दो प्रकार से विस्तारित किया जाता है।

- पहली विधि कुछ इस प्रकार होती है - कायदे जैसी रचना के अलग-अलग पल्टे किये जाते हैं। ये सब पल्टे एक ही कायदे के होने के कारण एक-दूसरे जैसे जरुर लगते हैं परन्तु उनकी निर्मिति स्वतन्त्र रुप में हुई होती है।
- दूसरी विधि में विस्तार-क्रिया का मार्ग ऐसा भी होता है कि दूसरे पल्टे की निर्मिति पहले पल्टे से हुई होती है तथा तीसरे पल्टे की निर्मित दूसरे पल्टे से हुई होती है। इस प्रकार के विस्तार को उपज-अंग का विस्तार माना जाता है। उच्चकोटि के विद्वान इस प्रकार के विस्तार को अधिक महत्व देते हैं। ऐसे विस्तार में सभी पल्टे एक-दूसरे से एक कड़ी की तरह जुड़े होते हैं।

खाली-भरी के सन्दर्भ में :- गुणीजन ऐसा मानते हैं कि जब किसी भी रचना का विस्तार किया जाता है तो उसमें भरी-खाली के अनुशासन, ताल के स्वरुप आदि का भी ध्यान रखना चाहिये। किसी भी रचना को भरी में बजाने के पश्चात उसका खाली क्रिया में रुपान्तर होता है तथा उसके बाद पुनः भरी का प्रयोग होता है। इस प्रकार के प्रयोग से कलाकार का अनुशासन तथा उसके संगीत के संस्कार मालूम पड़ जाते हैं। तबला वादन में ताली-खाली बताने की यह एक मान्यता प्राप्त शैली है। इस प्रकार का वादन सुन्दर होता है तथा इसमें गुरु के संस्कार तथा अनुशासन की प्रतीति विशेष रुप से दिखाई देती है। परन्तु ऐसे वादन में उपज-अंग का अभाव दिखाई देता है किसी रचना का भरी का रुप तथा खाली का रुप, बाएँ के नादों में एक प्रकार का बन्द-खुले का प्रयोग होता है, जिससे हमें बाएँ पर बजाये हुये विरोधी नादों की प्रतीति मिलती है। इन विरोधी नाद संगति का प्रयोग केवल खाली क्रिया में ही करना जरुरी नहीं, ऐसा मानने वाले भी कुछ अच्छे कलाकार हैं और वे अपने वादन के प्रस्तुतिकरण में किसी उचित जगह पर खाली-भरी का प्रयोग बिना पूर्व योजना के करते हैं तथा अनापेक्षित आनन्द भाव का निर्माण करते हैं। इस प्रकार की क्रिया को हम 'उपज-क्रिया' कह सकते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक कुशल वादक, सफल संगतकार तथा उच्चश्रेणी का कलाकार बनने के लिये लगन, कठिन परिश्रम, विनम्रता, सही मार्गदर्शन आदि के साथ-साथ तीव्र बुद्धि का प्रयोग तथा उपज-क्रिया के द्वारा समयोचित वादन क्षमता का होना भी अत्यंत आवश्यक है। अन्यथा इसके अभाव में किसी कलाकार का वादन निष्प्रभ बन सकता है।

संदर्भग्रन्थ - सूची

(1) तबला- वादन में निहित सौन्दर्य लेखक - माईणकर श्री सुधीर प्रकाशक - सरस्वती पब्लिकेशन, मुम्बई 2008

(2) संगीत - मई -2012

(3) सगीत - जून -2012

Adi Tala

Guru Raghavendran

"Music and rhythm find their way into the secret places of the soul." – Plato

"There is geometry in the humming of strings." – Pythagoras

The Art of Indian Percussion is regarded as one of the greatest in World Music because of its most sophisticated and complex rhythmic patterns, as described by Peyman Nasehpour.

Tala, Taal or Tal is the term used in Indian Classical Music for the rhythmic pattern of any music composition and also for the entire subject of rhythm for that matter. In Sanskrit language it is termed as *tâla*, while in Telugu or Tamil it is tâ7aA (literally a "clap") and it is correspondingly referred to as "Metre" in Western music. There are also some close equivalents found in the older system of Rhythm like the "foot" of classical poetry, or with other Asian classical systems such as the notion of usual in the theory of Ottoman/Turkish music.

In our life, we witness many cycles - natural cycles like the changing of night-time and day-time and unnatural cycles like dividing the day into 24 hours or dividing the week into seven days. Even the human heart-beat is also cyclic. There is cycle or timing in every aspect of life and other things. The tala is a rhythmic-cycle, which starts at the beginning of a composition (gat) and shows the proper music-tempo (vilamba kala or vilambit-slow, madhyama kala or madhya-medium, duritha kala or drut-fast) without any break until the end of the gat, or even until the end of the raga. All the tala-cycles of a raga, if played well, follow one another like pearls on a string. The same length of beats could be divided into different talas, using different dividing-systems. Of course, there are some rules which tell the appropriate tala for a composition.

In the Karnatik Music system we find the Saptha Talas (7 fundamental talas) like Dhruva, Matya, Rupaka, Jampa, Triputa, Ata and Eka which combine with the five *Jaatis* – Tisra (3), Chatusra (4), Kanda (5), Misra (7) and Sankirna (9) to give birth to 35 tala-system. There are also the 108 talas, 72 Melakartha talas, the Navasandhi talas, 52 Apoorva (rare) talas, 4 Chapu talas, etc. in the system. However the following four talas alone are very popular in Karnatik Music concerts in present scenario - Adi Tala, Rupaka Tala, Kanda Chapu and Misra Chapu. Most of the significant

compositions are sung in Adi Tala due to its vast scope and facility.

Adi talam (Sanskrit âdi tâlà आदि ताल, literally "primary clap"/"primary rhythm" also spelled as aadi taala, adi talam) is the name of one of the most popular tala or rhythms used in Karnatik Music. Its full technical name according to the Karnatik Music's tala system is Chaturashra-nadai Chaturashra-jaati triputa tala or simply Chatusra Triputa Talam. This tala has eight beats (maatras), each being 4 svaras long. Many Musical Forms like Varnams, Kritis, padams, etc., are set to this tala. Two *Angas* are used while reckoning Adi Tala.

i) *Laghu* - Beat of the palm of the hand on the thigh and followed by finger counts. The number of counts in Laghu indicates the Jaati of the Tala and
ii) *Drutam*- Beating the palm and turning it over

Adi Tala is Chatusra Jaati- meaning its Laghu is a beat followed by three finger counts and consists of two drutams after the chatusra laghu. Simply put, Adi Tala is Laghu(4) + Drutam (2) + Drutam (2), totally 8 beats.

The different dimensions of Adi Tala and rhythmic possibilities:

The Adi Tala, as its name suggests, is primary of all talas. As said already, its scope is really vast. The basic melody and percussion lessons are taught in Adi Tala only. The melody lessons like Sarali Varisai, Janta Varisai, Alankaram, Geetham, Varnam and Kritis are all composed in Adi talam only. On the percussion, basic lessons right from *Vigneshwara Paatam* to advanced rhythmic patterns are taught in Adi tala only. If a student of percussion masters the Adi tala lessons well and has the ability to play it competently, then he is considered fit for the percussive art.

The enormity of the Adi tala is such that most other talas would fit inside it if the 8 beats are adapted to the five Jaatis and enhanced accordingly.

Adi tala Chatusra Nadai (gathi) 8*4 = 32 aksharas (Solfa - Tha ka dhi mi)

Adi tala Tisra nadai 8*3=24 aksharas (solfa – Tha ki ta)

Adi tala Kanda nadai 8*5=40 aksharas (solfa – Tha ka tha ki ta)

Adi tala Misra nadai 8*7=56 aksharas (solfa – Tha ki ta tha ka dhi mi)

Adi tala Sankirna nadai 8*9=72 aksharas (solfa – Tha ka dhi mi tha ka tha ki ta)

In Karnatik Music, particularly in Tamil tradition, the *Gait* is referred to as the Nadai or Gathi/Gati. The Solfas are the syllables like Tha, Kita, Thakadhimi, etc. which form the rhythmic compositions of the percussion music. The solfas are known in Tamil as Sollu (Bol) or Solkattu. When the Adi tala is played in the above five nadais (gaits) like Chatusra gathi, tisra gati, misra gati, kanda gati and sankirna gati the compositions of Rupaka tala, misra chapu, kanda chapu, sankirna chapu and the other equal numbered talas can easily fit in. Similarly the 16 beats of Adi Tala can be played as tintala or sitarkhanitala.

Few Rhythmic Possibilites comprehending Adi Tala:

8 Akshara Solfas or Solkattus:

Tha-ka-di-mi-tha-ka-ja-nu, thi-ku-tha-ka-tha-ri-ki-ta, tha-ka-tha-ri-ki-ta-tha-ka

16 Akshara Solfas or Solkattus:

Tha,thari thari kita thiku thaka thari

kita, naka janu thika janu naka thari thari kita

Tekhas or Vilabit Gaits

/ Nam dhin dhin naa – Nana dhin dhin naa /– Nam dhin dhin naa – Tharikuku nakajanu //

/Nam dhin dhin naa – Nana dhin dhin naa /– Nam dhin dhin naa – Tharikuku nakajanu //

/Nam dhin dhin naa – Tharikuku nakajanu /– Nana dhin dhin naa – Tharikuku nakajanu //

/Tharikuku nakajanu dhin, Tharikuku / nakajanu dhin, Tharikuku nakajanu// dhin

It is to be noted that the Tekhas or Vilamba kala nadais or Vilambit Gaits start at the very First beat of the Adi Tala which is also called the Samam (Sam) or Unison and the whole composition ends at the samam only.

Korvai

A Korvai is a rhythmic composition having two parts *purva* and *uthra* that comprises simple or complex solfas and set for particular number of beats of a Tala. The Uthra part essentially contains solfas from the five jaatis of 5,6,7,8 and 9. The korvais are played three times beginning from samam usually and end there.

Few Examples:

Adi Tala (8 beats – 1cycle) korvai

/Thadhin, Thadhin, Thadhin, - Thadhikinathom tha,/,, Thadhikinathom tha,,, Thadhikinathom // (tha) Purva - Thadhin, for 3 times à tha=1; dhin,=2 à 3 aksharas àtotal 9 aksharas

Uthra – thadhikinathom=5, gap/ space- tha,,, =4 àthen 5+4+5+4+5 à23

Total 9 + 23 = 32aksharas.

Adi Tala (16 beats – 2 cycles) korvai

/Tha,dhi, thaka dhina dhin, - Dhi, thaka dhina/ dhin, - Thaka dhina dhin, – Thadhi,kinathom tha,// -/ Thadhi,kinathom thadhi,kinathom tha, - Thadhi/,kinathom thadhi,kinathom Thadhi,kinathom // (tha)

Purva – Tha,dhi, thaka dhina dhin, = 10, Dhi, thakadhina dhin, =8, thaka dhina dhin, =6 à total 24 aksharas

Uthra – thadhi,kinathom=6, gap-tha, =2 àthen (6)+2+(6+6)+2+(6+6+6) à40 aksharas. Hence Total 24 + 40 = 64 aksharas.

A part from korvai, there are also several rhythmic compositions like Mohras, Kuraippus, Madhyama - durita kala nadais, Nadais to accompany songs and the Pallavis etc. Stalwarts like Pudukkottai Dakshinamurthi Pillai, Thanjavur Vaidhyanatha Iyer, Palghat Mani Iyer, Palani Subramania Pillai and the like have left behind several astonishing rhythmic compositions for Adi Tala and many other talas as well. To hear them play is real treat for the ears and soul.

Bibliography

Tala (music) - Wikipedia, the free encyclopedia

India-tala raga.hu/english_tala.htm

Adi tala - Wikipedia, the free encyclopedia

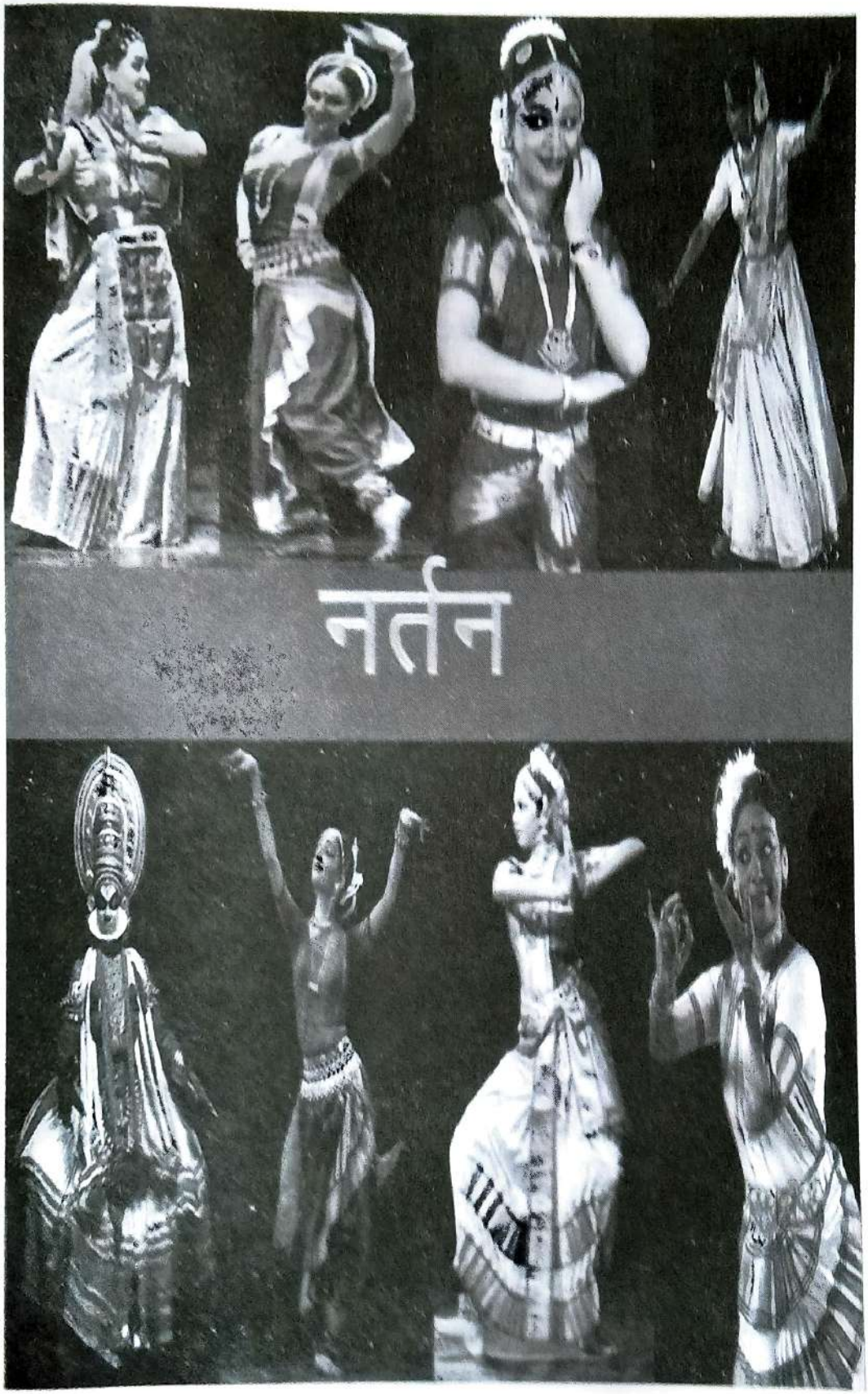

नर्तन

Mohiniattam

The Lyrically Enchanting Classical dance form of Kerala

Dr. Deepti Omchery Bhalla

Prof. Karnatik Music, Faculty of Music and Fine Arts , University of Delhi

Kerala with its rich bounties of nature can also boast of a rich cultural heritage it acquired from time to time, through an intermingling of different races, religions and faiths with the local inhabitants. This naturally led to its acquiring varied customs and traditions and highly evolved Art forms which were syntheses of these varied cultures. The original inhabitants of Kerala were Dravidians who followed their own social and religious practices. However the synthesis of Dravidian and the Aryan Cultures together with the spread of Jainism , Buddhism ,Christianity , Judaism, and Islam and their customs and traditions , all led to a beautiful amalgamation and shaping of a composite culture in the region of Kerala.

Folk songs and dances that came about from the glorious blend of all cultures and religions formed the basis for the later developments of its theatre, music and dance. Even though they were termed as folk they were highly developed in structure, technique, makeup and the costume. It was however a sudden spurt in the building of Temples, around the 8th century, in South India and the construction of **KOOTHAMBALAM (theatre specifically designed for staging the classical art forms, based on the specifications given in Natya Shastra**) in Kerala , by Kulashekhara Varman, that led to a highly stylized system of music , the **SOPAANA MUSIC** and dramatic art, the **KOOTHU AND KOODIYATTAM** in the Temples of Kerala. Alongside these, there were other dance forms like Kathakali and Mohiniattam, which developed into a highly stylized form and became popular world over.

Origin of Mohiniattam Several myths and legends are connected to the origin of Indian dances.The **Bhasmasura –Mohini** and **Amrita Manthana** are the two popular legends connected to the origin of Mohiniattam. In both these themes Mohini, the Enchantress dances to lure the Asuras, destroying them so as to save the world.

Though one can not specify the exact period of the origin of this enchanting and lyrically charming dance form, there are evidences that indicate the existence of female dances in the temples of Kerala like **'NANKAI NATANAM** (beautiful dance) , **'PAAVAI NATANAM** (doll like) . The dancers were known by

different names like **Nankacchi , Koothacchi and Tevaticchi** , in different periods of time. Also the already developed art forms performed by women like Nangiar Koothu and the female roles in Kathakali and Kaikottikali (the regional folk dance performed by women), helped shape Mohiniattam from its earlier simple form to a refined female classical solo dance form of Kerala.

As it moved away from the Temples to the Court around 18th- 19th cent, this dance form naturally underwent changes.

The Court Tradition or The Durbar Sampradaya was, in many ways, a very significant period of development for Mohiniattam. The danceform evolved itself and acquired full effulgence in the court of the Travancore rulers **Maharaja Kartika Thirunal** and his successor **Maharaja Swati Thirunal**, the great composer king of Kerala. The repertoire had compositions, mostly written by Swati himself.

The period of Decline and Revival

It is difficult to determine accurately how much of the contemporary technique and repertoire of Mohiniattam was evolved during Swati's period. The early demise of this royal patron marked the beginning of a dark period for this dance, primarily because of a lack of the Royal patronage. With it the dancers resorting to questionable means for earning a living, the dancer and the dance, fell into ill repute and wascompletely banned by the society.

The dance emerged once again, with the dedicated efforts of **Mahakavi Vallatol,** a poet laureate of Kerala and **Mukunda Raja** , who undertook the formidable task of not only assimilating the scattered art which remained hidden with a few exponents who were shy of revealing they knew the form, for fear of social ostracization. In 1930, the Kerala Kalamandalam , founded by Vallatol was established for the preservation and promotion of the performing arts of Kerala. Mohiniattam thus got a new lease of life.

The Dance Mohiniattam is a distinct style with graceful, swaying movements, soft footwork, without abrupt jerks or sudden leaps . As for hand gestures, they are mainly adopted from **Hastalakshana Deepika,** A text followed by Kathakali, though their presentation is modified. Some Nritta Hastas from Natya Shastra and Abhinaya Darpana are also included. The gestures and facial expressions are closer to the natural **(Gramya)** and the realistic (**Laukika**) than to the dramatic or rigidly conventional **(Natya).**

Greater emphasis is put on lyrical expression than on the purely rhythmic aspect of dance.

Changes have also been made with regards to its 'Aharya'. The hair that was initially tied into a long pleat behind the head is now gathered into a bun on one side of the head with white flowers around it. The long, single piece of white Sari with gold brocade border sometimes with colored stripes running along its border,

worn initially, has been further improved with the addition of pieces of cloth with a gold border, properly designed and tailored.

The Orchestra The present day accompanying Orchestra includes **Veena , Violin , Flute, Cymbals , Idaikka, Maddalam and Mridangam.** These are the instruments which dominated the Carnatic concert Paddhati from 19th cent and became accompanying instruments for other southern dance styles.

Till the middle of 20th cent it was mainly performed by dancers who lived and performed only within the region of Kerala. There were very few who took this outside the boundaries of Kerala. Also the compositions in its repertoire which had simple 'Dhatu' (melody) laid greater emphasis on the 'Maatu' (Sahitya), which was in Malayalam the spoken language of Kerala. These then gave more scope for depiction of Bhaava than Nritta. Only those who followed the language could understand the gesture interpretations while others failed to appreciate its subtle intricacies and nuances. The revival of this dance style also changed its original musical setup which was more regional than the classical. As opined by two eminent Scholars from Kerala ,Sh. Kavalam Narayana Panikkar a noted scholar and Prof. Leela Omchery , eminent musicologist ,during the very course of its revival, its music which once had the distinctive flavour of regional music of Kerala lost its identity when doyens of Carnatic music, though admittedly sincere in their effort to revive Swati Thirunal's compositions reshaped its music so drastically that it became indistinguishable from the Carnatic classical music system of the Trinity. Both these scholars through their dedicated efforts have revived much of its lost musical flavor and restored its identity.

The present day Status Today, with the rise in the performance opportunities, Mohiniattam has acquired a high level of popularity both in India and Abroad. Dancers unlike their predecessors are academically better qualified, have a more professional outlook with regards to its presentation. With greater freedom to innovate, they have explored possibilities of expanding this form with other forms and mediums.

However too many innovations often lead to Trivia. It is therefore essential for every Mohiniattam dancer to innovate so as to enrich the style and not sacrifice its authentic identity and aesthetic richness it already has.

Kathakali - Guru Sadanam Balakrishnan

Idakka

Talinanka - the female temple dancer

Beauty is Dance Deep

Rama Vaidyanathan

Bharatnatyam Dancer

Take a look at Lord Nataraja's face. It is so serene amidst all that frenetic activity of creation and destruction. He manages to maintain a calm demeanor in spite of expending tremendous amount of energy on His cosmic dance.

Look at us. There is so much happening around us. There is energy that is positive as well as negative. Good health requires us to keep off the negative energy and absorb only the positive energy. Like Lord Nataraja, we need to have an inner peace no matter what happens around us. Fitness extends beyond the body. A fit body is just a fit body, but a fit body with a peaceful mind is a beautiful body.

Beautiful... don't we all want to look beautiful?! But we dancers are special. We have different parameters for beauty. Chiseled features, doe shaped eyes, high cheek bones, well aligned teeth, glowing complexion and so on are not what we consider beautiful. For us, it is the beauty of our dance that has to reflect through us. Our faces have to be illuminated by the light of creativity burning inside us. Our whole personality has to exude the vibrancy of our art. This is what we call beautiful. A dancer who is beautiful from within will appear beautiful to the world. Her inner peace comes from a sense of fulfillment and joy of someone who celebrates every moment of her artistic journey. Her contentment gives her the courage and fortitude to face all challenges that come her way. She is someone who uses dance as a medium to be a seeker. Such a dancer will have an invisible aura around her especially when she is on stage. Don't they say that the stage is the biggest give away of your inner self? Precisely why discontented dancers who consider the race more important than the ultimate goal end up looking quite uninspiring on stage. Wasting time on politicking, getting overly judgmental about others and harboring grudges will create a restlessness which will only affect their overall health. Externally, it is important to take good care of our skin. The makeup removal process has to be thorough and unhurried. Hair needs to be washed after every practice session or performance. Sweat clogs

the pores on our scalp and the hair follicles can get weak. Therefore, dancers tend to lose their hair quite rapidly. To avoid that, we need to keep the scalp scrupulously clean at all times. We lose a lot of water when we dance. It is important to replenish lost water with a high intake of healthy fluids. But please, never ever drink cold water, no matter how hot the weather is. Studies suggest that cold water slows down the digestive system and in turn can hamper the body metabolism. A regular massage too is a must for dancers. Its advantages are many, no wonder that it is an integral part of the Kathakali training. It not only calms the body, but also brings a glow to the face.

We are all born with looks that are not in our control. But as dancers, whether male or female, we can be as beautiful as our dance. For it is dance that gives us that inner strength, peace and tranquility. The three qualities required to be 'beautiful.' So let's all feel beautiful because after all beauty is dance deep.

सा
मा
यि
की

Phenomenology of Experiencing Art and Life

Prof. Ritwik Sanyal
B.H.U. Varanasi

Phenomenology is usually defined as intensional (intentional) analysis of experience ; it always treats the object as object-in-consciousness. The phenomenological part of the method is, therefore, based on the distinction between subject and on progression of epistemic awareness, i.e., subject's awareness in relation to reality known, i.e., object-in-consciousness.

A brief description of the form and content of the method is given below. As presented here it may more aptly be called the logico-phenomenological mapping of experiencing art and life.

The mapping of art, human experience, life or self- development can be done in terms of a theory of meaning involving five explanatory categories : sources of knowledge *(pramânòa)*, systems of knowledge *(pramiti)*; reality in perspective, i.e., viewed as this or that *(prameya)* and the self operating as this or that *(pramâtâ)*.

Theory of Meaning and Truth: The meaning of a proposition 'p' is the method of its verification. Thus, 'verifiable' and 'possible' can be taken as synonymous with 'meaningful', and 'verified' and 'necessary' as synonyms of 'true'.

There are two generic methods *of verification:* deductive and non-deductive. The deductive is the same as analytic *a priori*. The non-deductive (i.e., synthetic) method is of two kinds : induction (i.e., synthetic empirical) and abduction (i.e., synthetic *a priori*).

The basic *law of deductive logic:* 'p' and 'p' cannot be together true and together false. When applied in philosophy this becomes the dialectical method of negative biconditional, that is, of contradictories (e.g., that of *Nâgârjuna and Úrîharsòa*).

The basic *law of inductive logic:* 'p' and 'p' cannot be together true but cannot be together false. In philosophical argument this becomes the dialectical method of disjunction or contraries (e.g., sciences).

The basic *law of abductive logic :* 'p' and 'p' can be together true.but cannot be together false. In philosophy, this becomes the dialectic of alternation or sub-contraries (e.g., *anekântavâda*).

Sources of Knowledge (pramânòa) : The inductive method is based on three modes of experience, i.e., means of knowledge, viz.,

(1) Bodily sensation *(dehânubhava : úârîra pratyaksòa)*

(2) Sense perception *(indriya-pratyaksòa)*

(3) Perceptual conception *(pratyksòajâta dhârnòâ: mânasa pratyaksòa)*

The deductive method is based on :

(4) Conceptual reasoning *(dhâranòâprasûta-yukti : sâmânya laksòanòa)*

The abductive method is based on :

(5) Reasoned judgement *(yuktiyuktâvadhâranòa : jñâna- laksòanòa)*

(6) Judged action *(avadhârita karma : vahiranga sâdhanâ)*

(7) Acted realization *(kròiopalabdhi : antaranga sâdhanâ).*

Systems of Knowledge (pramiti): The systems corresponding to the seven modes of experience have each a theoretical subsystem and a practical subsystem : these are named in a coordinated manner as appended :

	Theory	*Practice*
(7)	Mysticism *(moksòâúâstra)*	Yoga *(samâdhikalâ)*
(6)	Religion *(dharmaúâstra)*	Morality and ritual *(âcârakalâ)*
(5)	Philosophy *(dharmaúâstra)*	Fine arts *(cârukalâ)*
(4)	Formal logic *(yuktivijñânsa)*	Arguments *(vâkyakalâ)*
(3)	Science *(vijñâna)*	Technology *(yantrakalâ)*
(2)	Commonsense *(sâdhâranajñâna)*	Crude arts *(kârukalâ)*
(1)	Prelogical apprehension *(úârîrajñâna)*	Bodily behavior *(cesòtâ)*

Views of Reality (prameya) : Similarly, reality viewed through these resprctive modes of experience appears as subjectless events *anâ), (nòirvisòaya-nòirvisòayî ghat*objects *aya), (vis*, object-object relations *aya-sambandha),aya- vis,(vis*, logical subjects *(uddeœya)*, subject-object relations *ayî-sambandha),ayî- vis,(vis*, and the sole subject *ayî),(kevala- vis.*

'Subject' is one word for 'one who makes, feels or knows facts' : in Sanskrit, the word *'ayî',vis* is one word for *'kartâ bhoktâ jñâtâ'*. 'Object' is one word for that is made felt or known': in Sanskrit, the word *aya','vis* is one word for *'karma bhoga jñâna.'* All possible combinations of the two arranged in an ascending order of comprehensive consciousness yield the seven generic views of reality. No succeeding view ought to be reduced to its preceding view or views : that would coming the fallacy of reductionism, This is how a *i,t,s,dr* turns into a *vâda*, i.e., a closed theory or dogma.

The Self (pramâtâ) : The self is the unchanging constant in a knowledge situation; were it changeable, there would be none to witness or know the changes. Secondly, none can deny his own experience, for, he who denies would surely exist and therefore, be the self.

The self appears or operates as the body, the senses, the outer mind, the intellect, the inner mind, the ego, and as the self itself for the seven modes of experience, respectively.

The subject varies according as the self is identified with the body *(sthûlaúarîra)*, senses *(indriya)*, outer mind *(manas)*, intellect *(buddhi)*, inner mind *a),,karan,(antah* ego*(aham)*, and the self *(âtman)*. With this varies the scope of the word 'object.' So these two (i.e., subject and object) are correlatives and they are simultaneously changing character within their absolute meanings. The semantic consequences of this may be noted.

When the body is the subject, the outer world is the object. When the senses are the subject both the outer world and the body are the object. When the outer mind is the subject, the foregoing three, viz., body, senses and the outer world are the objects. When the intellect is the subject, the outer mind too becomes the object along with the other three preceding it. With inner mind as the subject, we have the intellect too as the object along with foregoing four. Inner mind becomes a member of the set of object when the ego is the subject. And finally, with the self itself as the subject all others including ago are the object.

The differences in the conventions of Indian and Western philosophy may be noted here to prevent confusion. In Indian philosophy the polar categories are matter and spirit*a, cetana),(jad*: from body to ego is matter, the self is the spirit. In Western philosophy the polar categories are body and mind : body is body the *sthûlaúarîra;* the rest including the self are mind.

References

Harold Osborne, (ed.): Aesthetics, Oxford University Press 1978

F.E. Sparshott: Structure of Aesthetics

B.S. Sanyal, Logic: General & Analytic, P.C. Manaktala & Son's, Mumbai 1967

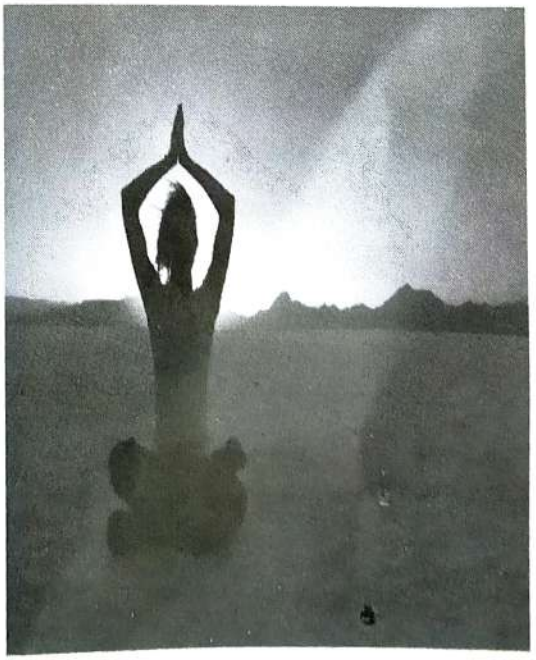

संगीत और समाज : एक अन्योन्याश्रय संबंध

डॉ. पुष्पम् नारायण

एसोसिएट प्रोफेसर, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिए संगीत भी मनुष्य से जुड़ा होने के कारण समाज में अपना विशेष स्थान रखता है। जन्म-मरण की परिधि में बंधा मनुष्य सृष्टि से ही संस्कार बटोरकर उत्पन्न हुआ। संगीत की सृटि नाद से होती है। जिस तरह मिट्टी या पत्थर से मूर्ति, रंग से चित्र और ईंट, पत्थर से महल तैयार होता है उसी तरह नाद से संगीत प्रस्फुटित होता है। मिट्टी आदि की तरह ही नाद संगीत का उपादान मात्र है। कोई नाद चाहे जितना भी श्रुति मधुर हो अकेला संगीत का रूप नहीं हो सकता। किसी भी कलाकृति के लिए अच्छे उपादान को ग्रहण करना उचित है और इस दृटि से गीत के लिए कर्णप्रिय नाद भी आवश्यक है पर कर्णप्रिय नाद स्वयं न तो संगीत है और न संगीत के लिए अनिवार्य है। कला की सृटि उसके उपादान के रीतिगत उपयोग या प्रबंध से होती है।

मनुष्य कलाओं को भी समाज से ही सीखता है। कला की कार्य करने की प्रेरणा भी उसे अपने सामाजिक जीवन की अनुभूतियों से ही प्राप्त होती है। उसकी कला का रूप उसकी अनुभूतियां होती है। इसलिए कला का रूप उसकी सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति करना है। अतः समाज से अलग कला का कोई अस्तित्व नहीं होता है। किसी भी जन समाज की कला उसकी मानसिकता से निर्धारित होती है। वह निरंतर विकसित और परिवर्तित होती रहती है। भारतवर्ष की संगीत-कला भी सदैव परिवर्तनशील रही है।संगीत विशिष्ट सामाजिक व भौगोलिक परिस्थितियों की उपज है। यही कारण है कि पूर्वी देशों का संगीत पयिचम से तथा पष्चिमी देशों का संगीत पूर्वी दुनिया से अलग है। यहां तक कि एक ही देश में उ ार भारतीय संगीत और दक्षिण भारतीय संगीत एक-दूसरे से भिन्न है, इसका मुख्य कारण अलग-अलग समाजों की अपनी मौलिक परम्पराओं और संस्कारों का होना है। संगीत में समाज के यही विशिष्ट संस्कार अभिव्यक्ति पाते हैं।

समाज की परिस्थितियों के अनुसार संगीत बदल जाता है। जैसे-वैदिक काल में संगीत का सर्वाधिक रूप से प्रयोग ईश्वरोपासना के लिए किया जाता था किन्तु बाद में समाज की रूचि के अनुसार यह विलासिता एवं मनोरंजन का साधन बन गया। आज संगीत का प्रयोग समाज के कल्याण के लिए, ख्याति अथवा यश के लिए, धन अर्जित करने के लिए किया जाता है। मनुष्य की अभिव्यक्ति में संगीत रचना अति प्राचीन है। बालक पैदा हाते ही मुंह से स्वर निकालता है और मुभाएं बनाता है अपनी अभिव्यक्ति के लिए और इससे सफलता भी पाता है। परंतु इससे वह आरंभ में साफ-साफ अपनी सब इच्छाओं को व्यक्त नहीं कर पाता है। जैसे-जैसे बालक बढ़ता है, वह इशारों, मुभाओं तथा स्वरों और शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग करता जाता है। स्वर का ज्ञान बालक को होता है इसलिए वह इसके द्वारा अपने भूख-प्यास की अभिव्यक्ति किया करता है। वास्तव में स्वर ही संगीत है चाहे उसकी जो भी अवस्था हो इसी प्रकार आदिम-संगीत का कलात्मक माध्यम समाज की स्थिति का द्योतक है। इतना ही नहीं आदिम-संगीत

तो तत्कालीन समाज की सही-सही अनुकृति है। आदिम संगीत के साथ सामाजिक तथ्य के ताने-बाने भी जुड़े रहते हैं। आदिम-मनुष्य के नाचने, गाने में उसके समाज की तत्कालीन आवश्यकता प्रतिबिम्बित होती है।पूर्व पाषाणकाल के मनुष्यों का गाना भी स्वरों पर ही आधारित है। जब किसी शिकार को ये लोग मार लिया करते थे तो वे स्वर के टेढ़े-मेढ़े आलाप भरकर अपने आनंद की अभिव्यक्ति करते थे। वे लोग विभिन्न स्वरों के द्वारा ही अपने आंतरिक हर्ष एवं विषाद को अभिव्यक्त किया करते थे। उ ार पाषाणकाल में लोगों में सामाजिक भावना उदय हो चुकी थी। इसलिए सामूहिक संगीत का जन्म इस युग में हो गया था। वे युद्ध में भी संगीत का प्रयोग करने लग गए थे। महिलायें काम करते वक्त एक प्रकार का मीठे स्वर निकालती थी, और इसी प्रकार पुरूष वर्ग भी काम करते वक्त अपने स्वर का आलाप विभिन्न ढंग से करते थे। ऐसा आभास होता है कि काम करने की प्रेरणा भी इनके स्वरों के द्वारा ही मिलती थी। समाज में महिला वर्ग भी संगीत में भाग लिया करती थी। अतः इस काल में किसी भी सामाजिक कार्य के संचालन में स्वर को विशेष स्थान दिया गया है।वैदिक कालीन समाज के निर्देशक वेद ने भी संगीत के महत्व को स्वीकारा और एकता में सहायक माना है। इसलिए तो ऋचाओं को स्वरात्मक करके एक वेद का निर्माण कर उसे 'सामवेद' नाम दे दिया। वैदिककालीन समाज के सामाजिक संगठन का मूलाधार परिवार था प्रत्येक परिवार में संगीत का उत्कृष्ट स्थान था। परिवार में संगीत का आयोजन परिवार की नारी-गृहलक्ष्मी ही करती थी। सुबह-शाम प्रत्येक परिवार में ईश्वर-उपासना होती थी। ारच्चन्भ श्रीधर परांजपे ने कहा है- ''सामवेद भारतीय कला का प्राचीनतम निदर्शन है। इसका स्त्रोत तत्कालीन लोकसंगीत ही रहा है। तथापि यज्ञयाग जैसे धार्मिक समारोहों से तथा समाज के उच्च वर्ग से संबंध होने के कारण उसमें संस्कार तथा नियमबद्धता की मात्रा बढ़ गई और उसे शिष्ट सम्मत मार्ग-संगीत का स्वरूप प्राप्त हुआ।'' महाभारत कालीन समाज में संगीत को हेय दृष्टि से नहीं देखा गया था। इसका सभी वर्गों में प्रचार था। ब्राह्मण भी संगीत श्रवण करते थे। क्षत्रिय राजा भी संगीत से घिरे रहते थे। देवता भी संगीत से घिरे रहते थे। संगीतकार को राजा अपनी कन्या देने से भी नहीं हिचकता था। संगीत का व्यवसाय करने वाले को सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं दी जाती है।रामायण काल में संगीत जीवन का अभिन्न अंग था। राजा, प्रजा, नर, नारी, वारन, राक्षस आदि सभी वर्गों में संगीत का प्रचार था। उत्सव एवं समारोहों का ही नहीं वरन् नागरिकों के दैनिक जीवन का भी यह अभिन्न अंग था।इस काल में संगीतकारों के अंतर्गत संगीत विधा के वे ज्ञाता आते हैं जो व्यवहार एवं सिद्धांत दोनों क्षेत्रों में कुशल हो। उपर्युक्त प्रमाणों के प्रकाश में रामायण में संगीतकारों की स्थिति माननीय मानी जाती थी।

भरत के नाट्यशास्त्र में सामाजिक पक्ष पर प्रकाश नहीं डाला गया है क्योंकि यह नाट्यकला से संबंधित ग्रंथ है। किन्तु इस ग्रंथ के अध्ययन से अंत्तोगत्वा यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि संगीत का समाज में इतना अधिक प्रचार बढ़ गया था कि भरत ने भी इसका उल्लेख अपने ग्रंथ में यथास्थान किया है। शास्त्रीय संगीत इस काल में समाज में विकसित हो गया था जैसा कि इससे उल्लिखित शास्त्रीय संज्ञाओं के उल्लेखों से स्पष्ट होता है।अतः यह कहना अतिश्योक्ति न होगा कि संगीत-कला दिनोंदिन उन्नत हो रही थी एवं धीरे-धीरे समाज के सभी पक्षों में प्रविष्ट हो रही थी।

इस समय संगीत समाज और व्यक्ति के जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान बना चुका है। जन्म से लेकर जीवन के अंत तक प्रत्येक संस्कार के साथ जो भी पूजा-पाठ अथवा समारोह मनाया जाता है, सभी में संगीत लगभग अनिवार्य हो गया है। एक प्रकार से वह संस्कृति का विशेष अंग बन गया है। भक्ति और श्रृंगार रसों की ही प्रधानता लोकगीतों में देखी जा सकती है। संगीतकारों ने या तो कल्याण की आकांक्षा हेतु इन गीतों के माध्यम से देवी देवताओं की प्रार्थना की है या विविध उत्सवों को रोचक और सरस बनाने

के लिए इनकी रचना की है। अतः संगीत से समाज के प्रत्येक व्यक्ति का परिचय सिद्ध हो जाता है। संगीत के आयोजन के बिना प्रत्येक संस्कार अधूरा समझा जाता है। संगीत की लोकप्रियता का एक बहुत बड़ा प्रमाण यह है कि बड़े-बड़े संगीतज्ञों द्वारा बनाई गई बंदिशें भी जन्म यज्ञोपवीत, विवाह आदि की विभिन्न रीतियों के निर्वाह के अवसर पर गाये जाने के लिए लिखी गयी। शास्त्रीय और लोक संगीत दोनों ही प्रकार के वर्गों में हमें ऐसी रचनाएं प्राप्त है।सामूहिक रूप से मनाया जानेवाला प्रत्येक उत्सव संगीत और नृत्य के संयोग से सरस बना लिया जाता है। औरंगजेब के कठोर नियमों के कारण मुगल राजदरबार में इस प्रकार के सामूहिक संगीत और नृत्य को स्थान नहीं मिला था परंतु उस युग में, रजवाड़ों में सामंतों के दरबार में तथा ग्रामीण जीवन में सभी उत्सव सामूहिक रूप से गा-बजाकर और नाचकर मनाये जाते थे। इसका प्रमाण यही है कि हमें सामूहिक गान तथा सामूहिक नृत्य व रास के अवसर पर गाये जानेवाले गीत प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उत्सवों पर सामूहिक रूप से गान और नृत्य का प्रयोग जनता की संगीत में रूचि का परिचायक है। आधुनिक कालीन समाज से संगीत का संबंध-बीसवीं शताब्दी में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन और क्रांति के शंखनाद से हो चुका है। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत हमारे देश में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। देश में प्रत्येक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। प्रजातंत्र की स्थापना हुई, जिससे देश की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में भी बदलाव आए। इन परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप मानवीय भावनाओं का जो आधुनिकीकरण हुआ उसके परिणामस्वरूप लोकसंगीत ने भी एक नई करवट ली।स्वतंत्र अधिकार समाप्त हो जाने पर भी कुछ महाराजाओं ने संगीत क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है, जैसे ग्वालियर के महाराजा सिंघिया, बड़ौदा के महाराज सियाजीराव, रामपुर के नवाब हामिद अली खां और उनके सुपुत्र रजा अली खां के नाम उल्लेखनीय है। फलस्वरूप संगीत राज दरबारों के संकुचित दायरे से बाहर निकला और उसे जनसाधारण से सीधा संपर्क प्राप्त हुआ, वह संपर्क जो प्राचीनकाल में मंदिरों के घेरे में रहने के कारण तथा मध्यकाल में राज-दरबारों तथा नवाबों की महफिलों की चहारदीवारी में बंद रहने के कारण हुआ था। लोकतंत्र की स्थापना के साथ आकाशवाणी, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाओं जैसी चीजों के आगमन से संगीत का प्रचार व प्रसार दूर-दूर तक हुआ, जिससे जनता में संगीत के प्रति जागरूकता आ गई।

आकाशवाणी व दूरदर्शन के माध्यमों ने सभी प्रकार के संगीत को एक जगह ला इकट्ठा किया और एक साथ सभी को सुनने की सुविधा प्रदान की। संगीत के इतिहास में यह एक क्रांतिकारी घटना थी। घरानों के बंधनों से निकलकर समाज में लोक संगीत जनमानस के मध्य प्रतिष्ठित व लोकप्रिय हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में संगीत पर लेख सामग्री आदि प्रकाशित कर संगीत के सैद्धांतिक पक्ष से जनता को अवगत कराया। इस प्रकार जनसाधारण में एक नवीन सांगीतिक चेतना का अभ्युदय हुआ।संगीत जन-आकर्षण एवं प्रचार-प्रसार के लिए सबसे सरल-सहज साधन माना गया है। यह मनुष्य की जन्मजात प्रवृति है। भगवान का मनुष्य जाति के लिए संगीत सबसे बड़ा वरदान है। वह जन्म से मृत्यु-पर्यन्त सुख-दुख को संगीत की स्वरलहरियों में प्रवाहित कर लेता है। अतः देशभक्ति के गीतों से जनचेतना एवं स्वतंत्रता आंदोलन का आधारभूत स्तंभ निःसंदेह संगीत बना। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत समाज में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया। सामन्तवाद का अंत हुआ और उसकी जगह पूंजीवाद ने ले ली। नव-निर्मित पूंजीपति समाज संगीत की ओर आकृट हुआ। बींसवीं सदी के पूर्वाद्ध तक संगीत व नृत्य वेश्याओं व कोठे की वस्तु समझा जाता था। कुलीन घराने की लड़कियों के बारे में संगीत शिक्षण की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। इसका मुख्य कारण था कि उ ार भारतीय संगीत की बंदिशों के साहित्य में मानवीय व्यवहार के विभिन्न भावों का प्रकटन होता है। उसमें श्रृंगार

रस की अधिकता दिखाई देती है। समाज में इस धारा को पुष्ट किया गया कि यह कल्पनाएं हमारी हीन अभिरूचि को दर्शाती है। क्योंकि भभ-समाज ने ही हमारे संगीत व संगीतकारों को बहिष्कृत किया। फलस्वरूप संगीत विलासिता व मनोरंजन का साधन बन गया। परंतु धनाढ्य मध्यमवर्गीय समाज के उदय के पश्चात् संगीत, जो कि निम्नवर्गीय लोगों की वस्तु समझा जाता था, उसे अब समाज में उच्च दृष्टि से देखा जाने लगा। फलस्वरूप संगीत के आश्रयदाताओं की संख्या बढ़ गई क्योंकियह धनाढ्य वर्ग संगीत को प्रोत्साहन देने में काफी रूचि रखता था। धीरे-धीरे संगीत को समाज में बहुत बढ़ावा मिला और उत्कृट स्थान प्राप्त हुआ। संगीत विद्या में निुपण होना एक अतिरिक्त योग्यता मानी जाने लगी । मध्यवर्गीय और उच्चवर्गीय समाज में संगीत शिक्षण का प्रचार व प्रसार हुआ। संगीत का फैलाव समस्त जन समुदाय के मध्य हुआ। इन सब परिवर्तनों के फलस्वरूप भारतीय संगीत भी प्रगतिषील बदलाव की ओर अग्रसर हुआ।

संदर्भ ग्रंथ

1. परांजपे, शरच्चन्भ श्रीधर, संगीत बोध, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1972.
2. परांजपे, शरच्चन्भ श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल.
3. पाठक, जगदीश नारायण, संगीत निबंध माला, प्रयाग संगीत समिति, इलाहाबाद 1970.
4. भातखण्डे, विष्णु नारायण, उत्तर भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास, संगीत कार्यालय, हाथरस.
5. भातखण्डे, विष्णु नारायण, संगीत पद्धतियों का तुलनामक अध्ययन, संगीत कार्यालय, हाथरस.
6. मदन, पन्ना लाल, संगीत कला का इतिहास, कृण नगर, होशियारपुर, 1970. महालक्ष्मी, भारतीय नृत्य शिक्षा, देहाती पुस्तक भण्डार, दिल्ली.

संगीत में महिला कलाकारों का योगदान

डॉ. रीता दास

रीडर, विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, जे. डी. वीमेन्स कॉलेज, पटना

नारी ईश्वर की अद्‌भुत-अलौकिक, शक्ति सृष्टि है। शक्ति, त्याग, दया, ममता एवं प्रेम जैसे दिव्य गुणों की प्रतीक है। सृष्टि के आरम्भ से आज तक नारी सुर, नर, मुनि की माता, पत्नी, प्रेयसी, गुरू, शिष्या आदि के रूप में प्रेरित करती आई है। माँ सरस्वती ज्ञान की आदि-श्रोत हैं। देवता आदि भी माँ शारदा का स्मरण करते आए हैं। यह अलग बात है कि श्री गणेश को प्रथम पूजा जाता है और उन्हें *'विद्या वारिधि बुद्धि विधाता'* कहते हैं। यूँ तो श्री हनुमान को भी *विद्यावान गुनी अति चातुर* माना जाता है, किन्तु मुख्य रूप से संगीत की तो एक मात्र सरस्वती ही देवी है। वीणावादिनी ने मुनि नारद द्वारा तीनों लोकों में ज्ञान का प्रसार करवाया। माँ सरस्वती का स्मरण प्रत्येक संगीत से संबंद्ध कार्यक्रम के प्रारम्भ में किया जाता है। इस क्षेत्र में भी यदि देखे तो नारी ही प्रेरक शक्ति रही है। आधुनिक युग में जबकि महिला हर क्षेत्र में पुरूषों की बराबरी कर रही है तो संगीत तो उसका अपना ही क्षेत्र है। इस क्षेत्र के प्रति उसका रूझान सहज एवं स्वाभावानुकुल है। संगीत शिक्षा से लेकर कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित होने तक के समय का अन्तराल अनेंकानेक संघर्षों एवं समस्याओं से युक्त है।संगीत के क्षेत्र में भी महिलाओं का बहुमु,खी योगदान रहा है। गीत वद्‌य और नृत्य तीनों क्षेत्रों में महिलाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। नारी सुलभ सौन्दर्य से जहां महिलाओ ने जन जन को आकृष्ट किया है वहीं भावपूर्ण मुभाओं से अनेक नृत्य भंगिमाओं की सृष्टि की है। नारी कंठ स्वभाव से मधुर माना गया है। अतः गीत की प्रस्तुति में उसके लचीले सहज संचरण ने उसकी सूक्ष्मता को द्विगुणित किया है। वाद्‌य वादन में भी नारी पीछे नहीं रही है। और उसके कोमल उंगलियों के झंकार से श्रुति माधूर्य की सृष्टि होती रही है।

ब्रिटेन, जिसे सुशिक्षित और बौद्धिक होने का मान्यता प्राप्त है, वहां 19वीं शताब्दि तक महिला को अपना मतदान करने का अधिकार प्राप्त नही था। 20वीं शताब्दि के आरम्भ में महिला को मताधिकार प्राप्त हुआ, साथ ही और अन्य सामाजिक अधिकार भी मिले। 19वीं शताब्दि तक भारत में महिलाओं को शिक्षा प्राप्त करने की कोई गुंजाईश नहीं थी। वस्तुतः लोग महिला शिक्षा को महत्वपूर्ण और आवश्यक नही मानते थे। जब 20वीं शताब्दि में महिला शिक्षा आरम्भ हुई तो भारत के कुछ ही प्रान्तों में जैसे, बंगाल, केरल तथा तमिलनाडु में महिला शिक्षा आरंभ हुई।

जब भारत में महिलाओं ने शिक्षा की शुरूआत हुई तब इसकी आरंभिक पीढ़ियों में श्रीमती सरोजनी नायडू, राजकुमारी अमृत कौर, तथा श्रीमती महादेवी वर्मा जैसी महिलाएं भारतीय नारी की गरिमा स्थापित

करने में अग्रणी रही हैं। श्रीमती सरोजना नायडू को केम्ब्रीज विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा हुई थी। वे राष्ट्रीय कॉग्रेस पार्टी की अध्यक्ष रही। जब 1949 ई. के फरवरी माह में देहान्त हुआ तब वह उत्तर प्रदेश की राज्यपाल थीं। राजकुमारी अमृत कौर कपूरथला (पंजाब) की राजकुमारी थी और 1947 ई. में पंडित जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में जब प्रथम केन्भिय मंत्रीमंडल का गठन हुआ तब वह इस मंत्रीमंडल में स्वास्थ्य मंत्री नियुक्त की गईं।

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म गोरखपुर उत्तर प्रदेश में हुआ था लेकिन वे जीवनपर्यन्त इलाहाबाद में रहीं। वे संस्कृत में एम. ए. थीं और इलाहाबाद में संस्कृत कॉलेज की प्राचार्या रही। वहां की सभी कवित्रियों में वे सर्वश्रेष्ट थीं। वे छायावादी युग की अग्रणी कववित्री माना जाती थी। जीवन के अन्तिम दिनों तक वे लेखिका के रूप में सक्रिय रहीं। हिन्दी काव्य तथा गद्य के विकास में कुछ चुने साहित्यकारों का नाम आता है, जिसमें महादेवी जी को विशेष स्थान प्राप्त था। उत्तर भारत में साहित्य जगत में वे एक सम्मानित साहित्कार मानी जाती हैं। 20वी शताब्दी के पूर्वाद्ध में इन महिलाओं के कारण भारत विश्व-स्तर पर अपने गौरव की घोशणा करने की स्थिति में आ गया। स्वतंत्रता से पहले महिलाएं न संगीत सीखती थी और न ही संगीत को आजीविका बनाने का प्रश्न ही उठता था। पहले लोंगों की मान्यता थी कि महिलाओं में गाने-बजाने का काम गणिका-गंधर्व ही करती थीं। सभ्य मध्यवर्गीय परिवार की महिलाओं के लिए संगीत शिक्षा उचित नही माना जाता था। जबकि उत्तर भारत के संगीत जगत में तीसरे दशक में शास्त्रीय संगीत की कुछ प्रवीण गायिकाएं देश भर में सुविख्यात हो चुकी थीं।

शास्त्रीय गायन - इनमें कुछ गायिकाओं के नाम इस प्रकार हैं- सुश्री केसरबाई केलकर, श्रीमती मोघुबाई कुर्डीकर (जयपुर अतरौली घराना), श्रीमती हीराबाई बड़ोदेकर तथा रौशन आरा बेगम (किराना घराना)। जब ये गायिकाएं प्रकाश में आई और देश भर में अपना शास्त्रीय गायन प्रस्तुत करने लगीं उस समय इनके बराबरी की देश भर में अन्य कोई गायिकाएं नहीं थी और सच्चाई यही है कि अभी तक उस बराबरी की गायिकाएं नही हुई। ये सभी कलाकार मील की पत्थर साबित हुईं। केसरबाई और मोघुबाई उस्ताद अलादीया खाँ की शिष्या थीं। हीराबाई किराना घराने के नायक उस्ताद अब्दुल करीम खाँ की सुपुत्री तथा शिष्या थीं। उन्होंने किराना घराने के दूसरे सिद्धहस्त उस्ताद बहरे वहीद खाँ से मुंबई में ख्याल गायकी की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। वहीं रौशन आरा बेगम उस्ताद करीम खाँ के छोटे भाई उस्ताद अब्दुल हक की सुपुत्री और शिष्या थी। प्रारंभिक शिक्षा काल में बिहार के पटना सिटी में वर्षों तक लगातार रही। फिर उन्होंने मुंबई जाकर अपने चाचा अब्दुल करीम खाँ से भी तालिम पाई और एक महान और कुशल गायिका के रूप में विख्यात हुई। उनकी आवज में माधुर्य था। कोई गायिका उनके जैसा तैयार तान के साथ ख्याल प्रस्तुत नही करती थी। साथ ही ठुमरी गाने में भी वे बेजोड़ थी। जिन्होंने उनकी ठुमरी एक बार सुनी, उसे वह आजीवन नही भुला पाए।

सुश्री केसर बाई ने उस्ताद आलादीन खाँ से कम से कम दस वर्षों तक लगातार तालिम पाई। जब पूरी तालिम पाने के बाद अपने उस्ताद की आज्ञा लेकर सर्व प्रथम कलकता में अपना गायन प्रस्तुत किया तो संपूर्ण संगीत जगत ने उनकों सर्वश्रेष्ट विदुषी गायिका के रूप में मान्यता प्रदान की। उनके जैसी चैनदारी के साथ राग के प्रत्येक

स्वर और बढ़त विस्तार करने में वे बेजोड़ थी। खुली आवाज में स्वरों का लगाव और ठहराव उनके गायन का विशेष आर्कषण था। श्रीमती हीराबाई बरोदकर की गायकी चैनदारी की गायकी थी। उनके गाने में स्वर माधुर्य और क्रमबद्धता निरंतर कायम रहती थी। राग के स्वरों का क्रमबद्ध विस्तार, अपनी सुरीली आवाज में भावपूर्ण ढंग से जब वे करती थीं, तो श्रोताओं को करीम खाँ साहब और बहरे वहीद खाँ की याद बरबस हो जाया करती थी। निस्संदेह इन यशस्वी गायिकाओं के अवदान से ख्याल तथा ठुमरी की गान कला का क्षेत्र और भी विकासित हुआ। इनके गायन से शास्त्रीय गान कला में मानदण्ड कायम हुए।

यहां किराना घराने की एक गायिका का चर्चा करना आवश्यक समझती हूं वह थी श्रीमती मानिक वर्मा। उनका जन्म मुंबई के दादर में हुआ था और शात्रीय गायन की शिक्षा उस्ताद करीम खाँ के सुपुत्र सुरेश बाबु माने तथा सुपुत्री हीराबाई बरोदेकर से प्राप्त हुई थी। उनका गायन अत्यन्त सहज और सुस्पष्ट स्वरोच्चार के कारण अत्यन्त प्रभावकारी होता था। परंतु दुर्भाग्यवश ब्रेन टयूमर की बीमारी के कारण वह असमय दिवंगत हो गई। लेकिन लगभग दस वर्षों तक देशभर में उन्होंने अपना सरस गायन प्रस्तुत किया और कलाकार के रूप में अच्छी ख्याति अर्जित की। उनके जैसी साफ सुथरी गायकी सदैव प्रभावकारी और प्रशंसित होती है। ख्याल के अतिरिक्त वह ठुमरी और भजन भी वह भावपूर्ण ढंग से गाती थी। उनके ज़ैसी कलाकार का असमय निधन शास्त्रीय संगीत के लिए एक बड़ी क्षति है।

वादय संगीत के क्षेत्र में भी कुछ महिला कलाकार अपना स्थान कायम करने में सफल रही हैं। ये महिला कलाकार सुशिक्षित थी और संभ्रान्त परिवार से आती थी। उदाहरण के लिए कुछ नाम निम्नलिखित है- स्व. श्रीमती शरण रानी बाकलीवाल (सरोद), श्रीमती जया विश्वास (सितार), श्रीमती जरीन दारूवाला (सरोद), श्रीमती कल्याणी राय (सितार), श्रीमती शिशिर कनाधर चौधरी (वायलिन), तथा डॉ. एन. राजम (वायलिन)। श्रीमती शरण रानी को उस्ताद अली अकबर तथा बाबा अलाउद्दीन खाँ से सीखने का सौभाग्य मिला। महिला संगीतज्ञों मेंअग्रणी शरण रानी सेनिया घराने की प्रतिष्ठित प्रतिनिधि सरोद वादिका रही है। इन्हें संगीत विरासत के रूप में नही मिला। इनकी अन्तः प्रेरणा ही इन्हें संगीत की ओर ले गई। रूढीवादी विचारों के विरूद्ध संघर्ष कर अपने संगीत को महत्वपूर्ण स्थान दिया। साथ ही शैक्षणिक योग्यता में भी इन्होंने अंग्रजी में एम. ए. किया था। मुंबई की श्रीमती जरीन शर्मा सरोद वादन में एक निपुण कलाकार हैं। इन्होंने संगीत की शिक्षा श्री हरिपद घोश, श्री व्ही. जी. जोग तथा पंडित लक्ष्मण प्रसाद जयपुरवाले से ली। अल्पकाल से ही जरीन शर्मा ने संगीत में काफी यश अर्जित किया। श्रीमती शिशिर कनाधर चौधरी एक प्रतिष्ठित वायलिन वादिका हैं। इन्होंने पंडित व्ही. जी. जोग तथा उस्ताद अली अकबर से प्रशिक्षण प्राप्त किया था। आप भारत के प्रमुख शहरों में एक विशिष्ट वायलिन वादिका के रूप में विख्यात है। डॉ. एन. राजम, श्री ए. नारायण अईयर की सुपुत्री हैं तथा एक प्रतिष्ठित वायलिन वादिका हैं। कम उम्र से ही अपने पिता से संगीत की शिक्षा ग्रहण की साथ ही श्री एल. आर. केलकर तथा संगीत मार्तण्ड पंडित ओंकार नाथ ठाकुर जैसे महान विभूति का शिष्यत्व ग्रहण किया और एक सफल कलाकार के रूप में स्थापित हुई।

तबला वादन के क्षेत्र में दो महिला कलाकारों का नाम विख्याता है- प्रथम डॉ. योग माया शुक्ला

(दिल्ली) तथा दूसरे डॉ. अबान ई. मिस्त्री मुंबई। डॉ. योग माया शुक्ला का जन्म असाम के सिलचर शहर में हुआ परन्तु तबला-वादन की शिक्षा इन्होंने विख्यात मृदंगाचार्य पंडित सखाराम तथा उस्ताद मुन्ने खाँसे वर्षों तक प्राप्त किया आप दिल्ली विश्वविद्यालय के संगीत विभाग में कार्यरत रहीं। डॉ. अबान ई. मिस्त्री फरूखाबाद घराने के उस्ताद अमीर हुसैन की शिष्या थी साथ ही इन्होंने तबला तथा पखावज पर एक विस्तृत ग्रंथ भी लिखा है। आप मुंबई स्थित संस्था स्वर साधना समिति की संस्थापक भी रही है। इन उपर्युक्त महिला कलाकारों की संगीत शिक्षा तथा कला साधना के कारण आज भारतीय शास्त्रीय संगीत का पथ प्रसस्त हो चुका है। शास्त्रीय संगीत की विकास में इन महिला कलाकारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ये सभी कलाकार सामान्य श्रोताओं के समक्ष अपना कार्यक्रम करती रही है। जिससे शास्त्रीय गायन वादन का समाज में अच्छा प्रचार प्रसार हुआ। आज देश भर में जितनी महिलाएं संगीत शिक्षा प्राप्त कर रही है उनकी गिनती नही की जा सकती। इनमें से कई निसंदेह स्तरीय कलाकार बनने की प्रतिभा रखती हैं।

अतः नारी को स्वाधीन बनाने व उसे पुरूष के बराबर बनाने का काम तबतक सफल नही हो सकता जबतक उसको निजी पारिवारिक परिश्रम की सीमा से बाहर निकालकर सामाजिक उत्पादन के परिश्रम में नही लगाया जाता। नारी तभी स्वाधीन हो सकती है जब सामाजिक उत्पादन में बहुत बड़ी संख्या में भाग लेने लगे और पारिवारिक परिश्रम में उसे कम से कम समय देना पड़े। नारी की स्वाधीनता का मार्ग न तो पारिवारिक परिश्रम में है और न मध्यम वर्गीय शिक्षिता कमाने वाली नारी बनने में ही है।

यह रास्ता सामाजिक क्रांति में है- वैसी सामाजिक क्रांति में है जो उत्पादन के साधनो पर व्यक्तिगत सम्पति का वर्ग शासन का और साथ ही साथ नारी के उपर पुरूष की सत्ता का नाश करे। यह कहना अनुचित न होगा की बड़े उद्योग धंधों में बड़ी संख्या में नारी को काम करने का अधिकार मिलने और उस अधिकार को अधिकाधिक प्राप्त करने की चेतना जगने से, इस युग में नारी की स्वाधीनता का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

Making Statistical Analysis Reporting More Easy For the Researchers

Yogita M. Sanas

Assistant Professor in Statistics, L.D. Sonawane College, Kalyan

Abstract

The purpose of this article is to provide researchers, with a set of guidelines for what to expect in an article while reporting basic statistical techniques to avoid errors in the application, analysis, interpretation, or reporting of statistics or in the design or conduct of research. Tables, figures, and charts that should be included to comprehensively assess the results and assumptions to be verified are discussed. This article demonstrates the preferred pattern for the reporting of statistical tools. The purpose in specifying these standards is to provide guidance about the kinds of information essential to understanding both the nature of the research and the importance of the results. In this write-up various basic components of research are listed and brieûy discussed. Various stages of research are discussed in detail. The aim of these guidelines is to provide prospective authors with succinct indications of the expectations of statistical quality while reporting statistical analysis. They are written assuming a familiarity with common statistical terminology and methods, and are advisory rather than mandatory. If authors are in any doubt, they should consult a statistician at the planning stages of their study.

Keywords:- statistical errors, stages of research, reporting basic statistical techniques, statistical quality etc.

Introduction

Concepts and procedures in statistics are inherent to publications in science. However, many researchers appear to misunderstand fundamental concepts in statistics. In addition, statisticians have documented that statistical errors are common in the scientific literature: roughly 50% of published articles have at least one error[1]. This misunderstanding and misuse of statistics jeopardizes the process of scientific discovery and the accumulation of scientific knowledge.

Most published articles in journals contain analysis that have been carried out without any help from a statistician. Although nearly all researchers have some acquaintance with basic statistics, there is no easy way for them to

acquire insight into important statistical concepts and principles. There is also little help available about how to design analysis and write up a whole project. Partly for these reasons much that is published in journals is statistically poor or even wrong. A high level of statistical errors has been noted in several reviews of journal articles and has caused much concern.Although errors have been found in more complex statistical procedures , paradoxically, many errors are in basic, not advanced, statistical methods[15]. Perhaps advanced methods are suggested by consulting statisticians, who then competently perform the analysis, but it is also true that authors are far more likely to use only elementary statistical methods, if they use any at all[7]. Still, articles with even major errors continue to pass editorial and peer review and to be published in leading journals.

The truth is that the problem of poor statistical reporting is long-standing, widespread, potentially serious, concerns mostly basic statistics, and yet is largely unsuspected by most readers of the literature.

O'Fallon and colleagues recommended that "Standards governing the content and format of statistical aspects should be developed to guide authors in the preparation of manuscripts"[12]. Despite the fact that this call has since been echoed by several others , most journals have still not included in their Instructions for Authors more than a paragraph or two about reporting statistical methods. However, given that many statistical errors concern basic statistics, Comprehensive and comprehensible set of reporting guidelines might improve how statistical analyses are documented.

With reference to the above, we present here a set of statistical reporting guidelines suitable for authors. This paper tells authors, how to report basic statistical methods and results. Though these guidelines are not sufficient to prevent most of the reporting deficiencies routinely found in scientific articles; they may also help to prevent some reporting errors by focusing attention on key points in the analysis.

Basic requirements for study

The basic preliminary step is to modify raw data before analysis, for that indentify the statistical procedures to be used, for examples transform continuous measurements mathematically to make distributions closer to the normal distribution by creating ratios or other derived variables, and collapsing continuous data into categorical data or combining categories. After describing the purpose of the analysis, identify the variables used in the analysis and summarize each with descriptive statistics. Main methods for analyzing the primary objectives of the study should be described by making clear which

method was used for each analysis, rather than just listing in one place all the statistical methods used. Verification of the data conformed to the assumptions of the test used to analyze should be done i.e. in particular, specify that 1) skewed data were analyzed with non-parametric tests, 2) paired data were analyzed with paired tests, and 3) the underlying relationship analyzed with linear regression models. For multiple comparisons whether and how adjustments were made has to be indicated properly. If relevant, report how any outlying data were treated in the analysis. By giving justification mention whether tests were one- or two-tailed . After that report alpha level (e.g., 0.05) that defines statistical significance.

When a software package for statistical analysis, such as SAS (Statistical Analysis System) or SPSS (Statistical Package for the Social Sciences) is used, the name and version should be given. If methods such as sensitivity analyses, imputation of missing values, or testing of assumptions underlying used as a supplementary then it must be clearly described. Identify post-hoc analyses, including unplanned subgroup analysis.

The results of statistical analysis help to understand the outcome of study. Statistics should be used to substantiate findings and help to say objectively when results are significant. Therefore, when reporting the statistical outcomes relevant to study, subordinate them to the actual results. Calculation of any summary statistics leads to loss of much information from the original data. It is necessary to present not only summary statistics and testing results, but also the individual data as effectively as possible.

Reporting descriptive statistics

Descriptive statistics are used to describe the basic features of the data in a study. They provide simple summaries about the sample and the measures. Together with simple graphics analysis, they form the basis of virtually every quantitative analysis of data. Descriptive Statistics are used to present quantitative descriptions in a manageable form. In a research study we may have lots of measures. Or we may measure a large number of people on any measure. Each descriptive statistic reduces lots of data into a simpler summary.

First step is to report numbers, especially measurements with an appropriate degree of precision. For simplicity, round to a reasonable extent. Total sample and group sizes for each analysis, numerators and denominators for all percentages are to be reported. Summarization of the data that are approximately normally distributed with means and standard deviations (SD), use the form: mean (SD), not mean ± SD. Similarly the data that are not normally distributed with medians and interpercentile ranges, ranges, or

both, the upper and lower boundaries of interpercentile ranges and the minimum and maximum values of ranges, not just the size of the range should be summarized. Do not use the standard error of the mean (SE) to indicate the variability of a data set , instead use standard deviations, inter-percentile ranges, or ranges. (The SE is an inferential statistic —it is about a 68% confidence interval—not a descriptive statistic.) . Data should be displayed in tables or figures with exact values, for an overall assessment.

Reporting Risk , Rates, Ratios

Relative risk is defined as the ratio of the cumulative incidence rate among those exposed, to the rate among those not exposed. To estimate a relative risk, you need a cohort study, from which incidence can be calculated. A rate is a measure of the frequency with which an event occurs in a defined population in a defined time (e.g., number of deaths per hundred thousand Indians in one year). It has a time dimension, whereas a proportion does not. The value is obtained by dividing one quantity by another. A ratio often compares two rates, for example comparing death rates for women and men at a given age.

The type of rate (e.g., incidence rates; survival rates), ratio (e.g., odds ratios; hazards ratios), or risk (e.g., absolute risks, relative risk differences), being reported, by identifying it. Also identify the quantities represented in the numerator and denominator time period over with each rate applies, unit of population associated with the rate. Consider reporting a measure of precision (a confidence interval) for estimated risks, rates, and ratios.

Reporting hypothesis tests

A statistical hypothesis test is a method of making decisions using data, whether from a controlled experiment or an observational study. In statistics, a result is called statistically significant if it is unlikely to have occurred by chance alone, according to a pre-determined threshold probability, the significance level . Hypothesis testing is sometimes called confirmatory data analysis, in contrast to exploratory data analysis. One use of hypothesis testing is deciding whether experimental results contain enough information to cast doubt on conventional wisdom.

First clearly state the hypothesis being tested. The variables in the analysis with the appropriate descriptive statistics, name of the test used in the analysis, whether the test was one- or two-tailed (justify the use of one-tailed tests) and for paired or independent samples should be reported after that. Assumptions of the test has to be met by the data. Report the alpha level (e.g., 0.05) that defines statistical significance. At least for primary outcomes, such as differences or agreement between groups, and slopes

of regression lines, report a measure of precision, such as the 95% confidence interval. Do not use the standard error of the mean (SE) to indicate the precision of an estimate. The SE is essentially a 68% confidence coefficient: use the 95% confidence coefficient instead. Although not preferred to confidence intervals, if desired, P values should be reported as equalities when possible and to one or two decimal places (e.g., P = 0.03 or 0.22 not as inequalities: e.g., P < 0.05). Do not report "NS"; give the actual P value. The smallest P value that need be reported is P <0.001, save in studies of associations. If any adjustments were made for multiple statistical comparisons then it should be reported that whether and how it was made.

Reporting association analysis

Association Analysis is the task of uncovering relationships among data. It is a model that identifies how the data items are associated with each other.

Firstly describe the association of interest. The variables used with summarization of descriptive statistics, the test of association used should be identified. Indicate whether the test was one- or two-tailed. Justify the use of one-tailed tests. For tests of association (e.g., a chi-square test), report the P value of the test (because association is defined as a statistically significant result). For measures of association (i.e., the phi coefficient), report the value of the coefficient and a confidence interval. Do not describe the association as low, moderate, or high unless the ranges for these categories have been defined. Even then, consider the wisdom of using these categories with their implications or realities. For primary comparisons, consider including the full contingency table for the analysis.

Reporting correlation analysis

Correlation analysis is a useful technique for dealing with the relationship between two continuous variables. In fact, Correlation analysis tests for interdependence of the variables.The purpose of the analysis should be described with the summarization of each variable with the appropriate descriptive statistics. Identify the correlation coefficient used in the analysis (e.g., Pearson, Spearman). Also confirm that the assumptions of the analysis were met. Alpha level (e.g., 0.05) that indicates whether the correlation coefficient is statistically significant, the value of the correlation coefficient should be reported. Do not describe correlation as low, moderate, or high unless the ranges for these categories have been defined. Even then, consider the wisdom of using these categories with their implications or realities.For primary comparisons, report the (95%) confidence interval for the correlation coefficient, whether or not it is

statistically significant. For primary comparisons, consider reporting the results as a scatter plot. The sample size, correlation coefficient (with its confidence interval), and P value can be included in the data field.

Reporting regression analysis

Regression analysis attempts to predict or estimate the value of a response variable or outcome from the known values of one or more explanatory variables or predictors. The type of regression analysis is determined by the number of explanatory (or independent) variables and of the response (or dependent) variables, as well as by the "level of measurement" of these variables. The phrase level of measurement refers to the kind of information collected about a variable.

The purpose of the analysis should be described with the identification of the variables used in the analysis and summarization of each with descriptive statistics. Confirmation should be given for the assumptions of the analysis.. For example, in linear regression indicate whether an analysis of residuals confirmed the assumptions of linearity. If any outlying values were treated in the analysis, it should also be reported. Also report how any missing data were treated in the analysis. The regression equation for either simple or multiple (multivariable) regression analysis, should be given.Also for multiple regression analyses: 1) report the alpha level used in the univariate analysis; 2) report whether the variables were assessed for a) colinearity and b) interaction with the description of the variable selection process by which the final model was developed. After that the regression coefficients (beta weights) of each explanatory variable and the associated confidence intervals and P values, preferably in a table , provision of a measure of the model's "goodness-of-fit" to the data (the coefficient of determination, r2, for simple regression and the coefficient of multiple determination, R2, for multiple regression) should be given. If model was validated then specify whether and how. Primary comparisons should be analyzed with simple linear regression analysis, by considering the report of the results graphically, in a scatter plot showing the regression line and its confidence bounds. Do not extend the regression line (or the interpretation of the analysis) beyond the minimum and maximum values of the data.

Reporting analysis of variance (ANOVA) or of covariance (ANCOVA)

ANOVA is a "group comparison" that determines whether a statistically significant difference exists somewhere among the groups studied. If a significant difference is indicated, ANOVA is usually followed by a multiple comparison procedure that compares combinations of groups to

examine further differences among them. When a continuous covariate is included in an ANOVA we have the analysis of covariance (ANCOVA). The continuous covariates enter the model as regression variables, and we have to be careful to go through several steps to employ the ANCOVA method.The purpose of the analysis should be described by identifying the variables used in the analysis and summarizing each with descriptive statistics. Confirmation of the assumptions of the analysis has to be met. For example, indicate whether an analysis of residuals confirmed the assumptions of linearity. If relevant, report how any outlying data and missing data were treated in the analysis. If explanatory variables were tested for interaction, then specification for how these interaction was treated should be reported. The P value for each explanatory variable, the test statistics and, where applicable, the degrees of freedom for the analysis should also be reported in a table. An assessment of the goodness-of-fit of the model to the data, such as R2 should be provided. And also specify whether and how the model was validated.

Reporting survival analysis

Survival analysis is time-to-event analysis, that is, when the outcome of interest is the time until an event occurs. Survival analysis consists of parametric, semiparametric, and nonparametric methods. You can use these to estimate the most commonly used measures in survival studies, survivor and hazard functions, compare them for different groups, and assess the relationship of predictor variables to survival time.

The purpose of the analysis should be described by identifying the dates or events that mark the beginning and the end of the time period analyzed. Also specification of the circumstances under which data were censored, the statistical methods used to estimate the survival rate should be made. Confirmation of the assumptions of survival analysis should also be met. For each group, give the estimated survival probability at appropriate follow-up times, with confidence intervals, and the number of participants at risk for death at each time. It is often more helpful to plot the cumulative probability of not surviving, especially when events are not common. Reporting of median survival times, with confidence intervals, is often useful to allow the results to be compared with those of other studies. Consider presenting the full results in a graph (e.g., a Kaplan-Meier plot) or table. And specify the statistical methods used to compare two or more survival curves. When comparing two or more survival curves with hypothesis tests, report the P value of the comparison. Also report the regression model used to assess the associations between the explanatory

variables and survival or time-to-event. Report a measure of risk (e.g., a hazard ratio) for each explanatory variable, with a confidence interval.

Reporting Bayesian analysis

Bayesian analysis is a statistical procedure which endeavors to estimate parameters of an underlying distribution based on the observed distribution. Begin with a "prior distribution" which may be based on anything, including an assessment of the relative likelihoods of parameters or the results of non-Bayesian observations. In practice, it is common to assume a uniform distribution over the appropriate range of values for the prior distribution.

First specify the pre-trial probabilities ("priors"). By giving explaination of how the priors were selected, describe the statistical model and, the techniques used in the analysis.

Identify the statistical software program used in the analysis and summarize the posterior distribution with a measure of central tendency and a credibility. Also assess the sensitivity of the analysis to different priors.

Concluding Remark

The purpose of statistical methods is to provide a straightforward factual account of the scientific evidence needed to design suitable studies, carry out sensible statistical analysis, and communicate the findings in a clear and objective manner are not easy to acquire. It is hoped that, this paper will help authors to avoid statistical pitfalls. Guidelines for reporting statistics can never substitute for an understanding of concepts and procedures in statistics. Nevertheless, it is hoped that these guidelines, when used with other resources, will help to improve the caliber of basic statistical information reported in articles.

References

1. Altman DG, Bland JM. Statistics notes: the normal distribution. BMJ. 1995; 310(6975): 298.
2. Altman DG, Gore SM, Gardner MJ, Pocock SJ. Statistical guidelines for contributors to medical journals. Br Med J (Clin Res Ed). 1983; 286(6376): 1489-93.
3. Altman DG, Moher D, Schulz KF. Peer review of statistics in medical research. Reporting power calculations is important. BMJ. 2002; 325(7362): 491; author reply 491.
4. Bailar JC 3rd, Mosteller F. Guidelines for statistical reporting in articles for medical journals. Amplifications and explanations. Ann Intern Med. 1988; 108(2): 266-73.
5. Bland JM, Altman DG. Applying the right statistics: analyses of measurement studies. Ultrasound Obstet Gynecol. 2003; 22(1): 85-93. Curran-Everett D, Benos DJ.
6. Becker PJ, Viljoen E, Wolmarans L, IJsselmuiden CB: An assessment of the statistical procedures used in original papers published in the SAMJ during 1992.

7. George SL. Statistics in medical journals: a survey of current policies and proposals for editors. Med Pediatr Oncol. 1985;13:109-12.
8. Glantz SA. Biostatistics: how to detect, correct and prevent errors in the medical literature. Circulation. 1980; 61(1): 1-7.
9. Guidelines for reporting statistics in journals published by the American Physiological Society. J Appl Physiol. 2004; 97: 457-9. Curran-Everett D, Benos DJ.
10. Guidelines for reporting statistics in journals published by the American Physiological Society: the sequel. Adv Physiol Educ. 2007; 31(4): 295-8.
11. Johnson T. Statistical guidelines for medical journals. Stat Med. 1984; 3(2): 97-9.
12. O'Fallon JR, Duby SD, Salsburg DS, et al. Should there be statistical guidelines for medical research papers? Biometrics, 1978;34:687-95.
13. Montgomery DC. Design and Analysis of Experiments (6 Ed). Wiley, New York, 2004
14. Murray GD. Statistical aspects of research methodology. Br J Surg. 1991;78:777-81.
15. Mackinnon A. The use and reporting of multiple imputation in medical research – a review. J Intern Med 2010;268:586-93.
16. Rao MH, Khan N: Comparison of statistical methods, type of articles and study design used in selected Pakistani medical journals in 1998 and 2007. JPMA 2010, 60(9):745–750.
17. Scotch M, Duggal M, Brandt C, Lin Z, Shiffman R: Use of statistical analysis in the biomedical informatics literature. JAMIA 2010, 17(1):3–5.
18. Selvin S, White MC: Description and reporting of statistical methods. Am J Infect Control 1993, 21(4):210–215. 9.
19. Shutty M. Guidelines for presenting multivariate statistical analyses in rehabilitation psychology. Rehabil Psych 1994; 39:141–144

भारतीय संगीत की वैश्विकता

प्रमोद कुमार तिवारी

गायन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय संगीत परम्परा उतनी ही पुरानी है जितनी भारतीय संस्कृति। संगीत एवं अन्य ललित कलायें में वास्तव में संस्कृति का ही एक महत्वपूर्ण अंग है। भारतीय संस्कृति में एकीकरण की जो क्षमता है उसे इन्हीं कलाओं से प्राप्त हुई है। इसलिए संगीत जैसी कला को प्रोत्साहन देना भारतीय संस्कृति को उन्नत करने के समान है। फिर संगीत विकास के विभिन्न स्तरों आदिम प्रागैतिहासिक, वैदिक, शास्त्रीय, मध्ययुगीन से होता हुआ आधुनिक स्वरूप में आया। भारतीय संस्कृति की भावना को अपने में समाहित किये हुए तथा परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए यह मन्दिरों व राजदरबारों से आधुनिक संगीत समारोहों, संगोष्ठियों व विद्यालयीन शिक्षा तक पहुँचा है।

संगीत भावों की हृदयस्थली में प्रादुर्भूत होता है। हृदय के सुकोमल तंतुओं में जब सरगम के स्वर उठते हैं तो संगीत नूतन आकार पाता है। भाव इसे पोषित करते हैं। भावनाओं में यह विकसित होता है और सुमधुर तान से किसी को भी अपनी ओर बरबस आकर्षित - सम्मोहित कर लेता है। संगीत अभेद है, अखण्ड है। यह किसी-से-किसी का भेद नहीं करता, वरन् भावनाओं के समन्दर में डुबो देता है। यह अपने में सबको और सबमें अपने को विलीन कर एक नये रूप में झंकृत होता है। भावनाओं से जुड़े होने के कारण यह ताजगी कभी कुम्हलाती नहीं, मुरझाती नहीं। अतः भारतीय संगीत की सांस्कृतिक प्रक्रिया जितनी प्राचीन है, उतनी ही नवीन है। उसमें पश्चिम की तानों को नूतन रूप प्रदान करने की आज भी उतनी ही क्षमता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत का आधार अत्यन्त वैज्ञानिक है। इसमें मानवीय चेतना को परिष्कृत एवं विकसित करने की अनेक प्रयोग-विधि यॉं संकेत के रूप में समाहित हैं। समय-समय पर संगीत मर्मज्ञ विशिष्ट कार्यों के लिए इन विधियों का प्रयोग करते रहे हैं। दीपक राग से दीपक को प्रज्वलित करा देना, मृग, हाथी, साँप आदि जीव-जन्तुओं को भी संगीत की स्वर लहरियों में मंत्रमुग्ध कर बुलाए जाने की घटना घट चुकी है। उद्धत मानसिकता एवं आन्दोलित भावनाओं के शमन हेतु भी संगीत के सरगम का सहारा लिया जाता रहा है। समय के विभिन्न प्रहरों में उनके अनुकूल राग को आलापकर वांछित लाभ प्राप्त किया जाता रहा है। संगीत एक भरापूरा विज्ञान है, हालाँकि इसकी प्रायोगिक तकनीक से अनभिज्ञ होने के कारण इसका समुचित लाभ नहीं मिल पा रहा है।

अपनी संगीत की परम्परा अतिप्राचीन है। नारद, उपमन्यु, उद्दालक जैसे ऋषि स्वरशास्त्र के सामगान में पारंगत थे। वैदिक ऋषियों का यह विश्वास था कि शंकर के डमरू से वर्ण और स्वर दोनों उत्पन्न हुए। ब्रह्मा भी संगीत के प्रेरक के रूप में स्मरण किये जाते हैं। दैवी प्रेरणा ही थी कि संगीतगान या गीत मानव की भावनास्थली में उद्भूत हुआ और क्रमानुसार विकसित होता गया। इसलिए

संगीत कहीं ज्यादा प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा है, जो भावनाओं के तारों में गति करता है। इसकी महिमा और गरिमा बढ़ी-चढ़ी है। इसी कारण इसे पश्चिमी जगत के संगीत विशारद भी मुक्त हृदय से स्वीकारते हैं। पश्चिमी जगत के संगीतकार संगीत को हृदय का स्वर मानते हुए स्वीकारने लगे हैं कि जो बात भारतीय शास्त्रीय संगीत में है, वह कहीं नहीं है। वे अपने यहाँ के संगीत को सुर नहीं शोर के रूप में जताते हैं, जिसमें भावनाओं की धारा कम और पैरों की उठा-पटक अधिक होती है।

पाश्चात्य मनीषी भारतीय स्वर संगीत को अति पुरातन एवं समश्द्ध मानते हैं। इस संदर्भ में मैकडॉनल ने 'ए वैदिक ग्रामर फॉर स्टूडेंट' नामक कृति में वैदिक स्वर को संगीतमय कहा है, क्योंकि यह मुख्यतः स्वर की तारतम्यता पर अवलम्बित है। इस तथ्य को 'म्युजिक ऑफ हिन्दुस्तान' में उल्लेख करते हैं कि वेदों में संगीत की अद्भुत तकनीकें विद्यमान हैं। ऋषि इसके विशेषज्ञ थे और इसका प्रयोग करते थे। कुर्ट शैक ने 'दि राइज आफ म्यूजिक इन दि एन्श्यिन्ट वर्ल्ड' में तो वैदिक स्वर और संगीत को मानव जीवन का प्राण ही कह डाला है। जब वैदिक ऋचाओं और मंत्रों का सस्वर पाठ किया जाता है, तब मानो सारी सृष्टि ही इसे सुनने के लिए मौन हो जाती है। जड़ में, जीवों में, पादपों में सभी में एक प्रकार से नूतन प्राण का संचार होने लगता है। सब कुछ थम जाता है, इस अद्भुत स्वर का आस्वाद पाने के लिए। पाश्चात्य मनीषी इस संगीत स्वर से सीखने की बात करते हैं।

भारतीय संगीत की यह विशेषता केवल अपनी सीमाओं मेंही सीमाबद्ध नहीं रह सकती है। इसका प्रभाव दिग्दिगन्त मेंफैला और इसके वाहक बने यहाँ के संगीतकार। भारतीय संगीत की पश्चिम यात्रा के सबसे प्रमुख दूत पंडित रविशंकर रहे हैं। उनके बाद की पीढ़ियों ने भी पश्चिम जगत मेंभारतीय शास्त्रीय संगीत को व्यापक स्वीकृति प्रदान करने का सराहनीय प्रयास किया। हजारों हजार साल से चली आ रही हमारी संगीत की अटूट परम्परा का प्रसार अमेरिका में पचास के दशक में प्रारम्भ हुआ। अनेक कठिनाइयों के बावजूद उनके वाद्यों के तारों से संगीत की जादुई वाणी बिखरने लगी, अमेरिकी जनमानस की जिज्ञासा प्रबल होती गयी ।भारतीय संगीत को विश्व संगीत का दर्जा देने के लिए प्रसिद्ध संगीतकार पं. रविशंकर के सितार का भी बड़ा योगदान रहा है। उनके सितार ने ब्रिटेन के मशहूर बीटल गायकों ने बाकायदा सितार की शिक्षा लेना शुरु कर दिया। एक गायक 'जार्ज हैरिसन' तो सितार वादक ही बन गया। साठ के दशक में विख्यात वायलिन वादक 'यहूदी मेनुहिन' के वायलिन के साथ रविशंकर के सितार की जुगलबंदी ने पूरे यूरोप के संगीत जगत में तहलका मचा दिया। इससे भारतीय सितार की अन्तराष्ट्रीय पहचान बनी और सितार विश्व संगीत के मंच पर महत्वपूर्ण यंत्र बन गया। इसकी लोकप्रियता ने भारतीय संगीत के विविध आयामों की ओर ध्यान आकर्षित किया तथा इसे जानने-समझने और सीखने के लिए पश्चिमी जनता आतुर हो उठी।

निर्विवाद सत्य है कि भारतवर्ष सदैव ही अपनी संस्कृति के लिए विश्वविख्यात रहा है। प्राचीनतम इतिहास भी हमारी विभिन्न कलाओं के सम्मान का गुणगान करता है। संगीत को सदैव ही धर्म से सम्बद्ध किया गया है। सभ्यता के प्रारंभ में वैदिक संगीत की जो अनेक मुखो लोक धारा में प्रचलित थी, उन्हें सबसे पहले भरतमुनि ने शास्त्रीय दृष्टि से संगठित करके संगीत शास्त्र की स्थापना की। भरतमुनि के बाद अनेक आचार्यों ने इस कला का विश्लेषण और व्याख्यान प्रस्तुत किया। पाश्चात्य विद्वानों ने ललित कला के रूप में संगीत को मान्यता दी है और उसे काव्य कला के बाद दूसरे महत्वपूर्ण स्थान पर रखा है। वास्तव में संगीत का प्रभाव क्षेत्र अनंत और असीम है। वह सार्वजनिक

और सार्वभौम है। संसार के किसी भी देश में किसी भी काल में सभ्य और असभ्य सभी मानवजातियों में किसी न किसी रूप में संगीत अवश्य रहा है। भारतवर्ष में संगीत को वैज्ञानिक आधार पर नियोजित करके शास्त्रीय पक्ष को नियुक्त किया गया। एक विकासशील कला के रूप में संगीत को मानकरउसमें नये-नये आयाम जुड़ते रहे। समय-समय पर होने वाले आचार्यों ने अपने विश्लेषण में उन सभी आयामों का समावेश किया और इस प्रकार संगीत शास्त्र समृद्ध होता गया। चूँकि संगीत सभ्यता और संस्कृति के साथ सम्बद्ध रहा है, इसलिए समय-समय पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, और धार्मिक प्रभाव भी इस पर पड़ते रहे हैं। भारत वर्ष की सभ्यता और संस्कृति भी ग्रीक व चीन देशों के समान पुरातन है। भारत की सभी कलाओं के अवशेष यहीं के सभ्यता का परिचय देते हैं, ईसा से सहस्त्रों वर्ष पूर्व सिंधु सरिता की उर्वर घाटी में एक अति उन्नत एवं समृद्ध सभ्यता प्रस्फुटन हुआ था, जहाँ जीवन इठलाता था और जनस्त्रोत बहता था। इसके अवशेष हड़प्पा मोहनजोदड़ों आदि पश्चिमी भारत के अनेक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। एक तरफ खजुराहों, भुवनेश्वर, एलोरा की गुफायें तथा दक्षिण भारत के भारत की उच्च शिल्पकला का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। तो दूसरी तरफ ऐतिहासिक इमारतें जो देश के कोने-कोने में बिखरी हुई है। यहाँ के शासकों की कलाप्रियता का परिचय देती है। भारतीय संगीत अति प्राचीन है, जिसकी जानकारी हमें वैदिक और पौराणिक ग्रन्थों में प्राप्त होती है।

भारतीय ऋषियों मनीषियों ने सृष्टि की उत्पत्ति नाद-ब्रह्म से मानी है। नाद ब्रह्म ओंकार वाचक हैं और इसी नाद ब्रह्म से संगीत की उत्पत्ति हुई है। ब्रह्मांड की प्रत्येक चराचर वस्तु में नाद व्याप्त है। अतः इस नाद को 'नादब्रह्म' संज्ञा दी गई है। जिस प्रकार ब्रह्म से परे सृष्टि की कल्पना असम्भव है। उसी प्रकार वैज्ञानिकों के अनुसार भी नाद रहित सृष्टि कल्पना से परे हैं। प्रकृति और चराचर जगत के प्रत्येक तत्व एवं वस्तु के आंतरिक अवयवों में संगीत की अखंड धारा सदियों से वर्तमान तक प्रतिक्षण पल-पल समाहित है और अनंत काल तक रहेगी संपूर्ण जगत ही संगीतमय है। संपूर्ण वायुमण्डल ही संगीत की स्वर लहरियों से तरंगित है। भारत में दर्शनों के समान ही संगीत शास्त्र भी ब्रह्म संबंधी चिंतन का विषय रहा है। संगीत के माध्यम से मानव जीवन को आध्यात्म के रंग में पूरी तरह से रंगने का प्रयत्न किया गया है। भारत धर्म प्रधान देश है। भारतीय विचारधारा सदा से आदर्श की भावभूमि पर प्रवाहित होती रही है तथा उसका प्रयोजन लोक कल्याण रहा है। इसके कण-कण में राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर की आत्मा समाई हुई है।

भारतीय संगीत का अध्ययन और अनुसंधान करने के लिए अमेरिका के टेक्सास, मिनीसोटा, न्यूजर्सी, वाशिंगटन, कैलीफोर्निया आदि शहरों में भारतीय संगीत विद्यालय हैं। कुछ अमेरिकी और यूरोपीय शहरों में भारतीय शास्त्रीय संगीत के विद्यालय कुछ उसी तरह खुल रहे हैं जैसे भारत में कम्प्यूटर का प्रचलन बढ़ रहा है। संगीत की शास्त्रीयता के अलावा पश्चिमी संगीत के साथ जुगलबंदी भी काफी लोकप्रिय हुई है। अब कई स्थानों पर पश्चिमी आर्केस्ट्रा का संचालन भारतीय संगीत वाद्यों से हो रहा है। वहाँ पर विदेशी संगीतकार शास्त्रीय गायन का गहराई से अध्ययन कर रहे हैं तथा चिकित्सक इसके प्रभाव के प्रयोग-परीक्षण में जुटे हुए हैं, जिसका परिणाम अत्यन्त उत्साहवर्धक और आश्चर्यजनक है। पूरब और पश्चिम के संगीत के

बीच एक सेतु बनाने के लिए कई सार्थक संगीत रचनाएँ की जा रही हैं।

नए अनुसंधान के क्रम में अमेरिका के हैटकास्ट थियेटर और सिंफनी आर्केस्ट्रा के साथ हिन्दुस्तानी संगीत को जोड़कर एक नूतन प्रयोग किया जा रहा है। हॉलैण्ड की राजधानी एम्स्टर्डम के पास बाँसुरी तथा अन्य भारतीय वाद्यों को सीखने के लिए एक प्रतिष्ठित संगीत केन्द्र है। विदेशों में हिन्दुस्तानी संगीत के साथ कर्नाटक संगीत भी काफी लोकप्रिय हो रहा है। इस प्रकार विदेशी भूमि में भारतीय संगीत की लोकप्रियता उसकी वैश्विक पहचान के प्रति आश्वस्ति जगाती है तो एक आशंका भी पैदा करती है। आश्वस्ति और विश्वास यह है कि संगीत की प्राचीन परम्परा आधुनिक दौर में भी उतनी ही प्रासंगिक व उपयोगी है और आशंका यह है कि कहीं इसका मूल्य न गिरे तथा यह व्यावसायिक प्रदूषण का सबब न बन जाये, परन्तु युग की माँग और चुनौती को स्वीकारते हुए संगीत के प्रदूषित झंझावात में भी मजबूती के साथ खड़े रहकर इसे विकसित करना चाहिए। हमारा यह अथक प्रयास अवश्य ही एक दिन भारतीय संगीत को विश्व का सिरमौर बनाएगा। हमें ऐसा पुण्य प्रयास करना चाहिए ताकि फिर से विश्व वसुधा में दिल से जुड़े और पवित्र भावनाओं का सरगम गूँजे।

संदर्भग्रन्थ - सूची

1. भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण, डॉ. स्वतंत्र शर्मा, टी.एन. भार्गव एण्ड सन्स, 24, बेली रोड (विजया बैंक के सामने), न्यू कटरा, इलाहाबाद।
2. संगीत मैनुअल, डॉ. मृत्युंजय शर्मा, एच.जी. पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. कला कुंजभारती (पत्रिका 2), योगेन्द्रनाथ ''योगी'' पद्मकान्तशर्मा, विधायक निवास, राजेन्द्र नगर, लखनऊ।
4. इन्टरनेट।

सौन्दर्य

रस के मूल तत्त्व

डॉ. आनन्द कृष्ण ज्योतिषी

संगीत सेवी, वाराणसी

वेदों के शीर्ष भाग उपनिषदों में 'आनन्द' के मूर्तिमान स्वरूप को रस के रूप में समझाया गया है। जिसे ब्रह्मज्ञान, तत्वज्ञान आदि शब्दों के द्वारा निरूपित किया गया है। जिसको प्राप्त कर जीवात्मा पूर्णकाम अथवा निष्काम अवस्था को प्राप्त कर लेता है। शास्त्रों में इस रस को प्राप्त करने के प्रयास को पुरुषार्थ शब्द से निरूपित किया गया है। शास्त्रों के अनुसार मनुष्य का शरीर पाँच कर्मन्द्रिय, दो हाथ, दो पाँव, (उपस्थ तथा गुदा), पाँच ज्ञानेन्द्रिय (आँख, जिह्वा, नाक, शब्द, स्पर्श), मन, बुद्धि तथा अहंकार से बना है।

इन्हीं साधनों द्वारा हम संसार के कार्य करने में प्रवृत्त होते हैं। सर्वप्रथम हम ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करते हैं, फिर वह अनुभव मन तक पहुँचता है। इसके उपरान्त बुद्धि में अच्छे अथवा खराब भाव का निर्णय होता है, यह निर्णय अहंकार को सन्तुष्ट अथवा असन्तुष्ट करता है। जिससे यह जीवात्मा सुख या दुःख का अनुभव करता है। रस की बात आने पर तैत्तिरीय उपनिषद् का मंत्र तत्काल इसका उत्तर देता है-

रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।।
को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्।।
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

तैत्तिरीयोपनिषत्, 2.7

अर्थात् रस वह है, जिसको प्राप्त कर यह (पुरुष) जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है। यदि यह आकाश आनन्द न हो तो कौन सांस ले, कौन प्राणवान हो।

नाट्यशास्त्र में केवल रस शब्द आता है, आनन्द शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। क्योंकि इस मंत्र में जिस आनन्द की बात कही गई है वह ईश्वर का पर्यायवाची शब्द सच्चिदानंद है। इस शब्द का सन्धि-विच्छेद करने पर हमें सत्, चित्त् तथा आनन्द ये तीन भाग मिलते हैं। अर्थात् ऐसा आनन्द जो माया से परे है जो प्राप्त हो जाने पर नष्ट नहीं होता। इन्द्रियों के विषयों का आनन्द प्राप्त होने पर हम तृप्ती का अनुभव प्राप्त करते हैं, फिर कुछ समय पश्चात् उसी विषय के प्रति हम उदासीन हो जाते हैं, तथा उससे उपरामता को प्राप्त करके किसी दूसरे विषय का भोग प्राप्त करके सुखी होना चाहते हैं। पुनः हम उसी पहले वाले विषय से आनन्द प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। अतः ये क्रम पूरे जीवनपर्यंत चलता रहता है। परन्तु, जिस आनन्द की बात मंत्र में की गई है, वह परालौकिक है जो 'सत्' है अर्थात् जो अनन्तकाल के लिए है तथा 'चित्त' है, अर्थात् नित्य नवीन रस है जो बढ़ता जाता है और आनन्द तो इसका स्वरूप ही है। अब हम इन्द्रियों के विषयों से जो रस की अनुभूति होती है, उसकी बात करेंगे। प्रकृति तीन गुणों से बनी है- सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। इस कारण हमारा मन भी तीनों गुणों से गठित है। हमारे अन्दर तीनों गुणों में से कोई एक गुण की प्रबलता अधिक होने पर उसी प्रकार के विषय से हमें सुखाभास होगा। ये ध्यान देने योग्य बात है कि इन तीनों गुण में से एक गुण व्यक्ति विशेष की प्रकृति होती है, बाकि के दोनों गुण घटते-बढ़ते रहते हैं। कलागत रस का जो आस्वादन होता है वह समाज में होता है एकान्त में नहीं। इसी कारण नाट्य-शास्त्र में पहले ही कह दिया गया है कि रस के बिना कोई भी अर्थ नहीं निकलता। किसी भी कला की बात करें हम रस के बिना आगे नहीं बढ़ सकते।

इसके लिए नाट्य-शास्त्र में वृक्ष का रूपक लेकर एक और व्याख्या की है-

यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेयो भावा व्यवस्थिताः।।

ना. शा., 6,38

जैसे बीज से वृक्ष होता है, वृक्ष से पुष्प और फल होता है उसी प्रकार कला के मूल में रस है, जहाँ सारे भाव अवस्थित रहते हैं। वह कवि का हृद्गत रस है। कवि शब्द भी हमारी परम्परा का बहुत व्यापक शब्द है, जिसका अर्थ है जो कलात्मक निर्माण या सर्जन करता है, क्योंकि ब्रह्मा का नाम कवि है।

श्रीमद्भागवत् 1.1.1

इस कारण कवि का हृदयगत जो रस है उसे बीज बताया गया। नाट्य-शास्त्र के अनुसार काव्य या कोई भी कलाकृति हो, वह उस बीज का वृक्ष है। पुष्पादि, यदि वह प्रयोगात्मक कला है, तो उसमें जो भी प्रयोक्ता का कर्म है, उसको नाट्य में हम कहें, तो नटव्यापार होगा, संगीत में हो तो गायक-व्यापार हो सकता है, वादक-व्यापार हो सकता है, यदि पाठ हो तो पाठक-व्यापार हो सकता है। कुछ भी हो सकता है। अभिनयादि नटव्यापार जो है, यह पुष्पादि है और फल क्या है। पुनः सामाजिक को रसास्वाद।

[2]इस प्रकार हम देखते हैं कि यह एक चाक्रिक प्रक्रिया है जिसमें कविगत रस से लेकर सामाजिक के रसास्वाद तक। पुनः कवि का हृद्गत रस से बीज, वृक्ष, पुष्प और अंतिम फल वही है, पुनः सामाजिक द्वारा रसास्वाद। अस्तु, हम देखते हैं कि रस-संबंधी जो चिंतन है उसकी आवश्यकता जीव मात्र को है, जिसके लिए हम सतत् प्रयत्न कर रहे हैं। हमारा प्रत्येक कर्म दुःख से निवृत्त होने तथा सुख प्राप्त करने के लिए है। जिसके लिए हम प्रति क्षण प्रयास करते रहते हैं। हाँ इसको प्राप्त करने के लिए साधन कोई भी हो उचित या अनुचित बस हमें रस चाहिए तथा उस रस से आनन्द। क्योंकि हम आनन्द के अंश हैं तो हमें आनन्द चाहना ही पड़ेगा। प्रत्येक अंश अपने अंशी से प्रेम करता है जैसे मिट्टी का ढ़ेला पृथ्वी से प्रेम करेगा, जल की एक बूँद चाहे-अनचाहे समुद्र की ओर जाएगी। इसके लिए भगवान स्वयं गीता में कह रहे हैं-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः शण्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।

गीता 15,7

रस-सिद्धान्त - प्रेमलता शर्मा, पृष्ठ 8.

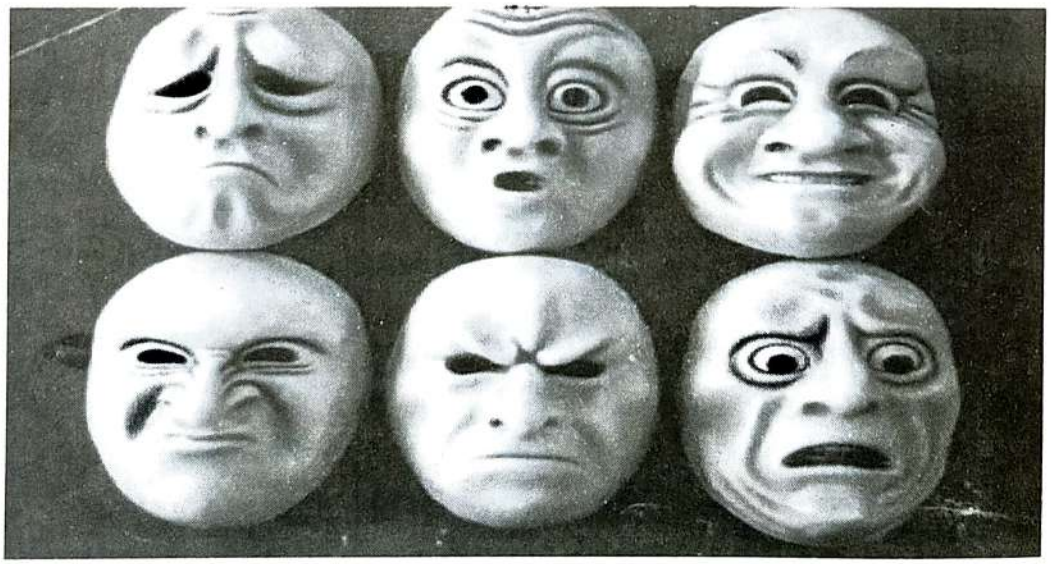

संगीत में रस की प्रासांगिकता

निलेश चन्द्र त्रिवेदी

संगीत विभाग, ति. मां. भा. वि. वि., भागलपुर

संगीत रसमय है और उनका परिणाम भावों की व्यापकता है। चाहे वह किसी भी रस की क्यों न हो, इसका सबसे प्रमुख कारण है संगीत का नवरसों पर आधिपत्य। संगीत रसमय है, इस लिए वह मुग्धकारी है। वरण आप इसे यह भी कह सकते हैं कि यह केवल मुग्धकारी ही नहीं, इसमें जैसी भी या जो भी रस की चीज़ या राग गाया जायेगा वैसा ही रसमय वह संगीत भी होगा। संगीत में केवल श्रृंगार ही नहीं, अपितु अन्य कई रसों का मिश्रण है यथा-श्रृंगार रस, वीर रस, करूण रस, हास्य रस, वीभत्स रस, भयानक रस, रौभ रस, अदभुत रस एवं शान्त रस। श्रृंगार रस तो संगीत में प्रधान है ही, एवं शांति ही उसका उत्तम परिणाम है, कारण कि सुखद संगीत वही है जिसे सुनकर चित्त को शांति मिले तथा **नवरत्नों के नवभावों** का भी जो कि रति, हसी, शोक, भय, क्रोध, उत्साह, घृणा, आश्चर्य और निर्वेद हैं, संगीत से संबंध होना स्वाभाविक ही है।

राग काफी और उसकी अधिकांश श्रृंगारिक रचनाओं तथा फाल्गुन मास के कृण और गोपियों के श्रृंगारिक वर्णनों का और, दरबारी, बहार, बसंत, पीलू, खमाज, बागेश्री, तिलंग, इत्यादि रागों और उनकी सुंदर रचनाओं का अर्थ **रतिभाव** में ही होता है। यद्यति जहाँतक मेरी भी सोच जाती है यदि इन श्रृंगारिक रागों की चीज़ें किसी अन्य रस की बनाई जायें तो राग पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकेंगे, क्योंकि इन सुन्दर रागों के स्वर समूह अथवा ऐसे राग श्रृंगार रस को ही चाहते हैं, और उनके रसानुसार ही रागों को वैसी ही रचनाओं से बद्ध कर दिया जाएगा तो वास्तव में संगीत का परिणाम सच्चा एवं सुखद होगा तथा रस एवं भावों की आभिव्यक्ति सही सुदृढ़ एवं सुमधुर होगी। ठीक उसी प्रकार नट, कामोद, केदार, सोहनी, हिंडोल अड़ाना इत्यादि राग वीर रस प्रधान हैं। झिंझोटी गौढ़ मल्हार, श्री, जोगिया, आसावरी, तोड़ी भैरव, एवं भैरव के प्रकार करूण रस प्रधान हैं।

आप देखेंगे कि कौसी कान्हड़ा ;कान्हराद्ध एवं मालकौश, बागेश्री इत्यादि अड़ग वाले कान्हरे, यमनी बिलावल, हिंडोल बहार, जौनपुरी बहार, मालकौश बहार, बसंत बहार आदि राग जिनमें एक-दो रागों का मिश्रण होता है ये अद्भुत रस वाले राग हैं, जिनका भाव आश्चर्य है। सर्पदा राग जो अप्रचलित रागों की श्रेणी में आते हैं, जिसका चलन सर्प की लहराबदार चाल के समान होता है, वह भी अद्भुत रस प्रधान राग है। मालवी जैसे राग भयानक रस पूर्ण और शंकरा, मालश्री लड्कदहन, सारंग जैसे राग रौभ रस पूर्ण हैं। हास्य रस में राग का आधिपत्य कुछ कम हो जाता है, परन्तु गारा, तिलक कामोद आदि इस प्रकार की यह धुनें इनमें हास्य रस का पुट रहता है। ऐसी चीज़ों को सुनकर मन में तथा हृदय में गुदगुदी सी उत्पन्न हो जाती है, जो हास्य का एक छिपा हुआ ढंग है और जो संगीत क्षेत्र से परे नहीं।

वास्तव में यदि देखा जाय तो संगीत की उत्पत्ति वीभत्स रस से ही है। इसलिए संगीत से वीभत्स रस भी दूर नहीं। यद्यपि वीभत्स रस से राग घृणास्पद नहीं हो सकता क्यौंकि यदि ऐसा होता तो संगीत का श्रृंगार

नष्ट करने वाला एक शत्रु उत्पन्न हो जाता, तो भी संगीत की उत्पत्ति वीभत्स से ही है।

संगीत 12 स्वरों पर स्थापित है। सर्वप्रथम 12 स्वर ही एक के बाद एक स्थापित किए गए और तब उनके थाट, राग इत्यादि की रचना की गई। परंतु यदि हम इन्ही 12 स्वरों को एक के बाद एक यथा- सा र॒ रे ग॒ ग म म प ध॒ ध नि॒ नि इस प्रकार गाकर देखें तो चित्त में संगीत के प्रति आकर्षण न होकर उसकी ओर घृणा सी होगी और ऐसा संगीत सुनने की इच्छा भी न होगी। परंतु वीभत्स रस के इसी स्वर-समुदाय के प्रत्येक स्वर से अनेक प्रकार के थाट यानि प्राचीन छः राग और छत्तीस रागनियाँ या आधुनिक मेल और तज्जन्य पद्धति की उत्पत्ति होगी। इसलिए संगीत रस वीभत्स से बहुत महत्वपूर्ण, गूढ़ और मुख्य संबंध रखता है।संगीत में रस की व्यापकता एवं प्रासांगिकता का दर्शन हमारी किम्बदन्तियाँ कराती हैं। कहा जाता है कि तानसेन दीपक राग से दीया जलवाते और मेघ से वर्षा करवा देते थे। परंतु इसका अर्थ बहुत गूढ़ है। घी और बत्ती के बिना न तो चिराग ही जलते थे और ना ही बादल से वृा हो जाती थी। वरण् इसका अर्थ यह है कि श्रोता जब दीपक राग सुनता था तो उसके हृदय में रौशनी यानि चैतन्यता आ जाती थी, ठीक उसी प्रकार जैसे एक अँधेरे गृह में दीए से रौशनी हो जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक अँधेरे गृह में दीए से रोशनी हो जाती है और वहाँ का अंधकार दूर हो जाता है। वर्षा होने का तात्पर्य यह है कि श्रोता के मन में मेघ मल्हार सुनकर ऐसा रस उत्पन्न होता था कि उसके भाव आँसुओं में परिणत होकर नेत्रों द्वारा टपक पड़ते थे। आकाश से वृा नहीं होती थी।

इसी प्रकार कोल्हू के चलनें का अर्थ यह है कि राग को सुनकर चित्त डांवाडोल हो जाता था, न कि बैलों वाला कोल्हू चल पड़ता था।कहने का तात्पर्य है कि अलग-अलग गायक एक ही राग की चीज़ को एक ही ढंग से नहीं गाते। कोई श्रृंगार रस की चीज़ में गमकों का प्रयोग करते हैं, तो दूसरे उसकी चलन को जिसमें सुंदर श्रृंगारिक अलंकार लगाते हैं बहुत धीमी कर देते हैं। इसलिए भी संगीत की सत्ता आज समय सुनियमित न होने से तानसेन के समय का सा अपनत्व रागों में नहीं दिखा पाते और इस प्राकर की भूलें कि न समयानुसार राग का गाना, न गायकी के ढंगों की ओर ध्यान देना आदि बातें संगीत के ह्रास का कारण होती जा रही है।उपरोक्त कथनों के बारे में अर्थात् रस निश्पत्ति के बारे में भरत ने भी स्वरों के विभिन्न गुणानुसार रस-निर्देशन इस प्राकर किया है- सा रे - वीर, रौभ, अदभुत के पोषक है। धैवत-वीभत्स तथा भयानक रस का एवं रे ग, नि-करूण एवं म, प-हास्य व श्रृंगार रस के घोतक हैं।इस संबंध में वृहदेसी, संगीत रत्नाकर तथा संगीत मकरन्द आदि ग्रन्थों में निम्न प्रकार से स्वप्त (सप्त) स्वरों के रस बताये है।

षड्ज- वीर, रौभ, अदभुत
ऋिषभ- वीर, रौभ, अद्भुत
गंधार- करूण
मध्यम- हास्य,
श्रृंगार पंचम- हास्य, श्रृंगार
धैवत- भयानक, वीभत्स
निषाद- करूण।

इससे ज्ञात होता है कि संगीत में प्राचीन आचार्य एक स्वर में भी रस निहित मानते थे। इस दृटि से भारतीय संगीत में रस का भी स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। रस की कत्पना को स्थिर रखने वाला स्वर सा है। इस प्रकार बिना पढ़ा-लिखा गायक न तो दूसरे के मन के भावों को ठीक से समझ ही सकता है और न अपने कर्त्तव्य में सफल ही हो सकता है। पूर्ण ललित संगीत को स्थिर रखने के लिए आवश्यक है कि जो राग और उसकी चीज़ जिस रस और भाव के हो, उनको उसी ढंग से बर्त्तना चाहिए। राग के साथ गायक का उचित बर्ताव होना आवश्यक है। यदि ऐसा न होगा तो संगीत का क्षेत्र राग-रागनियाँ न रहकर वही वीभत्स रस यानि 12 स्वर शेष रह जाएँगे।

वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श : एक समीक्षण

डॉ. सन्तोष कुमार मिश्र

श्री लाल बहादुर शास्त्री इ. कॉ., चायल, कौशाम्बी

मेघदूत प्रकृति एवं मानव-मन की सहज-वृत्ति की सुन्दर अभिव्यक्तिहै। कालिदास के इस अप्रतिम काव्य में प्रकृति एवं मनुष्य के सम्बन्ध की झाँकी प्रस्तुत है। प्रमाण में छोटा सा काव्य-ग्रन्थ होते हुए भी यह अपनी विशेषताओं के कारण संस्कृत साहित्य में प्रमुख स्थान रखता है।

मेघदूत एक विरह-काव्य है। अपने प्रेमी से अगाध प्रेम करने वाला कोई व्यक्ति जब किसी परिस्थितिवश उससे अलग हो जाता है, तो संयोग के सुखद क्षण की स्मृति से वह किसी-किसी तरह समय व्यतीत करता है। मेघदूत का नायक यक्ष भी अपने स्वामी के शाप के कारण अपनी पत्नी से वियुक्त है। शाप के लगभग आठ मास पश्चात् आशाढ़ की शुरुआत में उसे एक मेघ का टुकड़ा दिखाई देता है। उस मेघ के दर्शन से उसके मन में अपनी प्रियतमा से मिलन की प्रबल इच्छा जागृत हो जाती है। वास्तव में मेघ का दर्शन होने पर अपनी प्रिया के साथ रहने वाले व्यक्ति का चित्त भी उत्कण्ठित हो जाता है, तो कण्ठ में आलिंगन की इच्छा रखने वाली प्रिया के दूर रहने पर कहना ही क्या?[1] अतः कामार्त यक्ष चेतन- अचेतन का विचार किए बिना अपने विरह-संदेश को मेघ के माध्यम से अपनी प्रियतमा तक भिजवाता है। मेघ रामगिरि से उत्थित होकर कुबेर की नगरी अलका, जहाँ यक्ष-प्रिया का निवास है, जाएगा। इस क्रम में मेघ के विविध रूपों एवं उसके दर्शन से लोगों में उत्पन्न आह्लाद को ही प्रस्तुत शोध-पत्र का विषय बनाया गया है।कवि कालिदास ने रामगिरि की चोटी से सम्बद्ध मेघ के प्रथम दृश्य को ही बड़ा आकर्षक एवं सजीव बना दिया है। रामगिरि पर निवास करता हुआ यक्ष जब आशाढ़ के पहले दिन में पर्वत की चोटी पर लगे हुए मेघ को देखता है, तो उसे ऐसा लगता है, जैसे कोई मतवाला हाथी किसी मिट्टी की दीवार अथवा टीले पर अपने दाँतो से तिरछा प्रहार कर रहा हो-

'आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श।।'

यहाँ कवि की कल्पना से उद्बुद्ध सौन्दर्य में अभूतपूर्व ऐन्द्रिय व वर्तमान है। मेघ की गति तथा उसके रूप में वप्रक्रीड़ा करते मतवाले हाथी का उपमान सहृदयजन को बलात् आकृट कर लेता है।

वस्तुतः मेघ की प्रेक्षणीयता सर्वविदित है। ज्येष्ठ मास की कड़ी धूप से सन्तापित जीव-जन्तु, कृशक, प्रोशितभर्तकश आदि सभी में मेघ का प्रथम

दर्शन हर्ष, आह्लाद, औत्कण्ठ्य और अपार कौतूहल उत्पन्न कर देता है। आकाश में उमड़ते-घुमड़ते मेघ, बिजली की चमक, मेघ का स्निग्ध-गम्भीर घोष, कभी फुहार तो कभी तीव्र वर्षा किस व्यक्ति के मन को नहीं हरते ?मेघदूत में रामगिरि से अलकानगरी की ओर प्रस्थित गगनचारी मेघ जब पथिकवनिताओं की दृष्टि-पथ में आता है, तो वे अपने पतियों के आगमन के विश्वास से आश्वस्त होकर, अपने आगे केश को कुछ ऊपर उठाकर बड़े अनुरक्त भाव से उसे निहारती हैं। वस्तुतः मेघ के आगमनकाल में विरह से क्लान्त अपनी पत्नी की उपेक्षा भला कौन व्यक्ति करेगा-

'त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसत्यः।
कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः।।'

उधर बड़ी तेजी से उड़ते हुए मेघ को देखकर सिद्धों की सुन्दरियाँ मुग्ध भाव से- 'लगता है वायु पर्वत की चोटी को उड़ा कर ले जा रहा है।' ऐसा विचार करके आश्चर्य- युक्त हो जाती हैं।

'इसी प्रकार खेती का फलमेघ के अधीन होने के कारण गाँव की भोली-भाली स्त्रियों की स्वाभाविक नज़र से मेघ को आदरपूर्वक देखने का वर्णन भी बड़ा रोचक है।

मध्यप्रदेश में स्थित आम्रकूट पर्वत पर जब मेघ आरूढ़ होता है, तो वह चित्रण देखते ही बनता है।

'छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणी सवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः।।'

पके हुए आम्रफलों के कारण पीला दिखाई देने वाले आम्रकूट पर्वत पर कोमल केशबन्ध के समान जब मेघ चढ़ता है, तो वह पर्वत आकाशमार्ग में विचरण करने वाले देवदम्पत्तियों को मध्यभाग में श्याम, अन्यत्र पाण्डुर वर्ण के पृथ्वी के स्तन की भाँति दिखाई पड़ता है।

यहाँ कालिदास की विलक्षण कल्पना दर्शनीय है। वस्तुतः अमरकण्टक के ऊपर स्थित मेघ के लिए कवि को इससे सुन्दर उपमान और क्या मिल सकता था, जो उसने पृथ्वीवासियों के द्वारा न सही, गगनचारी देवदम्पत्तियों के द्वारा देखे जाने योग्य पृथ्वी के विशाल एवं उन्नत स्तनों को कल्पित कर दिया है। अलका जाने में यद्यपि मार्ग थोड़ा टेढ़ा होगा, तथापि यक्ष मेघ से उज्जयिनी जाने का विशेष आग्रह करता है। क्योंकि वहाँ के ऊँचे-ऊँचे महलों का दर्शन तथा मेघ में निहित बिजली के चमकने से डरने वाली चंचल कटाक्षों से युक्त नगर की सुन्दरियों से यदि वह नेत्रक्रीड़ा नहीं करता, तो उसका जीवन व्यर्थ है-

'वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्मभूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लीलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि।।'

मेघ स्वभावतः सुभग है। गम्भीरा नदी उसकी प्रेयसी है। उस नदी के स्वच्छ जल में मेघ की छाया रुपी देह प्रवेश को प्राप्त करेगी और मेघ अपनी प्रियतमा गम्भीरा को छोड़कर जाने में कश्ट का अनुभव करेगा।

चर्मण्वती (चम्बल) नदी का जल लेने के लिए झुकने वाले नीलवर्णी मेघ का चित्रण भी कवि की सुन्दर कल्पना को प्रदर्शित करता है।देखें-

'त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृटी-
रेकं मुक्तागुणमिव **भुवः स्थूल मध्येन्द्रनीलम्।।'**[9]

चर्मण्वती चौड़ी नदी है तथा उसकी धारा श्वेत है। इसके मध्यभाग में नीले रंग के मेघ का टुकड़ा स्थित है। गगन में विचरणशील देवतागण जब इसे देखते हैं, तो दूरी के कारण क्षीण दिखाई देती हुई नदी के बीचो-बीच स्थित नीले मेघ का दृश्य पृथ्वी की शुभ्र एवं झिलमिल एक लड़ी वाली मोतियों की माला, जिसके बीच में इन्द्रनील मणि लगी हुई है, की भाँति दिखाई देता है।

इसी प्रकार कनखल (हरिद्वार) में गंगा का जल पीने के लिये तिर्यक झुके मेघ की छाया से गंगा के शुभ्र प्रवाह का दृश्य प्रयाग से इतर स्थान में गंगा-यमुना के संगम सदृश दिखाई पड़ता है।

मेघ के कैलाश पर्वत पर पहुँचने पर वहाँ की देवाङ्गनाएँ उसे फव्वारा बनाकर क्रीड़ा करेंगी तथा गर्मी में पाये जाने के कारण वे मेघ को शीघ्र नहीं छोड़ेंगी।

मेघ जब अलकापुरी में पहुँचता है, तो यक्ष के घर में शीघ्र प्रवेश करने के लिए तत्काल हाथी के बच्चे के समान शरीर धारण करके वहाँ स्थित वापी के किनारे क्रीड़ाशैल पर बैठ जाता है। इसके बाद वह थोड़े-थोड़े प्रकाश वाली जुगनुओं की पंक्ति के समान विद्युत् प्रकाश रूपी अपनी दृष्टि को घर के अन्दर डालता है-

'गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसम्पातहेतोः
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्यदुन्मेषदृष्टिम्।।'[12]

यहाँ कवि का बिम्ब-सौन्दर्य उल्लेखनीय है। इस प्रकार मेघदूत में कवि ने मेघ के विभिन्न रूपों के नैसर्गिक एवं कल्पनागत चित्रण तथा लोगों में मेघ दर्शन से उत्पन्न आह्लाद के मनोहारी वर्णन द्वारा सहृदयों का भरपूर मनोरंजन किया है। वस्तुतः एक अचेतन पदार्थ में चेतन के गुणों का सन्निवेश करके कालिदास ने जिस ढंग से यक्ष के संदेश को उसकी प्रिया तक पहुँचाया है, वह कवि के महाकवि व को सिद्ध करता है।

संदर्भग्रन्थ - सूची

1. मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः कण्ठाष्लेशप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।।' पूर्वमेघ,3
2. पूर्वमेघ, 2
3. पूर्वमेघ, 8
4. 'अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-दृश्टोत्साहष्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।'पूर्वमेघ, 14
5. 'त्वय्यायन्तं कृशिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।'पूर्वमेघ, 16
6. पूर्वमेघ, 18
7. पूर्वमेघ, 27
8. 'गम्भीरायाः पयसि सरितष्चेतसीव प्रसन्ने छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेषम्। तस्मादस्याः कुमुदविषदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-न्मोघीकर्तुं चटुलषफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि।। तस्या किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरषाखं नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधो नितम्बम्। प्रस्थानं ते कथमपि सखे! लम्बमानस्य भावि ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।। - पूर्वमेघ, 40-41

9. पूर्वमेघ, 46

10. तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिक विषदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसिच्छाययाऽसौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा।।'

-पूर्वमेघ, 51

11. तत्रावश्यं वलय कुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेश्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम्।
ताभ्यो मोक्षस्त्व यदि सखे! धर्मलब्धस्य न स्यात्
क्रीडालोलाः श्रवणपरुशैर्गर्जितैर्भाययेरन्ताः।।'

-पूर्वमेघ, 61

12. उत्तरमेघ, 18

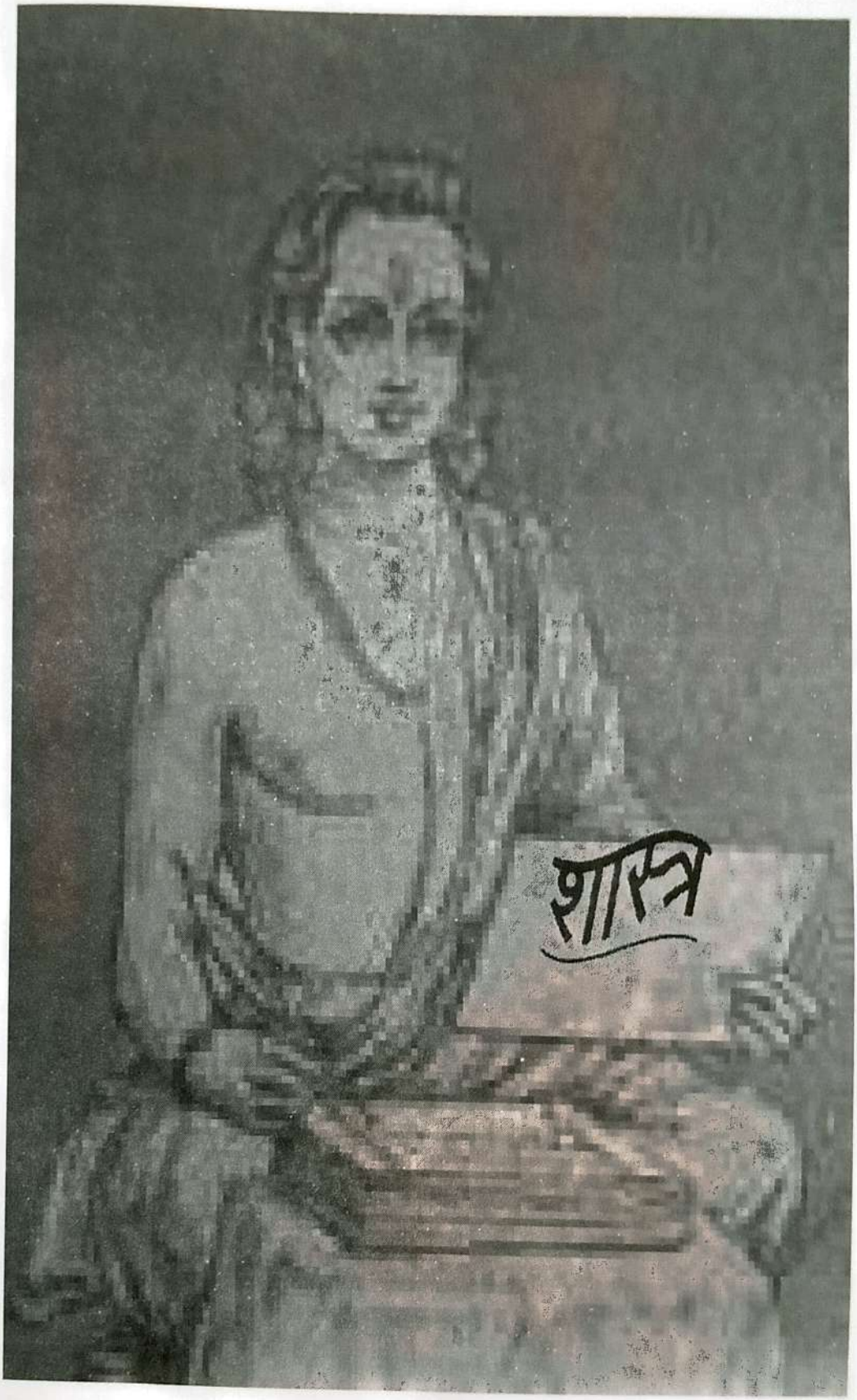
शास्त्र

शिक्षा ग्रन्थों में संगीत

आरती वाही

संगीत शास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

'**शि**क्षा' शब्द शक् धातु में 'सन्' प्रत्यय लगाकर बना है और सन् प्रत्यय के लगने पर अच् के स्थान पर 'इस्' का आदेश हो जाता है। अतः 'शक्' का सन् प्रत्यय के लगने पर 'शिक्षित' रूप बनता है।'शिक्षा' इसी का संज्ञा-पद है, जिसका अर्थ हुआ 'सकने या कर सकने की इच्छा। श्री शंकराचार्य ने इस पर जो भाश्य लिखा है- उसमें उन्होंने 'शिक्षा' का अर्थ बतलाया हैं, **'वर्णाद्युच्चारणलक्षणम्'**। अर्थात् 'शिक्षा' वह हैं जिसमें वर्णादि के उच्चारण का लक्षण बतलाया जाता हैं। सामगायक वेद की ऋचाओं का समुचित अर्थ और रीति के अन्तर्गत गान करें। इसके लिये वैदिक काल के बाद विभिन्न शिक्षा ग्रन्थों की रचना की गई। वैदिक ऋचाओं के साहित्यिक स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण उन ऋचाओं के निश्चित गेयात्मक तथा उन ऋचाओं के अर्थों का बोध कराने तथा शिक्षा प्रदान करने हेतु इन शिक्षा ग्रन्थों का विशेष महत्व रहा है।

वेद के 6 अंग माने गये हैं। जो कि वेदांग कहलाते हैं- (1) शिक्षा, (2) छन्द, (3) व्याकरण, (4) निरूक्त, (5) ज्योतिष, (6) कल्प।

इनमें से प्रथम दो शिक्षा और छन्द, वेद के शुद्ध पाठ के लिये आवश्यक हैं। तीसरे और चौथे अर्थात् व्याकरण और निरूक्त वेद के अर्थ समझने के लिये आवश्यक हैं। पाँचवें और छठे अंग वैदिक क्रिया अर्थात् यज्ञ, हवन इत्यादि के लिये आवश्यक है। ज्योतिष के द्वारा यज्ञ के लिये शुभ दिन और मुहूर्त जाने जाते थे और कल्प के द्वारा यज्ञ-विधि का पता चलता था। ''शिक्षा'' वह है जिसमें वर्णादि के उच्चारण का लक्षण बतलाया जाता है। अर्थात् शिक्षा का मुख्य विषय वर्णों का उच्चारण है। अतः वेदांगों में पहला अंग शिक्षा का है। शिक्षा व्याकरण से पूर्व आवश्यक होती है। शिक्षा का मुख्य प्रयोजन वेद की उच्चारण शुद्धि की रक्षा करना है।

प्राचीन काल में वेदांगों के अन्तर्गत अनेक शिक्षा ग्रन्थ रचे गये। ये शिक्षा ग्रन्थ ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद के आधार पर रचे गये थे। आधुनिक काल में भी उक्त शिक्षा ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। जैसे- याज्ञवलक्य शिक्षा, पाणिनी शिक्षा, वाशिष्टी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पराशरी शिक्षा, अमोघनन्दनीय शिक्षा, केशव शिक्षा, गौतमी शिक्षा, माण्डूकी शिक्षा इत्यादि।

उक्त यिाक्षा ग्रन्थों में याज्ञवल्क्य शिक्षा, माण्डूकी शिक्षा, नारदीय शिक्षा में संगीत के तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है जिनका वर्णन निम्न प्रकार से है-

माण्डूकी शिक्षा - माण्डूकी शिक्षा अथर्ववेद की है। यह ऋषि मण्डूक द्वारा प्रतिपादित हुई है। माण्डूकी शिक्षा में वेद की पाठ-सम्बन्धी बातें पर्याप्त रूप में दी हैं। गान-सम्बन्धी बातें बहुत कम है। इससे ये सिद्ध होता है कि यह अथर्ववेदी शिक्षा है। जिसका केवल पाठ होता था, गान नहीं।

माण्डूकी शिक्षा के प्रारम्भ में ही 3 प्रकार की वृत्ति, द्रुत, मध्यम, विलम्बित का वर्णन मिलता है। साथ ही षड्ज, ऋशभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद स्वरों का स्पष्ट उल्लेख है। इसे गान्धर्व के स्वर के रूप में मान्य किया गया है।

माण्डूकी शिक्षा में सप्तस्वरों से सम्बन्धित जीव अर्थात षड्ज की ध्वनि मयूर से, ऋषभ की ध्वनि गाय से, बकरी की ध्वनि गान्धार से, क्रौंच पक्षी की ध्वनि मध्यम से, कोयल की ध्वनि पंचम से, घोड़ा की ध्वनि धैवत से, हाथी की ध्वनि निषाद से बतायी गई है। नारदीय शिक्षा में भी इसी प्रकार स्वरों की उत्पत्ति का स्थान बतलाया गया है। इसमें स्वरोच्चार के साथ हस्त के प्रयोग पर पर्याप्त बल दिया गया है- अर्थात् जैसा स्वर उच्चार हो, वैसे ही हाथ की भी क्रिया होनी चाहिये। केवल स्वर का उच्चार वर्जित है।

स्वर और हाथ दोनों एक साथ चलना चाहिये। जो हाथ की क्रिया में गलती करता है। वह स्वर में भी गलती करता है। और वेद के फल को प्राप्त नहल्ल कर सकता।

माण्डूकी शिक्षा में शरीर के विभिन्न स्थान से स्वरों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। षड्ज और ऋशभ स्वर का उत्पत्ति स्थान उल्लेखित नहीं है। नासिका से गान्धार, हृदय से मध्यम, हृदय, सिर कण्ठ से पंचम, कपाल से धैवत, सभी स्थानों से निषाद स्वर की उत्पत्ति बताया गया है। इसमें सभी स्वरों की विविध रंगों से सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। षड्ज का रंग कमल के पत्तों के समान लाल, ऋषभ का हरा, गान्धार का स्वर्णिम, (श्वेत) कुन्द के समान मध्यम, पंचम का काला, धैवत का पीला निषाद का चितकबरा रंग बताया गया है। माण्डूकी शिक्षा में गात्र वीणा में स्वरों की स्थितियों को भी स्पष्ट किया गया है। माण्डूकी शिक्षा के अतिरिक्त और कई शिक्षा ग्रन्थ है। किन्तु उनमें संगीत का विषय नहल्ल के बराबर है। संगीत सम्बन्धी विषयों का सबसे अधिक विवेचन नारदीय शिक्षा में हुआ है।

याज्ञवल्क्य शिक्षा - पाणिनीय शिक्षा में केवल उच्चारण और व्याकरण सम्बन्धी बातें हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य शिक्षा में इनके अतिरिक्त संगीत-सम्बन्धी भी कुछ बातें मिलती हैं। बनारस संस्कृत सीरीज में 1893 में "शिक्षा संग्रह" प्रकाशित हुआ था। जिसमें याज्ञवल्क्य आदि कई शिक्षा ग्रन्थ मिलते हैं। याज्ञवल्क्य शिक्षा में शिक्षाकार ने गान्धर्व में प्रयुक्त होने वाले षड्ज आदि स्वरों को ही वेदों में प्रयुक्त होने वाले स्वरों से अभिहीत किया है। याज्ञवल्क्य ने उदात्त के लिये उच्च, अनुदात्त के लिये नीच और स्वरित के लिये मध्यम शब्द का भी प्रयोग किया है। उन्होंने इन स्वरों से सम्बद्ध स्वर वर्ण, देवता, जाति, ऋषि और छन्द का भी उल्लेख किया है।"

निशाद, गान्धार को उच्च स्वर या उदात्त कहा है। ऋषभ, धैवत को निम्न स्वर या अनुदात्त स्वर कहा है। षड्ज पंचम, मध्यम को स्वरित स्वर कहा है।

म	ग	रे	स
स्वरित	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित
नि	ध	प़	म़
उदात्त	अनुदात्त	स्वरित	स्वरित

उच्च और नीच का जो हिसाब है वह स्वरित की अपेक्षा नहल्ल है। ऊँच-नीच स्वरों की पारस्परिक ऊँचाई-निचाई है। स्वरित तो वह है जहाँ इनका सामाहार हो जाता है। गान्धार ऋषभ से ऊँचा है। अतः वह उदात्त है और ऋषभ अनुदात्त। निषाद धैवत से ऊँचा है। अतः निषाद, उदात्त एवं धैवत, अनुदात्त। आरोही क्रम हो या अवरोही क्रम गान्धार ऋषभ से ऊँचा होगा और निषाद, धैवत से ऊँचा होगा। इस तथ्य से स्पष्ट हो गया कि उदात्त और अनुदात्त का तात्पर्य केवल ऊँचा और नीचा से है।

उस समय के ऋषियों को ज्ञात होगा कि स म और प में पूर्ण सम्वाद है। अवरोही क्रम से म और स के बीच में ग और रे दो स्वर है जो उदात्त और अनुदात्त है। इसी प्रकार अवरोही क्रम से स और प के बीच में नि और ध दो स्वर हैं। जो कि उदात्त और अनुदात्त हैं। उदात्त ग और उदात्त नि में सम्वाद है। इसी प्रकार अनुदात्त रे, और अनुदात्त ध में सम्वाद है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में मात्रा के काल का भी उल्लेख किया गया है। निमेष मात्रा की इकाई है। कुछ विद्वानों का मानना है कि विद्युत की चमक का काल मात्रा की इकाई है। ह्रस्व एक मात्रा का होता है। दीर्घ दो मात्रा का, प्लुत तीन मात्रा का। व्यंजन का काल आधा मात्रा का होता है परन्तु यह मात्रा काल वैदिक परम्परा में प्रयुक्त होता है तथा यह संगीत में होने वाले मात्रा काल से सर्वदा भिन्न है। इस ग्रन्थ में 3 प्रकार की वृत्तियों का भी स्पष्ट उल्लेख है।

इस सन्दर्भ में शिक्षाकार ने स्पष्ट किया है कि अभ्यास करते हुये द्रूत वृत्ति का अनुसरण करना चाहिये। एवं प्रयोग के अन्तर्गत मध्यम वृत्ति का अनुसरण करना चाहिये तथा शिष्यों को विद्या प्रदान करते हुये विलम्बित वृत्ति का अनुसरण करना चाहिये। यह शिक्षा ग्रन्थ सांगीतिक विविधताओं या तत्कालीन सांगीतिक विविध अवधारणाओं को स्पष्ट करते हुये। संगीत के महत्व को प्रतिष्ठित करने में समर्थ हैं।

नारदीय शिक्षा - शिक्षा-ग्रन्थों में नारदीय शिक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार ऋग्वेद की शिक्षा के लिये पाणिनी की शिक्षा, यजुर्वेद के लिये याज्ञवल्क्य की शिक्षा तथा अथर्ववेद की शिक्षा के लिये माण्डूकी शिक्षा का निर्माण हुआ। उसी प्रकार सामवेद की शिक्षा के लिये नारदीय शिक्षा की रचना हुई।अन्य शिक्षा ग्रन्थों की अपेक्षा नारदीय शिक्षा में संगीत सम्बन्धी विशयों का सबसे अधिक विवेचन किया गया है। सामवेद का सस्वर पाठ नहल होता था, गान भी होता था।अतः और शिक्षा-ग्रन्थों के समान नारदीय शिक्षा में भी उदात्त, अनुदात्त इत्यादि स्वरों की उच्चार विधि पर विचार किया गया है। नारदीय शिक्षा में गान्धर्व गान के भी कुछ तत्व मिलते हैं। अतः यह ग्रन्थ अति महत्वपूर्ण हैं। यह ग्रन्थ ई.पू. 6 शती का माना जाता है तथा इसके रचनाकार नारद मुनि माने जाते हैं।

संस्कृत वाङ्मय में नारद 3 प्रकार से स्मरण किये गये है। कहल मुनि, कहल गन्धर्व, कहल उनके लिये ऋषि शब्द आया है। नारद को देवऋषि भी कहा गया है। इन्हें विविध ाास्त्र, कला पारंगत माना गया है। इनको गान्धर्व मुनि, देव विविध प्रकार से परिचित किया गया है।

नारदीय शिक्षा जिसे सांगीतिक महत्वपूर्ण शिक्षा ग्रन्थ के रूप में संगीत शास्त्रज्ञों ने मान्य किया है। यह मूलतः दो भागों में विभक्त हैं। (1) प्रथम प्रपाठक, (2) द्वितीय प्रपाठक। और प्रत्येक प्रपाठक में 8-8 कण्डिकाये हैं प्रत्येक कण्डिका में अनेक पद्य सूत्र है। पद्य प्रायः अनुष्टुप छन्द के है। प्रथम प्रपाठक में अधिकतर गान संबंधी विषय है। इसमें मन्त्रों को शुद्ध एवं निर्दोश पढ़ने के नियम बताये गये हैं। प्रथम प्रपाठक मुख्यतः लौकिक संगीत एवं वैदिक संगीत से सम्बन्धित है। प्रथम प्रपाठक मुख्यतः लौकिक संगीत एवं वैदिक संगीत से सम्बन्धित है। इस ग्रन्थ के प्रथम प्रपाठक की 'प्रथम कण्डिका' में ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम 3 वैदिक स्वर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का उल्लेख किया है। ये वैदिक स्वर पूर्वोक्त उदात्त आदि वैदिक स्वरों से पृथक है।

'द्वितीय कण्डिका' में स्वर मण्डल, सप्त स्वर, 3 ग्राम, 21 मूर्च्छना आदि का वर्णन है। 'तृतीय कण्डिका' में गान के 10 गुण, 14 दोशों का वर्णन है। 'चतुर्थ कण्डिका' में सप्त लौकिक स्वर, रंग,

वर्ण, धर्म, जाति और ग्राम रागों का उल्लेख किया गया है। 'पंचम कण्डिका' में वैदिक संगीत अर्थात् सामगान के स्वरों का लौकिक संगीत के साथ तुलना कही गई है। 'शश्ठ कण्डिका' में विभिन्न जीवों से सप्त स्वरों की उत्पत्ति शरीर में स्वरों की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है। इसी कण्डिका में देवता और गायकों का उल्लेख किया गया है। 'सप्तम कण्डिका' में साम के स्वरों की ृारीर के विभिन्न स्थान से उत्पत्ति उनसे विभिन्न जीवों की सम्पुष्टि और श्रुति जातियों का विवरण दिया है। 'अष्टम कण्डिका' में आर्चक के 3 स्वरों का उल्लेख है। नारदीय शिक्षा की प्रथम प्रपाठक की 8 कण्डिकाओं में कुल 125 श्लोक संग्रहीत हैं तथा द्वितीय प्रपाठक की 8 कण्डिकाओं में कुल 113 श्लोक संग्रहीत है। कुल मिलाकर 238 श्लोक संग्रहीत हैं।

संदर्भग्रन्थ - सूची

1. डॉ., सिंह, ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, संगीत रिसर्च एकेडमी, कलकत्ता, प्रथम संस्करण-1994।
2. डॉ. परांजपे शरदच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास चौखम्भा, संस्कृति सीरीज अ०फिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण-वि.सं. 2026।
3. डॉ., शर्मा स्वतन्त्र, भारतीय संगीत का ऐतिहासिक विश्लेषण, टी.एन. भार्गव एण्ड सन्स, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण-1995।
4. आचार्य शिवराज 'कौडिन्यायन, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, संस्करण-2002।
5. प्रो., दासगुप्ता, लिपिका, भारतीय संगीतशास्त्र ग्रन्थ परम्परा -: एक अध्ययन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण-2009।

संगीत और साहित्य

स्नेहा नावलेकर

संगीत संकाय इं.क सं.वि.वि. खैरागढ़

भारत सदैव आध्यात्म प्रधान देश रहा है। भारतीय संस्कृति की आत्मा आध्यात्मिक स्वर एवं धार्मिक अभिव्यंजनाओं से ओतप्रोत रही है। आध्यात्मिक विकास भारतीय जीवन का सदैव लक्ष्य रहा है। भारतीय संस्कृति का आध्यात्म किसी एक व्यक्ति की नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व के सामूहिक विचारों एवं उनके आत्मा की खोज है और इसी खोज ने कला के रूप में अपने आप को प्रकट किया है। परब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली इन्हीं कलाओं का नाम "ललित कला" हुआ। इन कलाओं में संगीत और साहित्य का स्थान सर्वश्रेष्ठ रहा। मानव मन के सहज भावों को यथार्थ रूप में व्यक्त करने की क्षमता केवल इन्हीं कलाओं में है।

प्राचीनकाल से ही संगीत और साहित्य का संबंध रहा है। संगीत और साहित्य की आराध्य देवी सरस्वती को हम एक साथ ही वीणाधारिणी के रूप में पाते हैं। हमारे वेदकालीन मंत्र भारतीय संगीत के मधुर स्वरों द्वारा थिरक पड़े। वेदों का स्वरों से अंकित पाया जाना संगीत और साहित्य के संबंध की पुष्टि करता है। संगीत का नाद सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। जगत का सारा व्यवहार नादाधीन है तथा संसार में यह नाद लहरों के समान सक्रीय है-

नादेन व्यज्यते वर्णो पदं वर्णोत्पादाद्वयः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनयतो जगत।।

संगीत रत्नाकर संगीत में गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनों का समावेश नाद के ही विस्तार से हुआ, किन्तु इसी के साथ साहित्य भी नाद का विस्तार है। अतः संगीत और साहित्य दोनों का मूल नाद में ही है। इसका विवरण प्राचीन ग्रंथों में पाया जाता है। प्राचीन संगीतज्ञ मतंगकृत बृहद्देशी में नाद का विवरण करते हुए 'ततः सर्वच वाङ्गमयम्' कहकर इसी बात को स्पष्ट किया है।

संगीत और साहित्य की जब हम चर्चा करते हैं तो हमारा उद्देश्य केवल संगीत की एक विधा से होता है, वह है- गायन या कण्ठ संगीत। चूँकि वादन या वाद्य संगीत केवल स्वरों पर आश्रित तथा नृत्य कला अभिनय पर आश्रित है। अतः गायन और साहित्य का परस्पर संबंध अत्यन्त घनिष्ट है।संगीत और साहित्य का उल्लेख भाषा के बिना अधूरा है, चूँकि भाषा ही एकमात्र ऐसा माध्यम है जो संगीत को साहित्य से जोड़ता है। भाषा का अर्थ उन भाषाओं से है जिन पर साहित्य आधारित होता है जो अंततः संगीत का रूप ले लेती है, वह भाषा संस्कृत, हिन्दी, बृजभाषा, अवधी, उर्दू, फारसी इत्यादि में हो, इन सभी का साहित्य महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब साहित्य संगीत के रूप में परिणीत होगा तब उसकी अवश्य कोई-न-कोई भाषा अवश्य होगी। अतः भाषा, संगीत और साहित्य के बीच सेतू का कार्य करती है।

यदि साहित्य युक्त संगीत की बात करें तो, भाषा को शुद्ध, तार्किक तथा स्पष्ट होना चाहिए। जब किसी साहित्य में भाषा का स्तर उच्च होगा तो निःसंदेह संगीत का स्तर भी उच्च ही होगा। बात चाहे शास्त्रीय संगीत की हो, सुगम संगीत की हो या फिर चित्रपट संगीत की, इन सभी में साहित्य अपना एक विशेष स्थान रखता है। यह इसी का प्रमाण है कि भाव गीत, ग़ज़ल आदि लोकप्रिय होने का मुख्य कारण उनमें भावपूर्ण शब्दावली का प्रयोग और भाव की अभिनवता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि संगीत की उन्नति उसी काल खंड में अधिक हुई जब उसका साहित्य भावरस युक्त होकर श्रेष्ठ साहित्यिकों भक्तों की वाणी में अपने आप को व्यक्त कर रहा था। आज आवश्यकता है, नये साहित्य और नये गीतों की। भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ गीतों को यदि प्रोत्साहन दिया जाता है तो हमारे संगीतकार भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर विदेशों में भारतीय संगीत की अलग पहचान बना सकते है।

संगीत, एवं शोध

ईशान दुबे

गायन विभाग, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़

संगीत, अनादि काल से अपनी बौद्धिक एवं कलात्मक उत्कृष्टताओं के कारण जिज्ञासा एवं रूचि का विषय रहा है, किन्तु संगीत का अर्थ केवल गायन से नहीं, वरन गायन, वादन तथ नर्तन तीनों के सम्मिलित रूप को संगीत कहा जाता है।

यथा शारंगदेव द्वारा रचित संगीत रत्नाकर से कहा गया है :-

"गीतं वाद्यं तथा नृत्त्यां त्रयं संगीत मुच्यते।"

अर्थात् गीत वाद्य तथा नृत्य तीनों को मिलाकर संगीत कहा जाता है।

इसकी उत्पत्ति के विषय में आज भी शास्त्रकारों में मतभेद है किन्तु संगीत से मिलने वाले आनंद के विषय में सभी सर्वसम्मत है, क्योंकि संगीत को सुनने, देखने (नृत्य) तथा गाने के बाद हृदय में जो आत्म अनुभूति होती है। वह शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती। यह केवल आत्मा को शुद्ध तथा चित्त को प्रसन्न कर देने वाली कला है।

संगीत, भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है जो अपनी सहजता, भाव प्रवणता तथा आध्यात्मिकता से देशों तथा विदेशों के लोगों को आकर्षित करता रहा है। यह एक ऐसी सर्जनात्मक कला है जिसका संबंध मुख्य रूपसे भावना से है गाते समय भावना की तन्मयता में शब्दों में के रूप गौण हो जाते है। उन पर ध्यान कम स्वरों पर ध्यान अधिक होता है। मानव अपने भावों को कभी स्वरों के माध्यम से गाकर, कभी नृत्य की मुभाओं द्वारा तो कभी वाद्यों पर बोलों को बजाकर व्यक्त करता है इसमें हेतु एक ही होता है अपने भावों की अभिव्यक्ति द्वारा आनंद प्राप्त करना। भावों तथा संवेदनाओं के अभाव में संगीत तक पहुंच पाना असंभव है, क्योंकि वेदों में भी कहा गया है :-

"परमात्ता तक पहुँचने का सबसे सरलतम उपाय संगीत है।"

इसका क्षेत्र इतना व्यापक है कि संगीत को शब्दों द्वारा व्यक्त करना बहुत कठिन कार्य है। इसे प्रकृति से जोड़कर समझना ही अर्थपूर्ण होगा।

मानव मस्तिष्क निरंतर प्रकृति के प्रति मुग्ध होता रहा है। जब जहाँ उसे कुछ नया सुन्दर दिखा तब तब मनुष्य ने उसे अपनी धरोहर बना लिया। प्रकृति में गुंजायमान ध्वनियों को कभी तो उसने मंत्रमुग्ध हो कर सुना तो कभी जिज्ञासु की भांति अपनी धुन में उसकी खोज बीन करने लगा। भारतीय संगीत जो कि सवदा ही मनुष्य को अपनीओर आकर्षित करना रहा है। उसकी तो पूरी एक परंपरा ही बन गई है जो कि आज तक अपने वृहद् आकार में हमारे समक्ष उपस्थित है। प्रकृति के हर अंश में चाहे वह पक्षियों का कलरव हो या नदियों की कलकल सभी में संगीत विद्यमान है। यदि हम संगीत की उत्पत्ति के विषय में बात करें तो कुछ लोग इसे वेदों से तो कुछ देवताओं द्वारा उत्पन्न मानते है। जो आज भी रहस्यमय है। मनुष्य की इसके प्रति जिज्ञासा बढ़ गई जिसने विचार करते-करते शोध का रूप ले लिया। और मनुष्य संगीत को शोध कार्य के रूप में भी लिया।

अब संगीत को एक विषय मानकर जब हम अध्ययन करते है। और इसमें शोध करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान संगीत के प्राचीन स्वरूप की जानकारी की ओर जाना चाहिए। संगीत का उद्भव कैसे हुआ ? प्राचीन सीत का स्वरूप क्या था ? तथा उसको सिद्धांतबद्ध करने की दिशा में क्या-क्या प्रयास किए गए ? आदि विषयों को शोध-कार्य का विषय बनाया जा सकता है। प्राचीन आचार्यो ने जो संगीत के विषय में सिद्धान्त बनाये थे उनका परीक्षण भी संगीत में शोध कार्य के लिए चुना जा सकता है।

इसका अन्य क्षेत्र भी है प्राचीन संगीत ग्रन्थों का जो मुख्यतः संस्कृत में है लेकिन एसे संस्कृत के ज्ञाता जो संगीत के जानकार नहीं है, वे एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर पाते। अतः इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि संगीत-विषय के प्राचीन ग्रन्थों का आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन विषय के रूप में चुना जाए। जिन संगीतज्ञों को संस्कृत का ज्ञान है उनके लिए तो इन विषयों पर कार्य करना सुगम होगा लेकिन जिनकों संस्कृत का ज्ञान नहीं है, उनके लिए इस कार्य में कठिनाई आएगी।

इसके लिए संगीत के उच्च प्रगत अध्ययन एवं शोध संस्थान, संस्कृत विद्वानों की सहायता से संस्कृत में लिखे प्राचीन ग्रन्थों का हिन्दी या किसी क्षेत्रीय भाषा में अनुवाद कर प्रकाशित करवाया जा सकता है। यह कार्य महत्वपूर्ण होगा, क्योंकि हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा जानने वाले व्यक्तियों के लिए इस ग्रन्थ का अध्ययन सुगम हो जाएगा। इसके अतिरिक्त उन आचार्यो तथा संगीतकारों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व है जिन्होंने संगीत के क्षेत्र में महान कार्य किया है जिनकी जानकारी जनसाधारण को नहीं है। अतः इसके द्वारा व्यक्तियों को उन आचार्यो के कार्य तथा व्यक्तित्व को जानने के अवसर प्राप्त हो सकेंगे। इसी प्रकार अन्य क्षेत्र भी है जिन्हें शोध विषय के रूप में लेकर विचार किया जा सकता है। ऐसा नहीं है कि संगीत में शोध कार्य आज बिलकुल नवीन है। प्राचीनकाल में भी इस क्षेत्र में जो कार्य हुए उनको तत्कालीन शोध कार्य कहने में हमें संकोचा नहीं। व्यवहार रूप में गाए जाने वाले स्वरों को जब नियबद्ध करके सिद्धांत रूप में उनकी स्थापना हुई। स्वरों के मूर्छना, आवृत्ति, आंदोलन संख्या, सारणा आदि संगीत के क्षेत्र में प्राचीन आचार्यो द्वारा किया गया वह कार्य भी शोध ही था। संगीत क्षेत्र में जब तक पं. भातखंडे जी का नाम न लिया जाए तब तक संगीत की चर्चा ही अधूरी है। जो स्वरूप देखने मिलता है, वह केवल भातखण्डे जी की ही देन है उनके द्वारा संगीत क्षेत्र में किया गया कार्य भी शोध ही था। जिनके द्वारा जिन्होंने संगीत के प्रायोगिक या क्रियात्मक पक्ष के क्षेत्र में रागों के गायन समय से लेकर ठाट वर्गीकरण तथा कृमिक पुस्तक मालिका के रूप में संगीत जगत को अतुलनीय योगदान दिया। अतः संगीत जगत शोध का कोई अंत नही है जब-जब मनुष्य संगीत के लिए जिज्ञासु रहे गए तब-तब इस क्षेत्र में नये शोध कार्य होते रहेंगे। वास्तव में कहा जाए तो शोध का अर्थ ही अध्ययन, मनन और आत्मचिंतन द्वारा तथ्य विशेषों के निर्णयात्मक सिद्धांतों की स्थाना करना है। अर्थात् अतीत की खोज से वर्तमान को सकार करना भी ''शोध'' है।

संदर्भग्रन्थ - सूची

(1) संगीत शोध अंक (जनवरी-फरवरी) 1990 प्रकाशन - (संगीत कार्यालय हाथरस)

(2) संगीत में अनुसंधान की समस्याएं और क्षेत्र (सुभद्रा चौधरी) जून 1988 प्रथम संस्करण

(3) भारती संगीत मे अनुसंधान की समस्याएं (डॉ. वंदना शर्मा) प्रथम संस्करण 2004 संजयप्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली

(4) संगीत की अनुसंधान प्रक्रिया डॉ. मनोरमा शर्मा (हरियाणा ग्रन्थ अकादमी पंचकूला) द्वितीय संस्करण 2013

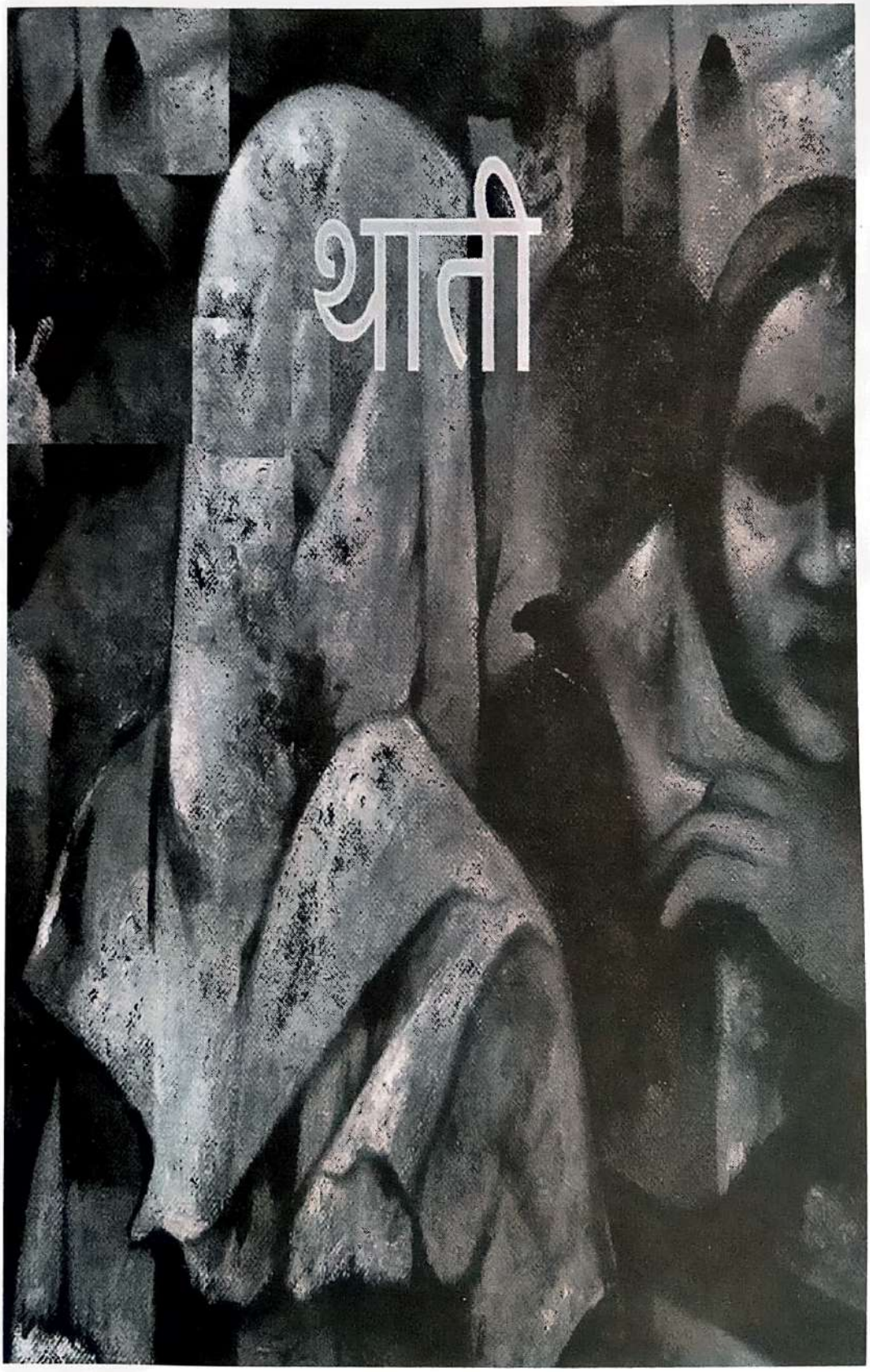
थाती

''संघर्ष का मूर्त रूप''
लोक कला : एक विचार'

नन्दन हितैषी

लोक कला-विद

परम्परा और विकास की लम्बी यात्रा करने के बाद, लोक मान्यता या लोक स्थापना होने के बाद ही, कोई संदर्भ लोक से परिभाषित होता है। बहुत खटना पड़ता है, इन गुमनाम लोक कलाकरों को शताब्दियों तक उन पीढ़ियों को अपने अस्तित्व की सोच में रहना पड़ता है, तभी मिलती है 'लोक' की सार्थकता और तभी रेखांकित होता है, उसकी ऐतिहासिकता, सामाजिकता, धार्मिकता, उसकी उपयोगिकता और उसी नाते सोरे सरोकार।

मेले-ठेले, तीज, त्योहार, व्रत, संस्कार, साधु-सन्त, फकीर, व्यापारी, नाविक, स्त्रियाँ और कथा वाचक आदि इसके प्रचार-प्रसार और स्थापना की दिशामें साझेदारी करते आये हैं। लोक संदर्भों की प्रत्येक विधाओं में यही सूत्र लागू रहा है।

लोक परम्परायें सीधे जुड़ी होती हैं अपने विरासत से। उनकी जड़ें इतनी गहरी होती हैं कि उन्हें समूल नष्ट करना आज के इस वैज्ञानिक दौर में भी सम्भव नहीं हैं। बाज़ारवाद ने तो महज मुनाफा कमाया है और उसी मुनाफे को 'डिस्ले' के माध्यम से विज्ञापित भी किया है। अपनी धरती से जुड़ाव का ही कारण है अपनी माटी की सोंधीगंध। इन्हीं समग्रताओं का प्रतिनिधत्व करती हैं हमारी लोक कलाएँ।

लोक संस्कृतिकी जितनी भी विधाएँ हैं, यथा लोकगीत, लोककथा, लोकगाथा, लोक संगीत, लोकनृत्य, लोक नाट्य, लोक शिल्प या दस्तवारी लोक स्थापत्य, लोक वस्त्र (परिधान), भित्त-चित्र विविध प्रकार के थापे, लोक खिलौनें, लोकालंकार, लोक पात्र (मिट्टी के वर्तन, देवी-देवताओं या दुष्ट आत्माओं के प्रतीकात्मक खिलौनें, तथा गांव-जवार में अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार कथरी, सुजनी, मौनी, भौंकी, पंखे आदि का निर्माण सुतली वटना, चारपाई बुनना, खेती किसानी के औजारी बनाना आदि-आदि लोक कला के अन्तर्गत ही आते हैं।) यही नहीं मुहावरे तथा लोकोक्तियों भी लोक कला अथवा समग्र लोक चेतना का दस्तावेज़ रहे हैं।

सभी लोक कलाएँ अपने ही संसाधनों अपनी ही मानसिकता और अपनी ही परम्परानुसार अपना अपना अकार लेती आई हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी, हस्त शिल्प की तरह हस्तान्तरित होती रही हैं। यहीं होता है, इनका ऐतिहासिक संदर्भ। आचार्य हजारी प्रसार द्विवेदी ने कला प्रयोजन पर चर्चा करते हुए स्वीकारा है कि कला शब्द का प्रयोग इतना व्यापक है कि यह पूँछना ही बेकार है कि कला का प्रयोजन क्या है? कला का एक मात्र प्रयोजन है मुनष्य को सुसंस्कृत बनाना। यानी कि रचना की प्रवृति को कायम रखना। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जो रचता है, वही बचता है। इसी रचाव और बचाव के बीच लोक कलाएँ अपने समस्त अनुष्ठानों में खुद को परिमार्जित करती हुई सृजन की सार्थकता को एक आयाम देती आई हैं। विभिन्न रेखाओं, बिन्दुओं

और प्रतीकों के माध्यम से इन रेखाओं का मनोविज्ञान मनुष्य को पर्त-दर पर्त उघारता रहता है।

इनहीं चिन्हों में कमल/चौपड़ /फुलझड़ी/घेवर/ सातिया (स्वस्तिक) /कलश /फूल/पान /आम /केला / रथ/घोड़ा-घोड़ी/पंखा/ देवी-देवताओं के चिन्ह/ बेल-बूटें/खेती- किसानी के चित्र/गाय/बैल/ सुग्गा-सुग्गी/रंगोली आदि सभी उत्सव धर्मिता और सामाजिक सरोकारों को ही कहीं न कहीं से उकेरते हैं।

सभी लोक कलाएँ, लोग परम्पराओं में ही जीती हैं, शास्त्रीयता में नहीं। इनकी जड़े गहरी हैं, थह पाना आसान नहीं, शायद इतिहास की परतों से भी नीचे, अजन्ता, एलोरा, कुषाण काल और गुप्त काल से भी पहले।लोक कलाएँ अपनी विकास यात्रा में, विभिन्न स्वरूपों में होकर गुजरी हैं तब जा करके इन कलाओं ने एक परम्परा का रूद ग्रहण किया। तमाम युद्ध मार-काट और सत्ता परिवर्तनों में भी इन कलाओं का भाव, निर्माण, सृजन, मनोरंजन और उपयोगी बना हुआ है।

लोक कलाएँ तहजीवयाफ्ता बनाने के साथ-साथ एक शऊर पैदा करती है, जिन्दगी को सलीके और कलात्मक ढंग से जीने और समझने के लिए। प्रतीकों के माध्यम से यह सब कुछ और अधिक बोधगम्य हो जाता है।वस्तुतः लोक कला संघर्ष का वह मूर्त रूप है जो 'वानर' से 'नर' तक की यात्रा का संवाहक रहा है। इन कलाओं में श्रम की सार्थकता, उसकी उपयोगिता आदि अपनी कलात्मकता को भी सकारात्मक दिशा देती आई हैं। चूँकि लोक चेतना की सारी विधाएँ हमारे जीवन गत संस्कारों का एक अभिन्न हिस्सा होती है।, इसीलिए वे सामाजिक और पारिवारिक जीवन्तता का भी हिस्सा हो जाती हैं। एक ऐसा हिस्सा जो हमारी लोक चेतना' और सोच को स्पन्दित करता है।जिन्हें वास्तविक लोक कलाओं की संज्ञा दी जाती है उसमें आदिम और लोक दोनों के मानस का प्रतिफलन होता है। लोक कला मानवीय अभिव्यक्ति का एक सहज धर्म है, यही धर्म जीवन का भी लक्षण होता है, क्योंकि धर्म भी धारण करता है, 'मानवता' का धारण, सत्य का धारण, शिवम् का धारण और उसी नाते सुन्दरम् का धारण। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य का पूरा जीवन ही अभिव्यक्ति में ही पल्लवित, पुष्पित और पुनः पुनः उभरने के लिए विसर्जित होता आया है। यही अभिव्यक्तियाँ ही कला का रूप ग्रहण करता हूँ।

मेरा मानना है कि लोक कला मेहनतकश लोगों की कला है। वे ही सही माने लोक कलाओं के संरक्षक हैं। लोक कला का मूल मंत्र है समाहिती का दर्शन और उसकी मूल मनोवैज्ञानिक भूमि है 'लोक-मानस,' जो स्वनतः सुखाय हो करके भी समाज के लिए समर्पित होती है।. सामाजिक आवष्यकता के अनुसार इसमें परिवर्तन, समायोजन स्वाभाविक रूप से होता रहता है। इस रचाव की प्रक्रिया में अगर कुछ छूटता या छीजता रहता है तो बहुत कुछ नया भी जुड़ता जाता है, यही नयापन शिल्प को आधुनिक भी बनाये रखता है, साथ ही साथ मौलिक भी।चाहे लोकगीत या लोक गाथा का गायक हो चाहे लोक नाट्यों का किरदार निभाने वाला अदना से अदना व्यक्ति और चाहे लोक कलाओं को उकेरने वाले कोमल और सधे हाथ, सब एक गहन अनुभव और अभ्यासके हाथों सजते और सँवरते आये हैं। बार-बार का दोहराव ही उनकी ऊर्जा होती है, सच तो यह है कि लोक विधा में पुनरावृत्ति दोष नहीं बल्कि गुण माना जाता है, उन्हें सहेजने और पीढ़ी दर पीढ़ी स्थान्तरित करने लिए और मोखिक परम्परा में याद और सुरक्षित-संरक्षित रखने के लिए मात्र दोहराव (रिपीटीशन) ही स्थायी भाव में होता है, 'लिरिकल' या 'रिद्मिक' एप्रोच के लिए भी दोहराव एक आवश्यक शर्त है। वैसे भी व्यक्ति की जिन्दगी में दोहराव ही दोहराव है। कहना न होगा कि आज भी भारतीय जन-मानस के

परिवेश में लोक कला के अभाव में कोई भी संस्कार प्रारम्भ ही नहीं हो सकता है, वे लोक कलाएँ ही होती हैं जो संस्कारों के सूत्र का काम करती हैं। हरबर्ट (HERBERT) रीड का कथन है कि यदि हम अतीत में झाँके तो हमें दिखाई पड़ेगा कि इतिहास पूर्व के या प्रागऐतिहासिक धुँध के अन्तराल से कला और धर्म हाथ में हाथ डाले चलते हैं।

वस्तुतः धर्म का मूल भी तो वही आदिम व्यवस्था है, जो कला मूल में है।मैं इस बात का पक्षधर हूँ कि लोक कलाओं की उत्पत्ति भी श्रम और संघर्ष से ही प्रारम्भ होती हैं। आदिम दौर में जब भाषा नाम की कोई चीज अपने वजूद में नहीं थी तब भी प्रतीक अपने अस्तित्व में किसी न किसी रूप में रहा होगा। संख्याओं की उत्पत्ति भी रेखाओं से ही हुई है।

शिकार से लौटे आदि मानव के मुखिया ने जब कच्चे मांस का टुकड़ा लोगों के सामने अपनी गुफा में रखा होगा, तो अनुभवहीन पीढ़ी ने यह जरूर जानना चाहा होगा कि यह किस पशु-पक्षी का मांस है? उस अनुभवी मुखिया ने सर्वप्रथम किसी पत्थर के टुकड़े अथवा ज़मीन पर उस पशु-पक्षी को आड़ी-तिरछी रेखाओं से कोई चित्र उकेरा होगा या आकार देने का प्रयास किया होगा और यहीं पर बीजारोपण हुआ होगा 'भित्त-चित्र' (लोक कला) का। फ्रान्स तथा स्पेन की गुफाओं में भी (भारतवर्ष की तरह) ऐसे चित्र मिल है जिनका लोक वर्ता से सीधा सम्बन्ध है।डब्लू.जे. पैरी की मान्यता मुझे ज्यादा सटीक लगती है, उसका मानना है कि ४मूल कला का सम्बन्ध भोजन उपलब्धि से था भोजन के लिए इच्छित पशु पक्षी का रेखांकन उसके पकड़नेमें किसी न किसी प्रकार से सहायक रहा होगा।

पुरातन गुफा निवासी पशुओं के चित्र बनाकर उन्हें पकड़नें की युक्ति रचता था, आज भी खेती किसानी करने के पूर्व हल,बैल तथा भूमि की पूजा की जाती है, कभी-कभी मात्र प्रतीक रूप में ही। शादी-व्याह के समय दीवारों पर हाथ के थापे जहाँ एक ओर भय, प्रेत, बाधा से बचाव के मंत्र स्वरूप समझे जाते हैं परिवार के लिए प्रतीकों के माध्यम से रक्षा कवच, वहीं दीवारों पर 'सुग्गा', मैना आदि का रेखांकन, होने वाले पति-पत्नी के रागात्मक सम्बन्धों को मजबूती प्रदान करते हैं। लोक कलाओं को निम्नलिखित वर्गीकरण के अन्तर्गत समझने में आसानी होगी:-

- संस्कार के आधार पर
- त्योहार के आधार पर
- विरासत के आधार पर
- उपयोगिता के आधार पर
- श्रृंगार अथवा कलात्मक एवम् रागात्मक

आधारसंस्कारगत लोक कलाओं के तहत अनुष्ठानिक चित्रांकन, विभिन्न अवसरों के थापे, अल्पना या रंगोली आदि को रखा जा सकता है। संस्कृत के इसे 'रंगावली' कहते हैं, आन्ध्रा में 'मुग्गू', बंगाल में 'अल्पना' और गुजराती में 'रंगोली' के नाम से जाना जाता है। अवध प्राप्त में इसे 'चौक पूरना' कहते हैं, जिसे ग्रामीण बालाएँ या महिलाएँ विधिवत जानती हैं। दक्षिण भारत में रंगोली को 'कोमल' कहते हैं। पूरे भारत में यह कला दैनिक जीवन का एक अभिन्न अंग है। पिसान, चावल का आँटा या खड़िया मिट्टी अथवा आवश्यकतानुसार गेरू के घोल स इसके रचाव की परम्परा आज भी कायम है। आधुनिक संदर्भों में पिसी हुई हल्दीके साथ काले को छोड़कर विभिन्न रंगों का भी प्रयोग होने लगा है। ये कच्चे, पक्के रंग वर्षा, धूप आदि के बावजूद बहुत दिनों तक आभासित होते रहते हैं।

सतरंगी इन्भधनुष के रंग ही दिखाई देते हैं।कहते हैं नारी ही संसार का सार तत्व है । 'रंगोली' को कामाख्या देवी की देनमानी जाती हैं रंगोली का प्रयोग पहले यंत्रों के लिए प्रारम्भ हुआ यथा

'श्रीयंत्र,' 'लक्ष्मी यंत्र', 'सर्व सिद्ध यंत्र' 'गणेश यंत्र', 'सम्मोहन' यंत्राादि। धीरे-धीरे इसका प्रयोग पर्वों पर भी होने लगा।

आधुनिक रंगावली परम्परा के सिद्ध हस्त नागपुर के निवासी श्रीराम दास चौण्डेय का नाम एक स्थापित नाम है। उनका कहना है कि रंगावली में हर चिन्ह की अपनी एक विशेषता होती है। प्रतयेक रंग प्रतीकात्मक और मंगलकारी होता है आर हर चिन्ह एक दूसरे से संदर्भित भी होता है।

'रंगोली' या 'चौक पूरन' की परम्परा अति प्राचीन है। लोक साहित्य में विष्णु और लक्ष्मी के विवाह पर भी इसका उल्लेख मिलता है। स्त्रियों और कन्याओं के द्वारा इस कला को फैलाव और विस्तार मिला, उन्हीं के द्वारा एक क्षेत्र की कला, दूसरे क्षेत्रों में पहुँची। दक्षिण भारत में मान्यता है कि 'रंगोली' काढ़ने से स्त्रियों में सहनशीलता आती है। राजस्थान में होली पर बनाये जाने वाले 'मांडने' का बहुत महत्व है यथा, 'चंग', 'पगृल्या', 'दरों', 'चौक', 'थाली', 'बाजोट', 'गाडूला', 'सातिया' आदि।

राजस्थान के ही 'सांझी' का चित्रांकन अनन्त चौदस पर, मंदिर या घर की दीवारों पर गोबर, चूल्हे की मिट्टी और राख आदि से रंग-बिरंगे फूलों से साँझी बनाई जाती है। जिसे मुख्य रूप से कुँवारी कन्याएँ ही बनाती हैं। सान्ध्य पूजन के कारण ही इस परम्परा को साँझी कहते हैं। इसी डिजाइन हर दिन बदलती रहती है। एकादशी को 'बड़ी साँझी की परम्परा है। शास्त्रों ने आठ चिन्हों या उनके रेखांकन को मांगलिक स्वीकारा है।'स्वस्तिक' सबसे अधिक मंगल और शुभ सूचक है, अन्य अष्ठ मांगलिक चित्र या रेखांकन हैं:-

कमल/मछली का जोड़ा/ शंख/मंगल घर (कलश), श्रीवत्स (विष्णु के नयन पर अंकित शुभ) चिन्ह चक्र/ पंजे का निशान। त्योहारपरक लोक कलाओं के तहत, सम्बन्धित थापे, भित्त चित्र, दियाली, ग्वालिन आदि निर्माण की परम्परा हैा भित्ति चित्रों के त्रिकोण, कर्क रेखाएँ लताएँ, फूल-पत्ती, मंदिर,चाँद, सूरज, सितारे, नदी, पहाड़, मोर, तोता, मैना, रथ, सर्प आदि की प्रतीकात्मकता, सम्पूर्ण भारत को वास्तव में सही मायने में एक सूत्र में पिरोते आये हैं। उत्तसव धर्मिता भारतीय संस्कृति की एक मजबूत पहचान रही हैं नक्षत्रों, पंचांग आदि के अनुसार चन्भमा अथवा सूर्य के उदय-अस्त के साथ ही संस्कारों के तार जुड़े होते हैं, जो मनोरंजन के साथ-साथ प्रतीकों को हमारी मानसिकता का अंग बनाते हैं।

विरासत के आधार पर, मिट्टी के बर्तन बनाने की पारम्परिक कला, लकड़ी पर नक्काशी, खिलौने, दस्तकारी, मुखौआ एवम् कठपुतली निर्माण आदि को शामिल किया जा सकता है। कठपुतली नचाना भी एक लोक शिल्प और कला है। लोकनृत्यों अथवा लोकनाट्यों में मुखौटों का प्रयोग देवी-देवताओं, दुष्ट आत्माओं, हिंसक पशुओं आदि के प्रतीक होते हैं।कठपुतली नचाना एक शिल्प भी है, एक टेक्नीक साथ ही लोक कला भी। नई दिल्ली में आज भी शादीपुर डिपो के पास एक कठपुतली कालोनी है। यहाँ राजस्थानी लोक कलाकार रहे हैं। कठपुतली के साथ-साथ ये लोग शादी व्याह में 'घोड़ी धमाल,की प्रस्तुति भी करके अपनी जीविका चलाते हैं। कठपुतली शो मुख्य रूप से लोकगीतों पर ही आधारित होते हैं, लोक कथाओं की कहानियाँ भी इनके विषय हो सकते हैं। कठपुतली नचाने वाला अपने मुँह में एक प्रकार की दो पत्तियों वाली सीटीदबाये रखता है और उससे विभिन्न प्रकार की आवाजें भी निकालता है। बीच-बीच में कुछ 'टेक' भी लगाता चलता है। जैसे 'और बजेगी थोड़ी-थोड़ी भारतीय लोक कला मण्डल उदयपुर ने विगत वर्षों 'अमर सिंह राठौर' का प्रदर्शन रूमानिया में प्रस्तुत किया था उन्हें विश्व का प्रथम पुरस्कार भी मिला था।

भारतीय काष्ठ कला भी, एक पुरानी लोक कला है। कपड़े पर छापने के लिए विभिन्न प्रकार

के ठप्पे, दरवाजों पर नक्काशी, और फूल पत्तियों तथा शुभ चिन्ह मछली आदि को उकेरना इन कलाकारों की विशेषता रही है। उपयोगिता के आधार पर 'खाँची' निर्माण, पलरी, झौवा, दोना-पत्तल, मिट्टी के विभिन्न बर्तन, कथरी, सुजनी, चटाई, बेना, पंखा, पिटारा, चारपाई बुनना, मचिया आदि का निर्माण समझा जा सकता है। दैनिक जीवन की यही उपयोगिता 'आवश्यकता अविष्कार की जननी' बनती गई। श्रृंगारपरक लोक कलाओं के अन्तर्गत विभिन्न किस्म की दस्तकारी,स्वर्णकारी, गोदना, मेंहदी आदि लोक कलाएँ भी लोक की आवश्यकता बन गई हैं।

सम्पूर्ण भारत में गोदना की परम्परा बहुतायत से मिलती हैं। सच तो यह है कि 'गोदना' एक अनिवार्य लोक कला की श्रेणी में है। जिसका प्रारम्भ कबीलाई संस्कृति और अपने इष्ट या पारिवारिक देवी-देवताओं से जुड़ती है। भारतीय नारियों के लिए एक अनिवार्य आभूषण जो मृत्यु के बाद ही शव यात्रा ही नहीं, चिता की यात्रा तक साथ देता है। अवध क्षेत्र में ऐसी मान्यता है कि जिन हाथों पर गुदना नहीं अंकित होता है उन्हें देवदूत रास्ते में विभिन्न प्रकार की यातनाएँ देते हैं। इसी संदर्भ में एक लोक पहेली है 'वह कौन सा गहना है, जो मृतक के साथ जाता है। इस पहेली का उत्तर है 'गोदना'। विभिन्न लोकगीतों में भी गोदने का उल्लेख मिलता है। 'रीतिकालीन' साहित्य में तो गोदने की परम्परा की भरमार है। वृत लोकगीतों की एक मुग्धा नायिका अपने उरोजों पर 'मोर' को चित्रित करवाने के लिए, गोदनहरिन से बार-बार आग्रह करती है। लोक संदर्भों में सुहागिनों का एक अनिवार्य चिन्ह रहा है गोदना, इस प्रक्रिया में दंश की पीड़ा से भी गुजरना पड़ता है, लेकिन इस सौन्दर्य वर्धक अमिट छाप के लिए इतनी ललक होती है कि स्त्रियाँ बड़ी आसानी से सहर्ष इस दंश की चुभन को झेल जाती हैं।

गोदने का प्रचलन दन दिनों विदेशों में भी बहुतायत से प्रचलित हो रहा है। अमेरिकी और जापनी औरतों में मानों अंग रेखन (गोदने) के प्रति एक होड़ सी लगी है। कभी-कभी तो नाभि के नीचे और जाँघों तक की यात्रा है इन 'टैटुजों' में।

आज की समूची व्यावसायिक मानसिकता में इन लोग कलाओं का तेजी से शहरीकरण और बाजारीकरण हो रहा है, और इसी के साथ बढ़ा है कलाओं के मूल रूप का स्वरूप बदलने का खतरा, एक अभिजात्य वर्ग विशेष इन लोक कलाओं को अपने मनमानी स्वरूप में ड्रांइग रूम की शोभा बढ़ा रहा है। उनका मुगालता है कि वे ही सही मायने में इन लोग कलाओं के एकमात्र सच्चे पारखी हैं।आज प्रिन्ट और इलेक्ट्रानिक मीडिया ने लोक संदर्भों की प्रत्येक विधा की छीछालेदार कर रखी है। बाज़ारवाद और विज्ञापन की प्रवृत्ति ने सोची-समझी रणनीति के तहत भ्रमित कर रख है। कला, शिल्प या छायांकन के नाम पर कूल्हे मटकाना और उरोजों की उछाल ही उनका जैसे पाथेय बन गया है।

आज हम अपने ही दायरे में पाते हैं कि मांगलिक पारिवारिक लोकगीतों की जगह फिल्मी कैसेट्स ने ले लिया है। ***गौनें की नयी बहुरिया भी लोकगीत का मतलब नहीं जानती*** । बिगड़ रहा है लोक कला का वास्तविक रूप, संकट दिन-ब-दिन गहराता जा रहा है। प्रादेशिक संस्कृति विभाग और संस्कृति विभाग, भारत सरकार अपने ढंग से इन लोक कलाओं को संरक्षित, सुरक्षित और दस्तावेड़ीकरण की दिशा में प्रयासरत है, जो निश्चय ही स्वागत योग्य है, लेकिन व्यावहारिक दिक्कत जब राजनैतिक ले लेती है या लोक कलाकारों की अपनी अन्दरूनी राजनीति उभरती है तो सभी सैद्धान्तिक पक्ष, लड़खड़ा जाता हैं।

आज पर्यावरण की समस्या ने पूरे विश्व में मौसम के मिजाज़ को बिगाड़ रखा है। पृथ्वी और

ओजोन पर्तों की समस्या आये दिन अखबारों की सुर्खियां बन रही हैं। हम लगातार जंगलों को तो काटते जा रहे हैं, फिर भी नहीं कट रहा है हमारा जंगलीपन। लोक कलाओं में नदी, पहाड़, पशु-पक्षी और वृक्षों का बहुत चित्रांकन हुआ है।

आज पोलोथिन या प्लास्टिक की बनी चीजें समस्या बन गई हैं। एक ऐसा वस्तु जिसके 'कम्पोनेन्ट्स' कभी भी किसी भी हालत में नष्ट नहीं होते हैं। बाज़ारवाद की चकाचौंध में हस्त निर्मित जूट के थेले, मिट्टी के सकोरे, कुल्हड़, परई, दियाली, पियाली, गिलास, दोना-पत्तल आदि लोक निर्मित सामग्रियों और सम्बन्धित कलाओं के प्रति उदासीन हो गये हैं। फैशन की एक नई परम्परा ने अपना आकार ले लिया है जो न केवल पर्यावरण की दृष्टि से बल्कि लोक-कला की दृष्टि से भी सोचनीय प्रश्न है।हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आज लोक कलाएँ भी चकाचौंध की गिरफ्त में है, जबकि वास्तविकता तो यह है कि जब तक लोक कला अपने पारम्परिक अस्तित्व में है तभी तक लोक कला का प्रतिनिधित्व करती है। यदि उसकी पारम्परिकता नष्ट होती रही तो लोक कला आने वाले दिनों में 'लोप कला'भी हो सकती है। कुछ लोक वाद्यों के साथ यह खतरा मंडरा रहा है।

वदलाव की यह प्रक्रिया बहुत तेजी से अपना दायरा बढ़ा रही है 'गौर उत्सव' पर प्रचलित 'गणगौर' गीत अब श्रृंगारिक, अश्लील और फूहड़ बनता जा रहा है।विभिन्न संस्कारों पर मेंहदी रचने अथवा रचाने की परम्परा आधुनिक लड़कियों के टखनों अथवा जाँघों पर भी रचाई जा रही है, गोदना की अमिट छाप, नाभि तक सरक आई है। माथे का टीका कमर में लटकने लगा है।बकौल कवि नरेन्भ (जौनपुर)'सिर छिपायेगी कहाँ संस्कृति बता प्रो' आज आँचल, बहुत, झीना हो गया है। बड़े विकट दौर से गुजर रहे हैं हम और पूरी की पूरी संस्कृति बदल गयी हैं। शब्दों के अर्थ और मानक भी। हमने अपनी विरासत और परम्परा को पिछड़ेपन से आँक लिया है।किसी विचारक ने सही कहा है कि 'जब नगरीय संस्कृति अपना ग्राफ बढ़ा लेती है तब सृजन का ग्राफ गिर जाता है', जाहिर है तब कलाओं का ह्रास ही होगा। लोक के रचाव के अभाव में जीवन की सार्थकता भी नहीं होती। इन्हीं रेखाओं, रंगों, चित्रों, और हस्तशिल्प की कारीगरी, उसकी बारीकियाँ, अनुभवों को और अधिक मजबूत करती हैं। मुहावरों को भी शब्द देना अनुभव की गहनता, और उनके शिल्प भी किसी लोक कला से कम तक नहीं होते हैं।कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि एक लम्बे अरसे तक लोक कलाओं के वास्तविक अध्ययन या दस्तावेजीकरण से हम दूर ही रहे फलस्वरूप इन सारे संदर्भों में विषम स्थितियों को झेलना और भोगना पड़ा है।किसी भी कला का जब ताखिक विश्लेषण करते हैं एक वर्ग अभिजात या शास्त्रीयता का होता है और दूसरे वर्ग में हम लोकधर्मी कलाओं को शामिल कर सकते हैं। पौराणिक संदर्भ में शुक्रनीति के अनुसार (4.4. 73-76) देवी-देवताओं की मूर्तियों के निर्माण को स्वर्ग उपलब्ध होने वाला स्वीकारा गया है। पारम्परिकता में पर, नारी दोनों की लोक कला का निमार्ण करते आये हैं, लेकिन स्त्रियों के द्वारा अधिकाधिक हिस्सेदारी लोक साहित्य में उपलब्ध है। आज भी मिथिला में कुछ विशेष लोक रचाव ब्राह्मण स्त्रियों द्वारा ही मान्य हैं। बंगाल में भी 'कन्था' निर्माण मुख्यतः लालाओं के परिवार की औरतें ही करती हैं।

पूर्वोत्तर भारत में भी काठ अथवा बाँस पर की गई चित्रकारी, कालीनों की डिजाइन आदि स्त्रियां द्वारा ही उकेरे जाने की प्रथा है। 'अल्पना' की रचना में भी बंगाल अगली कतार में है। यहाँ की अल्पना में 'बहुछत्र' / 'देवी के चरण कमल' /बेल-बूटे'

और अन्य शुभ या मंगलकारी चिन्ह बनाने की परम्परा है।

उड़ीसा में 'पट' का रंग अनोखा है, जहाँ धर्म की केन्भीयता है। जाहिर है पुरी की लोक कलाओं में 'जगन्नाथ', 'बलभभ' और 'सुभभा' की अधिकता होगी। इसी तरह असमिया लोक कला पर बौद्ध धर्म का प्रभाव दिखता है। बिहार की 'मधुबनी' लोक कलाओं की बारीकी में बेल-बूटों के बीच, उनके शिल्प की एक अलग पहचान दृष्टिगोचर होती है, इन संदर्भों में भी स्त्रियाँ ही सिद्ध हस्त होती आई हैं। आज भी उत्तर प्रदेश में मुख्य रूप से बनारस के घरों के दरवाजों अथवा मुख्य दीवारों पर देवी-देवताओं के चित्र, पक्षियों के चित्र अथवा कसरत की प्रक्रिया में 'मुग्दर' भाँजते हुए पहलवानों को चित्रित करने की प्रथा है। लगभग यही परम्परा मथुरा और अयोध्या में भी है। भारत का ऐसा कोई भी प्रान्त नहीं हैजहाँ ये लोक कलाएँ न फैली हों। परमपरा अपने काल खण्ड में सदैव आधुनिकता से जुड़ी रहती हैं। आधुनिकता का स्पष्ट प्रभाव शास्त्रीय कलाओं के साथ-साथ लोक कलाओं पर बहुत स्वाभाविक रूप से पड़ता रहता है। जैसे पहले का गोदना, बबूल के सूखे काँटे अथवा सुई से चमड़ी को गोद-गोद कर चित्रांकन किया जाता था, उसके वाद 3रू स्थान पर काजल अथवा 'भेलाँवा' का काला रंग भर दिया जाता था, बहुत पीड़ा और दंश की स्थितियों से गुजरना होता था, गोदना गोदवाने वाली महिलाओं को। लेकिन धीरे-धीरे आधुनिकता के चलते, बैट्री से चलने वाली मशीनों ने काँटे या सुई की जगह ले ली और आज एक कदम और आगे 'स्टीकरों' ने अपनी भूमिका स्थापित की है।

इस बात को नकारा नहीं जा सकता है कि कोई भी कला अपनी पारम्परिकता में ही आधुनिक होती है और संदर्भित सारे सरोकार भी उसी काल खण्ड में अपनी सार्थकता को रेखांकित करती है।

भारतीय नृत्य की चार विधाओं में 'कथकली', 'भरतनाट्यम', 'कत्थक' और 'मणिपुरी' है, इसमें भी समयानुसार आधुनिकता के कारण परिवर्तन होते रहे हैं, लेकिन कहीं से भी मूल आत्मा को नहीं मरने दिया है इन लोक और शास्त्रीय कलाकारों नें।

लोक कलाएँ जनजातीय या क्षेत्र विशेष की सार्थक पहचान होती हैं। कभी-कभी अति आधुनिकता में उनका स्वरूप भी बदलने लगता है, तभी स्थिति भयावह होती है। क्योंकि लोक कला प्रकृति की कला है, जिसका विकास और फैलाव प्रकृति में ही होता है, बड़े सहज और स्वाभाविक ढंग से।

लोक कला की व्यापकता उसका शिल्प, उसकी उपयोगिकता, उसकी उत्सव धर्मिता, कुल मिलाकर उसका रचाव और चित्रांकन खम्भों, मंदिरों, घर-आँगन, दीवाल, आभूषणों, नाना प्रकार के स्वांगों, ख्यालों तथा शरीर पर विभिन्न अंकन तक ही व्याप्त नहीं है बल्कि बहुत व्यापक और गहरी हैं इसकी जड़े।

हमारे सभी संस्कार लोक कला के अभाव में आज अधूरे से हैं जन्म से लेकर मृत्यु तक के सारे संस्कार लोक कलाओं को ही प्रेश्रित करते हैं।

यदि लोक कला वास्तव में हमारे रोजमर्रा का एक हिस्सा है तो इसकी वास्तविकता और मूलरूपता को बचाकर संग्रहित और सुरक्षित रखना होगा। इस दिशा में सरकार, एन.जी.ओ., स्वयंसेवी संस्थाएँ तथा तमाम-तमाम साहित्यिक तथा सामाजिक संस्थाओं को आगे आना होगा।

Folk Music in Karaikudi Veena Parampara

Dr. Shanti Mahesh,

Assistant Prof., Dep. of Music, Queen Mary's College, Chennai

ABSTRACT:- There are many classical traditions which render folk music items also. The Magudi (Snake Charmer's music) has been a captivating item in the Karaikudi Veena, Flute Mahalingam Tradition etc., belonging to the Tenth Generation of the Karaikudi School of Veena, through this article; I aim to limelight the folk music being part of the Gharana.

This study intends focusing on the renowned Karaikudi Veena Tradition with immense potent of classicism having the deluge of folk music too. It is a fact that from cradle days, the infants in the family existed in the perennial aroma of classical music. It is also true that they were imbibing the essence of melody through songs and music as play too.

METHODOLOGY:- The Karaikudi Tradition of Veena has the heritage at Thirukkokaranam. We have detail of the artistes from the fifth generation- Sri. Malayappa Ayyar& Sri. Venkatesa Ayyar (1750A.D.). Sri. Subbaraya Ayyar belonging to the 6th Genaration was showered gold coins by the Maharaja of Pudukkottai. The Veena stalwarts of the Seventh Generation were Karaikudi. Sri. Subbarama Ayyar (1883) and Sri. Sambasiva Ayyar who were brothers performing enticing Veena Duos. Sri. Subbarama Ayyar, the elder, passed away in 1936. Karaikudi. Sri. Sambasiva Ayyar (1888-1958) was in the first batch of music stalwarts who received award from the President of our nation. The family had its heritage continued at Karaikudi where the Chettiars offered spontaneous patronage for their reverberating Veena melody. There are many folk songs taught to everyone in the family as well as students.

The Paper gives presentation of the music which the children and students heard and bloomed with melody. Features in the musical family viz. Children were taught musical conversation as well as heard the prime nicety of life cum spirituality through a few songs are given. Such excellent songs should ever last and not get extinct.

INTRODUCTION :- Music is a type of language that transmits ideas through sound patterns. There are many similarities with our spoken languages. For example, we use a 26 letter alphabet to construct sentences just as we use a 12 note scale to create a melody. Like a sentence, a melody has a beginning, middle, and end. Just as we use punctuation marks (like a period) to end a sentence, we use often the first note of a musical scale to end a melody. One other connection here is that we process all sounds in an area of our brains called the temporal lobe, right above each ear. So our perception of language and musical sound is closely related.

Life and its feel are inseparable. So are man and language. From the moment man started breathing, the outgoing breath produced speech-sounds. Sound waves are produced when the speaker's vocal chords, tongue, lips, etc. affect the stream of his outgoing breath. Every sound that is produced by the breath is not of the same pitch. The rise and fall in musical level or pitch is called intonation. When the listener recognizes a speaker's sound and the meaning understood, a language is spoken. Tamil is one of the South Indian languages belonging to the Dravidian family. It has a long and large amount of recorded history.

Music is beyond any barrier like culture, language. The language of music is melodious sound. Still, it is very obvious to observe how one gets enchanted on listening to the medium of music using the prevalent language.

MUSIC FOR INFANTHOOD:- As a child, mathematics is embedded in the child with tuneful renderingof 'one, two, three, four, five, six, seven' in Tamil. It is possible for us to perceive the possibiliof education through music. I was taught counting, then a verse ' Idli ettu timben chutney tottuttimben'- meaning 'I will eat eight Idlis with Chutney'- Idli is a tiffin-rice cake like and chutney is the accompanying dish- like jam for bread. When I was two years old- my mother recalls- I would sit for breakfast only if eight idlis were placed on my plate. I would eat one or so, but refuse to sit till I counted eight on the plate in front.

In the next stage, my grandmother used to inculcate the importance of schooling. In her generation, the girls were sent to school till the age of nine or so. She used indicate through a jolly sentence "pallikkoodam college parthatum illai, patam chollikkoduttadai kettadum illai'- meaning "have never seen school or college or heard lessons'.

Then there was play music like in the song set to folk tune.

MOTTAARUVANDIPOLE
OTTUVAAN TANGACHAAMI

NAATTAARE NEENGAL ERUNGAL

NAMMA KUDIRAIKK(U)I MAGIZHAMPU MAALAI PODUNGAL

SHOKKANA KAARAIKUDI SOGUSANA DEVAKOTTAI

NAATTAARE NEENGAL ERUNGAL

NAMMA KUDIRAIKK(U)I ROSAAPPU MAALAI PODUNGAL

CHAPPITTUPUTTU KAI ALAMBI CAGUNAM PAA(R)TTU VANDI KATTTI

PORANDI KUNJUPILLA(I) PUDUKKOTTA DRAMAAVUKKU

TAANANE NAANANE NAANANE NAANENAANNE TAANANE NAANANE NAANANE

MUSIC AND CHILDHOOD :- This song meant that a horse- vehicle which a person Thangachaami drove was similar to motor vehicle (indicating car which was not very common during the early 19th Century.

The village officer was asked to sit on that horse cart which was nice with the horse adorned with a garland of flower- makizham flower, rose flower. The surpassing nice place of Karaikudi, Devakottai is also indicated. Then a jolly time is given by attention drawn by mentioning a young lad going to watch a drama at the small town Pudukkottai. It is rendered with the folk tempo tune.

LOVE SONG BETWEEN COUPLE :-A song depicting love in a couple is also sung. Girls were below 10 years or just a little more- before teen age while wedded to a lad during that period. The maiden and lad who were couples, had friendly songs illustrating friendly love.

ORUTTIKKORUMAGANDI UNNA

NAMBIVANDAVANDI

PORUMAIPORUTTAVANDI ENNA POGAVARA ESAADADI

KANDAANGICHILAIKKARI KASTURI POTTUKKARI

NILAVALAVIKKARI NILAKKOTTAIKAVALKARI

PALLUPANAMPERUMAM PALKAVI PONPERUMAM

CHOLLU- (ADI; UNDAN) CHOLLU PORULPERUMAM INDA CHOLAIKKUYIL VAITIRANDAL

CHANDUPOTTADI NANUNAKKU NALLA JAVVADU POTTADI NI ENAKKU

CHANDUPOTTUKKUM JAVVADUPOTTUKKUM CHANDAI UNDO MUTHU VIRAYI

KO(R)TTA MUTTADI NANUNAKKU NALLA KONDAYIL PUVADI NI ENAKKU

KO(R)TTA MUTTUKKUM KONDAYIL PUVUKKUM KUT(R)AMUNDO MUTHUVIRAY

KACCHINAPALADI NANUNAKKU NALLAKATTITTAYIRADI NI ENAKKU

KACCHINAPALUKKUM
KATTITHAYIRUKKUM
KALMISHAMUNDOMUTHUVIRAYI
VAIRAKKADUKKANADI
SAMI TILLALE VAJJIRATTAL
MODIRAMAM SAMI TILLALE
PODU TANNANE AMAM
SABASU!

The song teaching children goodness by telling them how a cute maiden- a planter sowed seed and reaped sweet fruits.

FROM SEED TO FRUIT IN PLANTHOOD- INFANT TO GREAT HUMAN SOUL :- The song teaching children goodness by telling them how a cute maiden- a planter sowed seed and reaped sweet fruits.

CHINGILICHI ELELO!
CHEVATTA PONNE AILALO!
PAATTIVETTI ELELO!
PAATTIVETTI AILALO!
V(I) EDA(I)TELICCHU ELELO!
V(I) EDA(I)TELICCHU AILALO!
M(U)OLA(I) ITTADU
ELELO!M(U)OLA(I) ITTADU
AILALO!
URANTELICCHU ELELO!
URANTELICCHU AILALO!
MOTTUKATTI ELELO!
MOTTUKATTI AILALO!
POOPPOOTTHU ELELO!
POOPPOOTTHU AILALO!
KAAI KAA(I)TTU KAAI
KAA(ITTU)CHU ELELO!
KAAI KAA(I)CHHU AILALO!
PAZHAM PAZHUTTU ELELO!
PAZHAM PAZHUTTU AILALO!

While the above songs are anonymous, a few songs were rendered with indication of classical music too.Bearing resemblance to the Raga Anandabhairavi, this verse in Kudambar Kootthu is sung in the family by elders like mother/grand-mother to children

MAANGA(I)PPAAL UNDU
MALAIMELIRUPPORKKU
TENGAIPPAAL EDUKKADI
KUDAMBAI!
TENGAIPPAL EDUKKADI!
KAANAMALKANDU
KARUTTODIRUPPORKU
VINAASAI EDUKKADI
KUDAMBAI!
VINASAI EDUKKADI!
TAAVAARAMILLAI
TANAKKORU VIDILLAI
TEVAARAM EDUKKADI
KUDAMBAI!
TEVARAM EDUKKADI!
VETTAVELITANNIL
MEYYANDRIRUPPORKKUM
PATTAYAM EDUKKADI
KUDAMBAI!
PATTAYAM EDUKKADI

Magudi or the snake charmer's song is also rendered in the family. This song of Paambaati Siddhar is mellifluously rendered in this tradition. By rendering this song, music maestros like the Karaikudi Veena Brothers, Rajeswari Padmanabhan, Flutist Mali etc., have amazed listeners.

UTTAKKUZHIYILE
MANNEDUTTU
UDIRAPPUNALILE

UNDACHERTHU
VAITTAKUYAVANAR
PANNUMPANDAM
VARAKOTTOKKUKAGADENDRADU
PAMBE
IRUVARMAN CHERTHIDA
ORUVARPANNA
IRAINDUMADAMAI VAITTA
CHULAI
ARUMAIYAI IRUPPINUM
ANDA CHULAI
ARAIKKASUKKAGADENDRADU
PAMBE!
NADARMUDI MELIRUKKUM
NAGAPPAMBE NACCHUPPALLAI
VAITTIRUKKUM NALLAPAMBE
PADALATTILKUDIPUGUM
PAIKKOLPAMBE PADIPADI
NINDRU VILAIYADU PAMBE
ADU PAMBE! VILAIYADU
PAMBE! VILAIYADU PAMBE!
TELINDADU PAMBE!
NANDAVANATTIL OR ANDI
AVAN
NALARUMADAMAIKKUYAVANAIVENDI
KONDUVANDAN ORU
TONDI ADAIKKUTTADI
KUTTADIPPOTTUDAITTANDI!

The family was at Tirukkokaranam in Pudukkottai. There was a person Rama Kavi who composed songs in Tamil, Sanskrit etc., He has composed a Kummi song which is rendered by the ones in this tradition. Let us initially just glimpse Kummi songs emanating ever enthralling air.

Kummi is a folk dance, popular in Tamil Nadu and Kerala in India, danced mostly by Tamil women in circle. Dancing may be different. In some places, it is very simple, with rhythmic clapping. In other places dancers imitate various harvesting activities. Kummi often accompany by songs, called "Kummi songs'. It is often danced during festivals. It is also danced by Tamils of Sri Lanka. Kummi songs became a popular addition to kuthiyottam festivities in modern times.

Kummi is one of the most important and ancient forms of village dances of Tamil Nadu. It originated when there were no musical instruments, with the participants clapping their hands to keep time. This is performed by women; many varieties of Kummi, such as, Poonthatti Kummi, Deepa Kummi, Kulavai Kummi, Kadir Kummi, Mulaipari Kummi, etc. are known. The women stand in a circle and dance clapping their hands rhythmically. One of the women leads the singing with a favourite song while the rest take up the refrain. Each performer renders a new line in turn and the dancing stops when all get tired. This dance is usually performed during temple festivals, Pongal, the harvest festival, family functions like the one to celebrate the coming of age (onset of puberty) of the girl-child.

Folk dances originated in villages, but are enjoyed by everyone. Among the various dances performed by

Tamilians is Kummi – an ancient folk dance which reflects the day-to-day life of villagers of Tamil Nadu. Kummi is a simple dance performed by women, who form a circle and clap their hands to songs of their choice.

There are different forms of Kummi. Some of the styles are Deepa Kummi, Kadir Kummi, Poonthatti Kummi, Kulavai Kummi, and Mulaipari Kummi.

HISTORY:-Kummi is one of the most ancient forms of village dances. As it originated during a period when there were no musical instruments, the women clap their hands to keep time in the dance.

AESTHETICS:-The term Kummi is derived from the Tamil word "Kommai,' which means "to dance while clapping your hands.' This is a form of dance in which the women dance in groups, singing songs to the Kummi dance.

The dancers stand in a circle and clap their hands according to the rhythm of the dance. They move in a circle with their hands making gestures representing agricultural activities. One of the women leads the singing team while the rest of the group takes up the chorus. Each person renders a new line in turn and they stop dancing when they all get tired.

Men also participate in some of the local variations of Kummi dance. In this type of dance, the men hold small sticks in their hands and form a circle, enclosing the women's circle inside. The men beat their sticks together in synchronization with the hand clapping of the women and the dance steps, creating a beautiful experience of song, dance, and rhythm.

There is no particular costume for Kummi dance. The young girls wear pavadai chattai, the teenagers wear pavadai dhavani, and the adult women wear saris. The dance steps are simple and repetitive: the women stand in a circle, hold hands, move forward, bend down and clap their hands. Even young children can learn this dance in about two months and can dance on their own without requiring any assistance.

Some children say that it is difficult to learn the songs by heart, as the Tamil words used in these songs are not commonly used. As facial expressions also play an important role in Kummi dance, it is necessary to understand the words to the songs before dancing.

There were no Kummi dance classes in olden days. The girls used to learn the dance from their mothers, grandmothers, or aunts. Even girls of 8 to 10 years of age become fascinated with the steps and songs, as well as with the stories depicted through dance.

Music is very vital to the forms of Art like Drama, Dance. In very ancient treatises, we come across the

idea of Sangeeta meaning the unison of dance, drama and music. It is the aim of this paper to hint the folk song like Kummi rendered by artistes in classical music and dance. We can comprehend the relationship between classical music and folk music.

Folk singing remains popular, especially in rural areas; elements of the traditional styles are sometimes used in film music. There are contemporary enthusiasts who have worked to revive popular interest in the folk music of Tamil Nadu. The urumee mellam also remains as one of the more popular forms of folk music in rural Tamil Nadu and the ensemble is most often played with an urumee and the nadaswaram as the instrument of choice.

The rural hill tribes of Tamil Nadu each have their own folk traditions. The Pulayar, for example, perform melodies called talams which are said to come from the cooing of birds. Each talam is named after a deity, including Kunhanada talam, Mangalanada talam and Karaganachi talam.

CONCLUSION:-Such songs form part of this legendary Veena Tradition since the last Ten generations. It would be wonderful if all of us determine to learn such songs which undoubtedly shape anyone to the best glory, success and goodness. Some songs which can be rendered by anyone spontaneously on listening-even without very serious training in music- proving the fact that music is within each person- as Valluvar says 'Kuzhal inidu yaazh inidu enbar than makkal kural kelaador'. This paper has attempted to have some as monument for Tamil language and music.

References:-

i) TRADITION AND INDIVIDUAL STYLES- Ph.D., THESIS BY KARAIKUDI. SUBRAMANINAN

ii) www.cafemuse.com/soundgarden/theory_math/melody.htm

iii) Articles on Carnatic Music Transformed Tamil Music by Ramalingam Shanmugalingam

iv) Kummi From Wikipedia, the free encyclopedia

बंगाल के लोकसंगीत

प्रमिती चौधरी

असिसटेंट प्रोफेसर, प्रयाग महिला विद्यानीठ, इलाहाबाद

लोकसंगीत किसी भी प्रांत के जीवन बोध एवं संस्कृति को दर्शाता हैा समाजिक परिवेश पर प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से लोकसंगीत में पड़ता हैा भारतवर्ष उत्सव प्रधान देश है, अतः हर प्रकार के उत्सव के गीत यहाँ मिल जाते है लोकसंगीत का सौन्दर्य, उसकी सहजता और भावों की सनातनता ही उसे चिरनूतन बनाए रखती है। बंगाल का लोकसंगीत वहा की उर्वरका सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पलकर लोकविधाओं में अग्रणी स्थान रखता है। यहाँ के लोकगीत जैसे कीर्तन, बाउल, भटियाली, चटका, गम्भीरा, गाजन, भवइया इत्यादि विश्वविख्यात् हैं इसके अतिरिक्त सारी, जारी, झूमर, करमगी, पटुआगीत, बोलान, भाशानगीत, बारोमाशी, आगोमोनी गीत इत्यादि विभिन्न क्षेत्र जाति सम्प्रदायों में प्रचलित है। इस लेख में कुछ प्रमुख लोकगीत जैसे-भटियाली, बाउल, चटका, भवइया को ही रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

1. भटियालीः-भटियाली बंगाल के लोकगीतों का मूल है। अधिकतर लोकगीत समूह में गाए जाते हैं एवं उनमें लय की प्रधानता रहती है, परन्तु भटियाली अकेला व्यक्ति गाता है, यह सुरप्रधान है और सुरों का लगाव मन को झकझोर देता है। यह पुरूष प्रधान लोकधुन है जो अधिकतर बिलावल तथा कभी-कभार खमाज थाट पर आधारित होती है। भटियाली शब्द ज्वार-भाटा से जुड़ा है। अर्थात जैसे-तैसे पानी घटते हुए नदी के कन्भ की ओर समा जाता है, ठीक वैसे ही इसमें स्वर ऊँचे (तारसम्तक)से क्रमशः नीचे (मंभ) की ओर आते हैं। इसमें मुख्य रूप से संगति के लिए (दो तारे) का प्रयोग होता है, कभी-कभी हम देखते हैं कि कलाकार कार्ड का बखूबी प्रयोग करते है जसे- दो तारे में यदि ग प स बज रहा है तो गायक स स रे, स स ग प़ में गा रहा होता है।

भटियाली में प्रकृति तत्व की प्रधानता है। यह मुख्य रूप से नाविकों केद्वारा नदी पार करते समय गाया जाता हैं बंगाल को कई नदियों समृद्ध किया है। कुछ स्थान तो ऐसे हैं जो वर्ष के छः महीने जलमग्न रहते हैं, वहां यातायात का मुख्य साधन नाव ही होता है। ऐसे में मल्लाह के पास नाव खेते हुए अन्तहीन आकाश और विसतृत फैले पानी की पृष्ठभूमि में कुछ दार्शनिक विचार स्वयं ही पनपने लगते हैं जैसे मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाना है? आदि। कई बार उनके गीत के बोलों में प्रयुक्त 'नदी' शब्द जीवन रूपी नदी का रूप ले लेती है और नाव को खेने वाला नाविक परमब्रह्म हो जाता है, और नाव सम्भवतः एक शरीर का रूप ले लेता है। इस तरह के सरल शब्दों से एक परिपक्व दार्शनिक चिंतन प्रायः ही भटियाली गीतों में पाया जाता है, जो इस लोकशैली को अलग ऊँचाइयों पर ले जाता है।

प्रायः ऐसा लगता है कि तार सप्तक के स्वरों के माध्यम से मन के भावों को दूर किसी के

उद्देश्य में पहुंचाया जा रहा है, जो इस शैली को और भी रोमांचक बना देती है। प्रारम्भिक दौर में पांच प्रकार के भटियाली प्रचलित थे। मुर्शिदी एवं बिच्छेदी भी इसी के प्रकार थे। भादू नामक भटियाली शास्त्रीय संगीत पर आधारित होता था। जिसमें सप्तक के बारहों स्वय प्रयुक्त होते थे जो किसी भी लोक संगीत में दुर्लभ है। भटियाली मुख्यतः पूर्वी बंगाल, मैमनसिंह सिलेट से होते हुए पूरे बंगाल में फैला। इस विधा के मुख्य कलाकार हैं' मिर्जा अली, उकीली मुंशी, अब्बासउद्दीन, मलय गांगुली, निर्मलेन्दु चौधरी आदि।

2. बाउलः-बंगाल में 'बाउल' एक सम्प्रदाय का नाम है। इसी अधार पर इनके गाए गीतों का नाम 'बाउल' पड़ा। बौद्ध धर्म के कारण आरम्भ में, बाउल ईश्वरवादी नहीं थे। बौद्ध धर्म के अवसान के बाद सिद्धयोगियों का सहजिया सम्प्रदाय विकसति हुआ। ये तन्त्र-मन्त्र की कला जानते थे। बाउल सहलिया दर्शन का ही रूप है। बाउल गीतों में आत्मसिद्धि की अवस्थाओं का बहुतायत से वर्णन मिलता है। इनके गीतों के दो भावार्थ होते हैं- एक समान्य अर्थ, दूसरा आध्यात्मिक। इनमें हिन्दू भक्ति एवं सूफियाना भाव दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है। इन्होंने देह तत्व को बहुत प्रधानता दिया है। ये इन्सान के अन्दर ही ईश्वर को खोजते हैं। ये इस नश्वर संसार को अनासक्त भाव से जीते हैं। इन्होंने मानव शरीर को मन्दिर तथा संगीत को सर्वशक्तिमान तक पहुंचने का मार्ग माना है।बाउल सम्प्रदाय में दो पंथ पाए जाते हैं- एक हैं जो पारिवारिक जीवन से परे एक सन्यासी का जीवन जीते हैं और दूसरे हैं जो अपने परिवार के साथ रहते है।

यह सम्प्रदाय एक अखाड़े से दूसरे अखाड़े में घूमना है, इनका निश्चित ड्किाना नहीं होता है। इनका वस्त्र सफेद लुंगी और लम्बाा अंगरखा होता है। औरतें सफेद साड़ी पहनती है, इनको 'बोष्टमी' कहा जाता है। ये एकतारा घुंघरूओं पर नाचते हुए गाते हैं। इनकी आंखे शून्य में गड़ी होती हैं। 'बाउल' शब्द का अर्थ कुछ लोग व्याकुल बताते हैं, ये आत्मसिद्धि में प्रयासरत होते हैं। कई बार बाउल वाद्यों के समूह के साथ भी गाते-बजाते हैं जैसे-भोन, दोतारा, गोपीयन्त, नूपुर, घुंघरू, ढोल, खोल, करताल, खमक, मंजीरा, वंसी इत्यादि। बाउल संगीत में कभी-कभी राग भेरवी का स्वरूप भी सुनाई पड़ता है। इनके गीत उत्तरांग प्रधान हैं।

3. भवइयाः-भवइया शब्द की उत्पत्ति भाव शब्द से हुई है। दूसरे मतानुसार 'भौआ' शब्द का अर्थ है चारागाह तथा बाओ शब्द का अर्थ है हवा के माध्यम से संगीत का बहना या दूर तक जाना। यह नारी प्रधान गीत है परन्तु इनके रचयिता पुरूष ही होते है। कुछ लोगों का मानना है कि यह बैरागियों का गाना है, यथार्थ पर आधारित होने के कारण इनके शब्द और स्वर हृदय को छू जाते है। भवइया गीत के कई प्रकार हैः- एक प्रकार है 'सितान भवइया' यह ताल प्रधान गीत स्वरों के उतरते क्रम में गाए जाते है जिसमें नायिका अपनी पीड़ा कहती है। उसे 'गदान भवइया' कहते है, पशुओं को चराते समय उनके पदचाप के लय में जो गए जाते है उन्हें 'मइसाली भवइया' कहते है। इनके अतिरिक्त इनके प्रकार है जिन्हें शिरोल भवइया, गड़ान तथा दरिया-ओ-दिघल नासा भवइया कहते है। इन गीतों में प्रायः कोमल नि का प्रयोग होता है। ये गीत पहाड़ी, झिंझोटी इत्यादि रागों पर आधारित होते है। इसमें खेमटा ताल के विविध रूप देखे जा सकते है। कुछ भवइया गीत बिना ताल के या अति विलम्बित लय में गाए जाते है। गायक गीत के बोलों के अनुरूप तालों का प्रयोग करते है। इस गायन शैली में दोतारे का प्रयोग होता है। इस शैली का जन्म स्थान कूच बिहार माना जाता है।

यह नृत्य रहित गीत है और अधिकतर भवइया गायक समुभ तट पर रहते है।

4. चटका:-इसे भवइया का ही एक प्रकार माना जाता हैं भवइया गाने के बाद चटका गाया जाता है। यह गानशैली उत्तरी बंगाल से आसाम तक लोकप्रिय है। इस शैली में व्यंगात्मक रूप में सामाजिक कुप्रथाओं पर गीत बांधे जाते है। सामाजिक बुराईयों पर सर्वसाधारण के समक्ष कुठाराघात का यह एक सशक्त माध्यम है। दोतारे के संगति से यह भुतलय में गाया जाता है। दो चरित्र के बीच संवाद के रूप में भी यह गाया जाता हैं इन गीतों को अवधि निश्चित नहीं होती यह लम्बे समय तक चल सकता है। वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव होने के कारण इनमें राधा कृष्ण की लीलाओं का मनोरंजक वर्णन होता है। ये गीत अधिकतर गद्यात्मक होते है अशालीन भाषा शैली के कारण ये गीत सभ्य समाज में अधिक लोकप्रिय नहीं है। अतः संगीत के सशक्त माध्यम, ये लोकसंगीत आज भी फिल्मों में एवं रिमिक्स इत्यादि के रूप में बहुप्रचलित है। बंगाल के लोकसंगीत कवि संगीतकार, चित्रकार, नाटक, जात्रा आदि सभी शाखओं के लिए प्रेरणा स्रोत है। शास्त्रीय संगीत सदैव से ही भारत देश की गरिमा का श्रोत रहा है संगीत के तीन अंग माने गये गायन वादन और नृत्य। संगीत रत्नाकर में भी कहा गया है।

लोकसंगीत का महत्व (वैदिक काल)

आकांक्षा गुप्ता

गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भारतीय संस्कृति लोक-संस्कृति है। इसका उद्गम लोक से ही हुआ है। वैदिक युग भारत के सांस्कृतिक इतिहास में प्राचीनतम युग माना जा सकता है। भारत को सांस्कृतिक उपलब्धियों का सर्वप्रथम रूप इसी युग के वाङ्मय में उपलब्ध है। वैदिक युग से अभिप्राय उस सुदीर्घ काल-खण्ड से है, जिसमें चारों वेदों तथा उसके विविध अंगों का विस्तार हुआ। ऐसी मान्यता है कि 'वेद' मानव के व्यक्ि ात्व को भौतिक धरातल से उठाकर सत्यलोक के धरातल तक पहुँचाने का मार्ग प्रशस्त करता है। यही वेदकालीन समाज में जीवन का आदर्श है। अग्नि, इन्भ, वायु, सूर्य, चन्भ आदि पाकृतिक तत्व दिव्य तत्व है, दिव्य तत्व हैं, इसीलिए इनको 'देवता' कहा गया है। इनका भी संबंध लोकों के साथ है। चूँकि वेद में इन्हीं देवताओं का विशेष रूप से वर्णन है तथा इन्हीं की स्तुति एवं प्रार्थना की जाती है, इसीलिए वेद का संबंध केवल दिव्य तत्वों के साथ मान लिया गया है और जिस 'वाङ्मय' शब्द पद्य, गद्य व गान के रूप में विशिष्ट रूप वेद के साथ जुड़ गया है, वही लोक कहलाता है। लोक संगीत का इतिहास बहुत पुराना है, वेद से भी पुराना। वस्तुतः मानव के अर्विभाव से ही लोग गीतों का उद्भव माना जाता है। लोक गीत वेद-पूर्व सभ्यता के आदिम दस्तावेज़ हैं।जब हम वैदिक संगीत के स्वरूप विचार करते हैं, तो हमें संगीत की दो धाराएँ दिखाई पड़ती हैं- एक विशेष प्रकार का स्तुतिकरण साहित्य, 'वेद' नाम से प्रसिद्ध हुआ और समाज में मानव द्वारा प्रणीत साहित्य 'साहित्य' नाम से जाना गया और ठीक ऐसी ही स्थिति संगीत की भी है। जो गान अग्नि, इन्भ आदि देवताओं की स्थिति करने वाले मंत्रोंपर किया गया, उसे सामगान तथा ऐसे मंत्रों के अलावा जो गान सामान्य लोगों अर्थात समाज में प्रचलित थे, उन्हें विभिन्न सामाजिक अवसरों पर सबके मनोरंजन के लिए या कभी-कभी केवल अपनी मनोरंजन के लिए स्वेच्छा से किया जाता था। ऐसे गान लौकिक संगीत के अंतर्गत आते थे। वैदिक काल में लोक-संगीत के रूप में जो भी गाना प्रचलित रहे होंगे, उनका कोई जो भी गान प्रचलित रहे होंगे, उनका कोई संकलन या परम्परा प्राप्त न होने के कारण आज हमें उनकी पूरी जानकारी उपलब्ध नहीं होती किंतु वैदिक साहित्य में लोक-संगीत के विभिन्न संदर्भ मिलते हैं उनसे हम लोक-संगीत के स्वरूप का अनुमान लगा सकते हैं। सामवेद भारतीय संगीत कला का प्राचीनतम निदर्शन है। इसका स्त्रोत तत्कालीन लोक-संगीत ही रहा है और इस दृष्टिकोण से दोनों मूलतः देशी संगीत का प्रतिनिधित्व करते हैं। वैदिक युग के लौकिक समारोहों पर गीत, वाद्य तथा नृत्य का अयोजन बराबर किया जाता है। यह देशी संगीत रहा हो, ऐसी यथार्थ कल्पना की जा सकती है। सामगान के पाश्चात्य अन्वेषक फेल्बर के अनुसार सामवेद में लोकगीतों के प्रभावशाली तत्व उपस्थित

हैं तथा यज्ञविधियों की प्रभावात्मकता की वृद्धि के लिये युद्ध गीत जैसे-लोकगीतों का गान सामगान में प्रभावत्मकता के साथ प्रचलित रहा है।सामगान के अन्तर्गत 'हाउ हाउ' आदि स्त्रोत संज्ञक निरर्थक शब्दों का बहुत प्रयोग पाया जाता है। जो उसकी लौकिक व्युत्पा । का द्योतक माना जा सकता है। ऋग्वेद में गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों का पर्याप्त प्रचलन दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के शंखायन ब्राह्मण के अनुसार इन तीनों शिल्पों का प्रयोग यजमान के साहचर्य के रूप में होता है। इन शिल्पों की गणना दैवी शिल्पों में है, तथा इनकी सहायता से यजमान का व्यक्तित्व सुसंस्कृत हो जाता है। यज्ञ कार्य में सभी विधाओं के उपयोग से यह बात सामने आती है, कि सभी समाज के लोग भगवत् समर्पण वृद्धि से इसमें भाग लेते और अपने कार्यों के द्वारा भगवान की पूजा करते थे। गान के विविध भेद सामगान के साथ-साथ अन्य गान विधाओं का उल्लेख भी वैदिक साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलता है, जो कि निम्न हैं :- **गाथागान** :- गाथागान के वैदिक एवं लौकिक दो प्रकार थे। लौकिक गाथा में लौकिक व्यक्ति-किसी राजा, आमत्य, वीर या यशस्वी व्यक्ति की स्तुति की जाती थी। वैदिक गाथागान में देवताओं की प्रशंसा स्तुति की जाती थी। लौकिक गाथाओं को सूत, मागध आदि भी गा सकते थे। अश्वमेधादि यज्ञों में जो प्राचीन कथायें गाथागान के रूप में गायी जाती थी उन्हें 'पारिप्लव' कहा जाता है। ऋगवेद 1/10/1,1/7/1 में इन्मवेद व तैत्तिरीय सं. 8/1/8 में यमदेव सम्बन्धित गाथा गान का उल्लेख है। यही वैदिक गाथायें हैं।

नाराशंसी गाथा :- तैत्तरीय ब्राह्मण के अनुसार वेदों के मलिन भाग को देवताओं द्वारा दूर कर देने से वह मलिन भाग 'नाराशंसीगाथा' कहलायी। इनके रचयिता कोई नहीं और इसे सूतमागध गाते हैं। मनुष्यों की प्रशंसा में होने से 'नाराशंसी' वेदों का मलरूप है। नाराशंसीगाथा को भी हम वैदिक काल के लौकिक संगीत के अन्तर्गत मानते हैं। ऋग्वेद में विविध गति-क्रमों से युक्त लोक-नृत्यों का उल्लेख मिलता है। सूत्र वाङ्मय में गाथाओं के निम्न अभिधान मिलते हैं- हिल्लका, हिम्बिनी, हस्बारा, सम्वत्सरगाथा, भिल्लुका आदि। नृत्य के समय प्रत्येक गीत का गान युग्म के द्वारा होता था और सभी गाथाओं के अन्त में - "हे मघा इदं मधु हिल्लाहिल्लि" - इस पंक्ति का एक स्वर में सामूहिक गान किया जाता था। गीत एवं नृत्य के साथ गिनकर ताल देने वाले व्यक्तियों की योजना भी होती थी। विवाह के अवसर पर चार से आठ सुहागनियों को सुरा पिलाकर चतुर्वार नृत्य करने के लिए प्रेरित किया जाता था वैदिक साहित्य में 'आकर्षण को लोक-संगीत का प्रमुख तत्व माना गया है। यह बात उचित भी है। जो सामान्य जनों के हृदय को आकृष्ट न कर सके, वह लोकगीत ही क्या? गीत को अधिक आकर्षक एवं रोचक बनाने के लिए उसके साथ वाद्य की संगति आवश्यक होती है और, उसके साथ नृत्य भी हो तो संगीत वास्तव में अपनी पूर्णता को प्राप्त होता है। ऋग्वेद में नानविध गीतों, वाद्यों तथा नृत्य का उल्लेख प्राप्त होता है। ये नानविध गीत सामगान के अतिरिक्त हैं, इसलिए उनको लोगगीत कहना अनुचित न होगा। अथर्वेद के ही एक मंत्र में घोषयुक्त सामूहिक गान का संकेत प्राप्त होता है। गान्धर्व जाति के लोग तथा अप्सरागणों का उल्लेख भी संहिता-साहित्य में मिलता है, जिनका जीवन गति, वाद्य तथा नृत्य के लिए ही समर्पित है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनके द्वारा समाधान किए जाने का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं है इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि गान्धर्वों तथा अप्सराओं का जिस संगीत से संबंध हो सकता है, वह उस काल का लोक-संगीत ही रहा होगा। वैदिक साहित्य में ऐसे

प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि लोक-संगीत धीरे-धीरे व्यावहारिक बन रहा था। लोक-संगीत का आयोजन धार्मिक तथा सामाजिक अवसरों पर किया जाता था। ऐसे कार्यक्रम कभी दिन में आयोजित होते थे और कभी रात में।

इस उल्लेख से यह बात स्पष्ट होती है कि इन लोकगीतों का प्रचलन समाज से सभी वर्ग के लोगों में था। जहाँ अभिजात-कुल की महिलाओं में लोक-संस्कार के अवसर पर स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले गीतों का उल्लेख भी मिलता है वैदिक युग में 'समन' नामक एक प्रकार के मेले का उल्लेख मिलता है। इन मेलों का मुख्य उद्देश्य वर-वधु की खोज करना था। इन समनों में सामूहिक गायन, वादन एवं नृत्य एक आवश्यक अंग था। वस्तुतः गाथा और नाराशंसी ये दोनों विधाओं का उल्लेख हमें वैदिक काल की लोकगाथाओं के अन्तर्गत मिलता है। वीर पुरुषों की स्तुतिपरक लोकगाथाओं तथा नाराशंसी आदि के रूप में लोकगीतों की परम्परा वैदिक काल में प्रचलित थी। समाज में शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत सामगान का तथा लोक-संगीत के अंतर्गत अन्य गान-प्रकारों का प्रचलन था। साम का स्वरूप तथा गान-तकनीक तो लक्षण-ग्रन्थों में प्राप्त होती है, किन्तु गाथादि लोक-प्रकारों के संकलन या तकनीक की जानकारी पूर्ण-रूप से प्राप्त नहीं होती। फिर भी प्राप्त संदर्भों के आधार पर यह अनुमान लगा सकते हैं कि संगीत की दो धाराएँ-'शास्त्रीय' और 'लौकिक' वैदिक काल में थी और परवर्ती समाज में भी प्रचलित रही है।

संदर्भग्रन्थ - सूची

1. शरच्चन्भ परांजपे - भारतीय संगीत का इतिहास
2. कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी लोकगीत
3. संगीत मासिक पत्रिका, फरवरी अंक 2012, हाथरस

प्रान्तीय लोक संगीत के अन्तर्गत बिहार के लोक गीतों का वर्णन

डॉ. अनामिका कुमारी

वाद्य संगीत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रारम्भ से ही भारत कला एवं संस्कृति का केन्द्र रहा है। यहाँ विभिन्न प्रान्त के लोग निवास करते है- जिनका जीवन सदा से संगीतमय रहा है। शायद ही ऐसी कोई जाति होगी जिसके जीवन पर संगीत का प्रभाव न पड़ा हो विशेष रूप से भारत का संगीत एक ओर प्रकृति ओर अध्यायत्म दोनों पर आधारित है। साहित्य से ब्रह्म का ज्ञान और संगीत से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। प्रारम्भ से ही भिन्न-भिन्न अवसरों पर गायन वादन तथा नर्तन की प्रथा रही है।

जहाँ तक लोक संगीत का प्रश्न हे तो विभिन्न प्रान्तों में प्रादेशिक संस्कृति की आवश्यकता के आधार पर विभिन्न अवसरों पर जो गीत गाए जाते हैं- उसे लोक संगीत कहा गया है। जो दो शब्दों के मेल से बना है- लोक और संगीत अर्थात् लोगों का संगीत, जो सहज और सरल है, जिसे अनुकरण से सीखा जाता है, इसमें विशेष साधना की आवश्यकता नही होती, इसमें ज्ञान का आधार प्रशिक्षण नहीं होता फिर भी गीतों की स्वर रचना के परिक्षण से यह पता लगाया जा सकता है कि अमुक गीत किन परिस्थिति विशेष के लिए रचाा गया और इसकी स्वर रचना में कौन सी भावना है।

लोक का अर्थ है- वह महासमुद्र जिनकी भावनाओं, विचारों, परम्पराओं, क्रियाओं एवं मान्यताओं में वास्तविक कल्याण के तत्व विद्यमान रहते है। लोक हमारे जीवन का वह महासमुद्र है जिसमें उसका भूत वर्तमान तथा भविष्य सभी कुछ संचित है। इस प्रकार लोक संगीत और लोक नृत्य किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर सारे विश्व का साझा निर्माण होता है। मनुष्य अपने आजिविका के लिए सदैव से श्रम करता रहा हैं इसी श्रम को सरल सुखद बनाने के लिए उसने कलाओं का जन्म दिया और इसमें प्रकृति सहायक रही। मानव हृदय का भाव विकास जब लयात्मक आरोहावहरोह में भाषा बद्ध होकर प्रभावित होने लगा तो शब्द शास्त्रीयों ने उसे 'गीत' कहा और इसी गीत परम्परा की एक धारा जब अपनी देशज बोलियों में (घरेलू भाषा) में प्रवाहित होने लगी तो उसे लोक गीत कहा गया।

लोक संगीत का क्षेत्र इतना व्यापक है कि जीवन का कोई भी पहलू कोई प्रसंग कोई भावना और कोई प्रवृत्ति इसके माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है। इसकी व्यापकता इतनी अधिक है कि हर प्रान्त के संगीत की चर्चा करना एक वृहद विषय हैं यदि गम्भीरता से देखा जाए तो हर प्रान्त का लोक संगीत एक शोध का विषय बन सकता है। फलस्वरूप मैं बिहार के कुछ प्रमुख लोक गीत जो वहां के लिए प्रमुख है इससे सम्बन्धित अपने विचार इस प्रपत्र के माध्यम से व्यक्त कर रही हूँ। लोक गीतों को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया गया है।

1. सांस्कृतिक गीत- इसके अन्तर्गत सोहर खेलाबना, मूंडन जनेऊ विवाह अर्थात जन्म से लेकर मृत्यु तक के गीत सम्मिलित है।

2. ऋतु संबंधी गीत- इसके अन्तर्गत होली या फगुआ चैती, कजरी, हिंडोला बारहमासा आदि के गीत आते है।

3. ब्रत-त्योहार से सम्बन्धित गीत- इसके अन्तर्गत तीज, नागपंचमी, छठ आदि के गीत है।

4. श्रमिक गीत- इसके अन्तर्गत कार्य करते समय गाये जाने वाले गीत सम्मिलित है।

5. जाति संबंधी गीत - इसके अन्तर्गत विभिन्न जातियों से सम्बन्धित गीत आतें है।

6. विविध गीत- इसके अन्तर्गत झूमर, पूर्वी, निर्गुन लोरी गीत आदि सम्मिलित है।

बिहार का लोक संगीत अत्यन्त समृद्ध है यहाँ लोक गीतों का क्षेत्र पाँच भाषाओं के बीच विभक्त है- भोजपुरी, मगही, मैथली, अंगिका और वज्जिका। भोजपुर लोक संगीत का क्षेत्र भोजपुर (आरा) रोहतास, (सासाराम) डालटेनगंज, राँची के कुछ भागों में पूर्वी चम्मारण (मोतिहारी) पयिचमी चम्पारण (बेतिया) एवं उ ार प्रदेश में मिर्जापुर, वाराणसी गाजीपुर, आजमगढ़, आदि तक इसका प्रभाव है। मगही लोक संगीत का क्षेत्र पटना, गया, नालंदा से लेकर मुगेर, नवादा, भागलपुर तथा झारखण्ड राज्य में दुमका, गिरीडीह, धनबाद राँची सिंहभूम तथा हजारीबाग जिले सम्मिलित है।

मिथिला लोक संगीत का क्षेत्र चम्पारण, मुजफ्फरपुर, सीतामढ़ी, वैशाली, समस्तीपुर, दरभंगा, मधुवनी, बेगूसराय, सहरसा, पूर्णीया, कटिहार खगड़ियां, किशनगंज आदि है।

अंगिका का क्षेत्र भागलपुर तथा उसके आस-पास है। इसी तरह वज्जिका वैशाली तथा मुजफ्फरपुर के निकटवर्ती क्षेत्रों में प्रचलित है। इन दोनों बोलियों में प्रायः सभी प्रकार के लोक गीत पाये जाते है। अतः भोजपुरी आदि की अपेक्षा इन भाषाओं के गीतों का कम प्रचार है।

सांस्कृतिक गीत-इसके अन्तर्गत वे सभी गीत है जो विभिन्न अवसरों पर गाए जाते है जैसे जन्म के समय छठी के समय विवाह के समय मृत्यु के समय आदि। संतान जन्मोत्सव के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों को सोहर कहा जाता हैं। ये एक प्रकार के मंगलगीत है, जो प्रायः सभी हिन्दी भारूा-भाषी प्रदेशों में प्रचलित है।

भोजपुरी में 'सोहल' का अर्थ 'अच्छा लगना' कहा जाता है। इसकी निरूक्ति 'सुधर' शब्द से की जा सकती है, जिसका अर्थ 'सुन्दर' हैं बृज में इन गीतों को सोगर, सोगर या सोहिलों कहा जाता है। राजस्थान में सोहर को 'हालरा' कहते है। श्री बासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार सोहर शब्द संस्कृत के सुक्तिगृह और प्राकृत के 'सुइहर' से बना है। सोहर को शुभ तथा सुहावना माना जाता है। आन्नद तथा बधाई इन गीतों के मुख्य विशय है। मिथिला में दो प्रकार के सोहर गाये जाते है:-

जन साधारण सोहर : ये सोहर जन्म, उपनयन, विवाह के अवसर पर सामान्य रूप से गाए जाते है।

धार्मिक सोहर : ये वे सोहर है जिनमें रामकृष्ण के प्रसंग होते है और ये विशिष्ट धार्मिक उत्सव तथा रामनवमी और कृष्णाष्टमी के अवसर पर गाए जाते है। सोहर बड़े छंदों में लिखे जाते हैं। ये वर्णन प्रधान होते हैं इन गीतों में दूसरी पंक्ति में बहुधा ललना शब्द का प्रयोग आता है। भोजपुरी में एक सोहर इस प्रकार से है- परथम चरन गनेस जी के चरन मनाइतें हे। ललना, विधिन हरल गननायक, मंगल गाइले हे।।

मैथिली सोहर में श्रृंगार रस की अपेक्षा करूण रस का पुट अधिक होता है। खेलावन शब्दभी सोहर की तरह है। अन्तर सिर्फ इतना है कि सोहर संतान

जन्म के पहले गाये जाते हैं जबकि खेलवना संतान जन्म के उपरान्त गाये जाते है। छठी पूजन के अवसर परभी सोहर गाने की प्रधानता होती है किन्तु कुछ गीतें में छठी पूजने का वर्णन भी आता है।

मुण्डन संस्कार में बच्चें के बाल मुँडवा दिये जाते है। इस समय जो गीत गाए जाते हैं, इसमें बच्चें के बालों का मुण्डन करने की इच्छा, माता-पिता और इस अवसर पर ब्राह्मणों भाइयों नाते रिश्तेदारों को प्रसन्न करने की संकल्प अभिव्यक्ति पाई जाती है।

विवाह सबसे प्रधान है और प्रसिद्ध संस्कार है हिन्दुओं में जहाँ मुंडन और यज्ञोपवित संस्कार नहीं होता वहाँ संस्कार अवश्य ही सम्पादित होता हैं यह इतना व्यापक और प्रधान संस्कार है जो संसार की सभी सम्य अधवा असम्य जातियों में समान रूप से पाया जाता है। विवाह के समय गाये जाने वाले गीतों में निम्न गीत गाए जाते है जैसे-

तिलक के गीत, हल्दी के गीत, द्वार पूजा के गीत, सगुन के गीत, बारात विदाई के गीत आदि मैथली भाषा में विवाह के गीतों को 'लग्न गीत' कहतें है। इस समय 'सम्मरि' नामक गीत भी गाये जातें है जो बड़े मधुर होते है। एक लग्न गीत इसी प्रकार है- इसमें मिथिला की संस्कृति, गाँवों में प्राचीन आदर्श और कन्या के मनोभावों का चित्रण है- देखु-देखु साखिया श्यामल पहुनमा हे जिनका देखइत सखी मोहि जात मनमा हे। मिथिला के असही दुसही डारे न कोई टोनमा हे ताते सेहेलिया मोरी दई दिउ डिठोनमा हे।

ऋतुओं से सम्बन्धित गीत -ग्रीस्मऋतु के गीत अधिकांशतः नही मिलते है। यह अलग बात है कि इस अवधि में होने वाले ब्रतों एवं त्योहारों के अवसर पर गीत गाये जाते हैं।

वर्षाऋतु के गीत- वर्षाऋतु गीतों की ऋतु है। पावस के गीत लगभग चार महीनें तक गाये जातें है किन्तु इनमें सावन सबसे अधिक वर्षा की प्रतीक है।

(1) प्रबन्धक गीत (2) मुक्तक गीत

बिहार प्रान्त में अधिकांशतः मुक्तक गीतों की प्रधानता है जिसमें तरह-तरह के मिलन-विरह संबंधी मनोभाव पाये जाते है। ये गीत पारंपरिक भी होते है और किसी के द्वारा रचें गये भी। इनमें कजरी बारहमासा चौमासा झूला बरसाती आदि आतें है।

सावन के मन भावन महीने में भोजपुरी प्रदेश में जो गाने गाये जाते है उन्हें कजरी कहतें है। कजरी का वर्ण्य विषय प्रेम है। इसमें श्रृंगार में उभयपक्ष की भी झांकी मिलती हैं। कजरी का ही एक रूप मिथिला में मलार नाम से प्रसिद्ध है। मलार पावस ऋतु में स्त्री पुरूष दोनों गाते है तथा दोनों के गाने का ढंग अलग है। मगध क्षेत्र में वर्षाऋतु में कजरी के अलावा बरसाती एवं चौहर गीतों का प्रचलन है।

पावस ऋतु में जो आनन्दय गीत गाये जाते है उन्हें बारहमासा कहा जाता है। इन गीतों में विरहिणी की वेदना की अभिव्यक्ति पायी जाती है। इन गीतों में वर्ष भर के समान्त मासों बारह महीनों में होने वाले दुःखों का वर्णन पाया जाता है। जिसमें छः मासों का वर्णन होता है उन्हें छः मासा और जिनमें केवल चार मास का वर्णन होता है उसे चौमासा कहते है।

फाग या होली के गीत -होली के त्योहार के अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं उन्हें फाग या फगुआ कहते है। होली का उत्सव फाल्गुन पूर्णिमा को बनाया जाता है अतः फागुन में गाये जाने के कारण ही इन गीतों का नाम फगुआ पड़ गया। बिहार में प्राय सभी भाषा भाषी प्रदेशों में होली गीतों का प्रचलन है। होली का बहुत ही प्रचलित गीत

इस प्रकार है-

होली खेले रघुवीरा अवध में होरी।

चैता :चैत के मनभावन मास में चैता गाया जाता है। चैत के महीने में गेय होने के कारण ही इसका नाम चैता पड़ गया। लोक गीतों के जितने भी प्रकार है उनमें मधुरता इसकी प्रत्येक पंक्ति में पहले आहों रामा तथा अन्त में हो रामा शब्द का प्रयोग किया जाता है।

रामा नदिया के तीरवा गाछि हो रामा।
रामा मोर विधुवरवा कोंहार भइया हितवा हो रामा।

इस गाने की दूसरी विशेषता है कि दूसरी पंक्ति के प्रथम दों पदों की पुनरावृ ा उस पंक्ति के गायन समाप्त होने पर पुनः की जाती है।

व्रत त्योहार के गीत : इससे सम्बन्धित कई गीत आते हैं कुछ प्रमुख इस प्रकार है-

छठ के गीत :छठों का व्रत कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष की षष्ठी तिथि को किया जाता है। बिहार में इस पर्व की बड़ी महिमा है। यह व्रत स्त्रियों का ही है परन्तु मिथिला में इसे स्त्री-पुरूष दोनों करते है। इसे डाला छठ के नाम से भी पुकारा जाता है। यह बड़ा ही कठिन पर्व है क्यों कि इसमें दो दिन का उपवास रखा जाता है तथा तीसरे दिन सूर्य को अर्ध्य देकर खाया जाता है। इससे सम्बन्धित कई गीत प्रचलित है-

दुधवा धिउवा लेके ग्वालिनि बिटिया ठाढ़।
फालावा, पुलवा लेल मालिनि बिटिया छाढ़।
धूपवा, जलवा रे लेके वाआनवा रे ठाढ़।
आरे हाली उग ए अदितमल, अरघ दिआउ।

वट सावित्री : जेठ महीने में कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी से अमावस्या तक तीन दिन का व्रत वट सावित्री कहलाता है, उसे सधवा स्त्रियाँ अचल सुहाग की कामना से करती है। मिथिला में गीत अधिक गाये जाते है।

मधुश्रावणी तीज :-श्रावण त्रृतीया को बालिकाएँ तीज नामक उत्सव मनाती है। इसे स्वर्ण गौरी व्रत या कजरी तीज भी कहते हैं मिथिला में यह त्योहार विशेष रूप से सुहागिनीं करती है। इस अवसरपर गाया जाने वाला गीत।

कदलिक दल सन धर धर कॉपए
मधु श्रावणी विधि आज ए
वध करि हाथ कमल कर बीती
देखि सागर तन कॉपए

कार्तिक पूर्णिमा : यह मास चतुर्मास व्रत का अन्तिम मास है। इसे ब्रहमा, विष्णु, शिव और आदित्य आदि ने महापुनीत पर्व प्रमानित किया है अतः इसमें किये हुए स्नान, दान होम, व्रत का अनन्त पालन होता है। इसमें एक मास तक गंगा और यमुना में स्नानव दीपदान का विशेष महत्व होता है। इसके भी कई गीत होते है।

उदाहरणाथ-

कार्तिक पुरनमासी उधौ
सब सखी गंगा नहाय।

श्रमगीत- कोई काम करते समय थकावट मिटाने के लिए जो गीत गाये जाते हैं उन्हें श्रमगीत कहा जाता है। जीवन की दैनिक समस्याएँ पारिवारिक स्थिति वैयक्तिक सुख-दुख सामाजिक या सामयिक स्थिति मालिक मजदूर आदि के भाव इस प्रकार के गीतों को वर्ण विषय है। ये गीत कई समयों पर गाये जाते हैं। जैसे चक्की चलाना, पानी भरना. खेतों में काम करना, खाना बनाना आदि।

जंतसार गीत - चक्की में आटा पीसते समय गाये जाने वाले गीतों कों जंतसार कहते है। इन गीतों में नारी हृदय की वेदना और टीस के चित्र मिलते हैं। यह गीत प्रायः लम्बे होते है। इनमें कई

प्रकार की बाधाएँ आती है-

उदाहरणः-

सेर भरि गेहूँआ रे सासु जोखि दीहली हो राम, आरे जंतवा गढ़वली गजओबरि हो राम

जंतवा धइले सांवरि ढुराबेली हो राम

वाट बटोहिया रे तुहूँ मोरे भइया हो राम।

कटनी के गीत :-आषाढ़ मास में धान के खेतों में बोये जाते हैं, वे अगहन में अर्थात् शीतऋतु में काटे जाते हैं, तभी खेत खलिहान समृद्ध होते है। घर-द्वारा अनाज से भरतें है। किसानों में उल्लास छा जाता है। इस समय स्त्रियाँ गीत गाती हैं-

खेतन माँ लागी कटनिया हो रामा

माथे के झमर झला झल झलके

खनके कलइया कंगनवा हो रामा।

जाति सम्बन्धी गीत-बिहार में जाति सम्बन्धी गीत प्रचलित है। जैसे अहीरों के गीत, धोबियों के गीत, तेलियों के गीत आदि।

अहीरों के गीत : भोजपुरी लोक गीतों में बिरहा अपना विशेष स्थान रखता है। यह बड़ा ही लोकप्रिय गीत है। अहीर लोगों का यह जातीय गान है। खेत में घास काटते हुए गायों की चरवाही के समय विवाह करने के लिए बारात में गाते हुए एवं लाठी लेकर जाते हुए सर्वत्र अहीर लोग बिरहा को गा-गा कर अपनी थकावट को मिटाते है। मंगलमय अवसरों पर जिस प्रकार उच्च जातियों के नाच गान होता है। उसी प्रकार अहीर लोगों में बिरहा गाया जाता है-

उदाहरण -

रसवा के भेजली भँवरवा के संगिया

रसवा ले अइलें हाथोर।

उतना ही रसवा में भेकरा बटबों,

सगरी नगरी हित मोर।

विविध गीत : कुछ ऐसे गीत जो विविध गीत के अन्तर्गत आते हैं। इन गीतों में झूमर, लाचारी, पूरबी, निर्गुन, पाराती और भजन मुख्य है। लोरी गीत, पालने के गीत, खेल के गीत भी इसके अन्तर्गत आते है। इससे सम्बन्धित कुछ प्रमुख गीतों का वर्णन इस प्रकार से है-

झूमर : किसी भी विशेष संस्कार के अवसर पर उन संस्कार संबंन्धी गीतों के गाने के पश्चात झूमर गाया जाता है। इसलिये इसे गाने के लिए किसी निर्दिस्ट समय या अवसर नही बल्कि ये प्रत्येक अवसर पर गाये जाते है। स्त्रियाँ एक साथ मिलकर झुम-झुम कर इस गीत को गाती है। अतः इसका नाम झूमर हो गया। जैसे-

ना जानों यार झूलनी मोर कहाँ गिरा।

पनिया भरण जाऊँ राजा ना जानों।

यहाँ गिरा ना जानों वहाँ ना जानो।

ना जानों यार झूलनी मोर कहाँ गिरा।

मैथली तथा भोजपुरी झूमर में अधिकांशतः समानता पाई जाती है।

पूरबी : उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर में और बिहार में पश्चिम जिलों आरा, छपरा में इन गीतों का प्रचुर प्रचार है। भोजपुरी प्रान्त के पूर्वी जिलों में गाये जाने के कारण ही इन गीतों का नाम पूरबी पड़ गया है। इन गीतों में विपलम्भ श्रृंगार का ही वर्णन अधिक पाया जाता है।

पिया मोरे गइले रामा पुरबी बिनिजिया, कि देके गइले ना, एक सुगना खिलौनाकि देले गइलेना।

इस गीत में परदेश में गए पति के पास उसकी विरह विधुर नायिका के द्वारा संदेश भेजने का वर्णन दिया गया है।

निर्गुन :भक्ति भावना से ओत प्रोत गीतों को निर्गुन कहा जाता है यद्यपि भजन और निर्गुन का वर्ण्य विषय एक ही है। परन्तु इन दोनों की गाने

की लय में बहुत अन्तर रहता है तथा निर्गुण की दूसरी पंक्ति में प्रायः 'आहो रामा' से प्रारम्भ होती है। और इसकी 'हो रामा' में समाप्ति पायी जाती है।

पाँच पच्चीस कोस बसेले महाजन हो,
आहो रामा कवना अवगुनवे हरि मोरे सेले हो राम।

पराती और भजन : प्रातः काल में गाये जाने वाले भजन को पाराती कहा जाता है जबकि भजन सभी समयों में गाए जाते है।

राम नाम मुख बोलु ए भाई
छोडु अब जग चतुराई।

अतः उपर्युक्त विवेचनों से यह विदित है कि बिहार राज्य में लोक गीतों का विशाल भण्डार है। यद्यपि इसमें परिवर्धन प्रत्येक समय संभव रहा है किन्तु अपनी परम्परा और संस्कृति को बनाए हुए। इसी सन्दर्भ में ृाल्क विलियम्स ने कहा है कि ''लोक संगीत न पुराना होता है न नया वह जंगल के एक वृक्ष के समान है जिसकी जड़े दूर धरती में धंसी है और जिसमें निरन्तर नई-नई डालियाँ पल्लव और फल-फूल खिलते रहतें है।

संदर्भग्रन्थ - सूची

1. लोक संगीत के संदर्भ एवं आयाम- डॉ. शान्ति जैन
2. भोजपुरी संस्कार गीत - हंस कुमार तिवारी, राधावल्लभ शर्मा
3. भोजपुरी लोक साहित्य- डॉ. कृष्ण देव उपाध्याय
4. भोजपुरी ग्राम गीत, भाग-2 डॉ. कृष्ण देव उपाध्याय
5. लोक संगीत अंक - जनवरी 1966
6. भोजपूरी लोक गीतों में संगीतात्मक एवं उनका शास्त्रीय विवेचन - डॉ. सुधा रानी शर्मा
7. लोक साहित्य का प्रतिमान - डॉ. कुन्दन लाल उप्रेती
8. लोक संगीत अंक - डॉ. लक्ष्मी नारायण गर्ग

लोकसाहित्य का महत्व

ऋचा वर्मा

गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, का. हि. वि. वि.

लोकजीवन में लोकसाहित्य का अत्यंत ही महत्व है। इसके संरक्षण एवं अनुशीलन के द्वारा साहित्य का विकास किया जा सकता है। साहित्य में धर्म, समाज, सदचार आदि बातों का समावेश मिलता है। इसके अलावा साहित्य के द्वारा स्थानीय इतिहास एवं भूगोल संबंधी जानकारी भी प्राप्त होती है। लोक साहित्य जनता के हृदय का उद्‌गार है। लोक गीत, लोक-गाथा, लोक-कथा, लोक-नृत्य इत्यादि ये भी लोक साहित्य के अंग माने गए हैं। इसके अलावा लोक सुभाषित जिसके अन्तर्गत बच्चों के गीत, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ इत्यादि आते हैं। जिनका व्यवहार प्रतिदिन लोक-जनजीवन में समान रूप से किया जाता है। लोक साहित्य के महत्व को हम साधारणतयाः छः भागों में विभक्त कर सकते हैं -

ऐतिहासिक महत्व - ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो लोक साहित्य में इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। मुगलों के शासनकाल में किस प्रकार देश में अशांति एवं दुर्व्यवस्था थी इसका चित्रण अनेक लोक-गीतों में पाया जाता है। भोजपुरी क्षेत्र सदा से अपने वीर योद्धाओं के लिए विख्यात रहा है। शत्रुओं का पतन करने वाले वीरों की अनेक कहानियाँ गीतों में पाई जाती है। वीर कुँअर सिंह वीरता एवं बहादुरी का वर्णन एक गीत में मिलता है जो इस प्रकार है -

लिखि लिख पतिया के भेजलन कुँवर
सिंह ए सुन अमर सिंह भाय हो राम।।
बाबू कुँवर सिंह भाई अमर सिंह
दोनों अपन हैं भाय हो राम।।
दानापुर से जब सजलक हो कम्पू
कोइलवर में रहे छाय हो राम।।

इस प्रकार गीत में कुँवर सिंह की सेना का दानापुर (टना) से चलकर कोइलवर में आने का उल्लेख है। इसके अलावा ऐसे भी गीत मिलते हैं जिनमें 1857 ई. के समय अवध में नवाब का गद्‌दी से हटाने के पष्चात् उनकी बेंगमों द्वारा विलाप करने का वर्णन है।

"गलियन गलियन रैयत रौवे हटियन बनिया बजाज रे।

महल में बैठी बेगम रोवैं डेटरी पर रोवै खवास रे।।

मोती महल की बैठक छूटी। छुटी है मीना बाजार रे।"

इस प्रकार महात्मा गाँधी के नेतृत्व में हुए राष्ट्रीय आंदोलन का भी वर्णन लोकगीतों में पाया जाता है। अतः ऐतिहासिक घटनाओं से संबंधित अनेक लोकगीत मिलते हैं जिनसे ऐतिहासिक घटनाओं का प्रामाणिक तौर पर उदाहरण भी मिलता है।

भौगोलिक एवं आर्थिक महत्व - लोकगीतों, लोककथाओं इत्यादि के माध्यम से स्थानीय भौगोलिक क्षेत्रों से संबंधित बातों का भी पता चलता है। लोकगीतों में बहुत सी नदियों तथा नगरों का नाम मिलते हैं। नदियों में गंगा, यमुना, सरयु, सोन इत्यादि तथा शहरों में काशी, प्रयाग, पटना, जनकपुर, अयोध्या, इत्यादि नाम मिलते हैं। इसके अलावा लोक गाथाओं में भी अनेक छोटे-छोटे गाँवों का नाम मिलते हैं जो समय के साथ लुप्त हो गए। साथ ही लोग गीतों में बहुत सारे गीत जन-जीवन के आर्थिक पक्ष को उजागर करते हैं। लोक कथाओं में भी सोने की थाली में भोजन करने और आभूषणों की प्रचुरता का वर्णन मिलता है। कोई स्त्री पति के परदेस जाने पर कहती है कि -

'सोने की थाली में जेवनाँ परोसलो जेवना न जेवें अलबेला बलमु कलक ॥ निकल गयो जी।''

भोजपुरी का एक मुहावरा है -'दूध से पैर धोना और घी से स्नान करना' इससे स्पष्ट होता है कि इन चीजों की प्रचुरता थी, जो कि लोगों की आर्थिक सम्पन्नता का प्रतीक है। साथ हीं सोने की कंघी, चन्दन की लकड़ी का पलंग, चांदी का पालना तथा पकवानों में बासमती चावल, पुआ, पूड़ी इत्यादि का उल्लेख मिलता है जो कि आर्थिक स्थिति को बताते हैं।

सामाजिक महत्व - समाज का वास्तविक चित्र लोक साहित्य में दृष्टिगत होता है। लोक-गीतों, गाथाओं और कथाओं से मनुष्यों के रहन-सहन, आचार-विचार, खान-पान और रीति-रीवाजों की जानकारी प्राप्त होती है। मध्य प्रदेश की आदिम जातियाँ जिनका एक करमा गीत का भाव है 'यदि तुम मेरे जीवन की सच्ची कहानी जानने चाहते हो तो मेरे गीतों को सुनो।' लोकगीतों में पति-पत्नी, भाई-बहन, माता-पुत्री, ननज-भावज और सास-वहू के संबंधों का वर्णन मिलता है। पुत्री के विवाह हेतु वर ढूँढने से लेकर उसकी विदाई तक में परिवार द्वारा रोने का सजीव चित्रण लोक गीतों में मिलता है। साथ ही बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और बहू-विवाह का भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार समाज का चित्रण हमें लोक-साहित्य में मिलता है।

धार्मिक महत्व - धार्मिक जीवन संबंधी बातों का अध्ययन भी हमें लोक साहित्य में मिलता है। लोक-गीतों में गंगा माता, तुलसी माता, शीतला माता तथा षष्ठी माता का गायन करने का उल्लेख मिलता है। गंगाजी में स्नान करने से समस्त पापों को धुलने की बात कही गई है। विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा आदि का वर्णन भजनों के माध्यम से किया जाता है। विभिन्न व्रत-त्यौहारों में देवी-देवताओं संबंधी गीत गाए जाते हैं। इसके अलावा लोक कथाओं में भी धर्म संबंधी बातों का वर्णन किया गया है। धर्म और नीति की शिक्षा देने के लिए लोक कथाओं का बड़ा ही महत्व है।

नैतिक महत्व - लोक साहित्य कें अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन समय में समाज का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा था। भोजपुरी लोकगीतों में स्त्रियों द्वारा सतीत्व को प्रमाणित करने तथा पवित्र सिद्ध करने हेतु आग में प्रवेश करने तथा जल समाधि लेने का उल्लेख मिलता है। भारत में सती-धर्म का पालन बड़ी कठोरता के साथ किया गया है। इसका उल्लेख भी लोक साहित्य में मिलता है।

भाषा शास्त्र सम्बन्धी महत्व - भाषा शास्त्र लोक-साहित्य का महत्वपूर्ण अंग है। सुप्रसिद्ध भाशा-तत्वेत्ता डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने कहा है कि जो लोग लोक-साहित्य का संग्रह कर रहे हैं वे भावी भाषाशास्त्रियों के लिए अमूल्य सामग्री उपस्थित

कर रहे हैं। लोकगीतों, लोक कथाओं, लोक गाथाओं सुलझा सकते हैं। अनेक शब्दों की ऐतिहासिक परम्परा को जानने के लिए लोक साहित्य का अध्ययन उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उदाहरण हेतु 'जुगवत' शब्द जिसका प्रयोग लोक गीतों में सावधानी के साथ किसी वस्तु की रक्षा करने के अर्थ में हुआ है। इस प्रकार इस शब्द का प्रयोग गोस्वामी तुलसीदास ने भी चौपाई में इसी अर्थ में किया है -

"अमिय मूरि जिमि जुगवत रहऊँ।
दीप-बाति ना टारन कहऊँ।।"

डॉ. गियर्सन ने भी भोजपुरी लोक गीतों की महत्ता को बताते हुए कहा है कि ये लोक गीत उस खान के समान है जिनके खोदने का कार्य अभी प्रारंभ हुआ है तथा इनकी पंक्तियों में ऐसी विशेषता है जिससे भाषा शास्त्र सम्बन्धी अनेक समस्या हल की जा सकती है।

इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट है कि लोक साहित्य के प्रत्येक पहलू का संबंध लोकजीवन के सीधे जुड़ा हुआ है।

संदर्भग्रन्थ - सूची

1. लोक साहित्य की भूमिका - डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय
2. भोजपुरी लोक गीत भाग - 1, डॉ. कृष्ण देव उपाध्याय

लोक और फोक

प्रतिभा सिंह

वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, का. हि. वि. वि.

विश्व के विभिन्न देशों की अपनी-अपनी सांस्कृतिक परम्परायें हैं। किसी भी देश की संस्कृति को समझने के लिए वहीं की भाषा, साहित्य, कला, विशेषकर लोकसाहित्य व लोक कलाओं का अध्ययन करना अति आवश्यक होता है क्योंकि उस देश की सांस्कृतिक आत्मा उस देश के लोकसाहित्य व लोक कलाओं में ही बसती है।

पश्चिम में लोक शब्द को फोक की संज्ञा दी जाती है। वहाँ "फोक लोर" का अध्ययन 18वीं-19वीं शताब्दी में कई उद्देश्यों से शुरू हुए और धीरे-धीरे एक स्वाय ा लोक-वार्ता-शास्त्र स्थापित हो गया। जो लोग सभ्यता के स्वीकृत मानदण्डों को पूरा नहीं करते थे और जो यूरोप के पुर्नजागरण की बौद्धिकता के पैमाने में खरे नहीं उतरते थे, उनके तौर तरीकों और उनके बीच वाचिक रूप से प्रचलित गीतों, गाथाओं और कहानियों का संकलन करना और उनमें निहित जीवन व्यवहार-वर्णनों के आधार पर उन जातियों की मानसिकता का विश्लेषण करना एक प्रमुख उद्देश्य था इसी का गौड़ उद्देश्य ये भी था कि लोगों का समय सुसंस्कृत लोगों में भी पुरा व शेष के रूप में ऐसे विश्वासों व अनुष्ठानों का अध्ययन करना जो न तर्क से प्रमाणित किये जा सकते हैं, न किसी धर्म ग्रन्थ या उसकी व्याख्या से प्रमाणित हो सकते हैं। पश्चिम की इसी दृष्टि ने जिन जातियों के पास लिखित परम्परा नहीं थी, उनकी वाचिक परम्परा की "फोक" के अन्तर्गत मान लिया और उनको इसलिए प्रबुद्ध संस्कृति के दायरे से अलग कर दिया। अलग करके उन्हें सुशिक्षित बनाने की चिन्ता मानव कल्याण के न्यासधारियों को सताने लगी। परन्तु जब लिखित साक्ष्यों के आधार पर मनुष्य की सबसे बड़ी विरासत भाषा के इतिहास की पुरी समझ में नहीं हो सकती तो मौखिक परम्परा के साक्ष्य के अवलम्बन की आवश्यकता 19वीं सदी के अन्त व 20वीं सदी के प्रारम्भ में की जाने लगी।

अमेरिका में 'सपीर, 'क्रोलर और मालीनोवस्की ने इस दिशा में पहल की। उसके बाद वाचिक परम्परा कुछ अधिक महत्वपूर्ण लगने लगी और मानवीय संवदेना के प्रति सर्जनात्मक झुकाव होने लगा। यह सुझाव कला व साहित्य में दृष्टिगोचर हुआ और एक आन्दोलन सा चला कि हम निरक्षर लागों के पास सहज रूप में जो जीवन के प्रत्यग्र अभिव्यक्ति है, उससे कुछ प्राप्त करें। फलतः एक अलग कोटि में डाले गये सामान्य जीवन व्यवहार के प्रति उत्सुकता बढ़ी और आदर भाव भी बढ़ा। लोक कथाओं के पुनरावर्त्यमान अभिप्रायों (मोटिफ) का संकलन और कोटियों में विश्लेषण होने लगे। साथ ही लोकवार्ता में निहित पुराण तत्व (मिथ) को सर्वाभौम स्तर पर पाने की कोशिश की जाने लगी। इस प्रवृ ा के सामानान्तर ही एक दूसरी प्रवृ ा विकसित हुई जिससे वाचित परम्परा के संकलन से प्राप्त साहित्य के प्रति एक रूमानी भावना पनपने लगी और एक चमत्कार की दृष्टि से उसे देखा जाने लगा। भारत वर्ष में 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस दृष्टि का प्राधान्य था और समाज में गांवों में रहनें वाले सामान्य, जनों के प्रति एक रूमानी लगाव पनपा। इस कारण लोक साहित्य

के प्रति एक अतिरिक्त आकर्शण बढ़ा। इसी समय एक गांव की ओर चलो मनोभाव का भी जागरण हुआ गांव की कला, गांव के गीत ओर गांव के मुहावरों में रूचि बढ़ी। इसके समानान्तर एक ओर प्रवृ ा भी विकसित हुई जिससे आदिवासी संस्कृतियों के मूल रूप से सुरक्षा के लिए आग्रह किया जाने लगा। इसमें नेतृत्व वे ा "वेरियस एल्विन" का बहुत बड़ा हाथ था।

लोक गीतों के अध्ययन से यह स्पष्ट पहचानी जा सकती है कि कौन से अभिप्राय, सादृश्य घटनाएं किस-किस युग की आयी है। वहां उनका अध्ययन एक जीवन्त प्रक्रिया के रूप में ही हो सकता है। इनके द्वारा पुनरावलोकन में भी सहायता मिल सकती क्योंकि बहुत सी बातें लिखित साहित्य में छूट गयी है या उस सम्बन्ध में लिखित साहित्य ही लुप्त हो गया है, वह वाचिक परम्परा में मिल जाते हैं। एक प्रकार से साहित्य और संस्कृति की सभ्यता का आकलन बिना वाचिक परम्परा की सभ्यता असम्भव है। भारत में लोक व शास्त्र के बीच अन्तरवलम्बन का इतिहास बहुत पुराना है। कालिदास ने शिव व पार्वती के परिणय प्रसंग के अवसर पर संकेत दिया है कि सरस्वती ने दो प्रकार की वाङ्मय का प्रयोग किया, वर की स्तुति के लिए संस्कार पूत वाणी का ओर वधू की स्तुति के लिए सुख-ग्राहध वाणी था।दूसरे शब्दों में लोकगीत का जुड़ाव जगत जननी से है यह संकेत उन्होंने दिया। वैदिक वाङ्मय में भी लोक का महत्व स्थान-स्थान पर दिग्दर्शित हैं। लोक संग्रह की चिन्ता गीता में अभिव्याप्त है। यज्ञ के अनुष्ठान में "लोकपृणा" नाम ईटों का उल्लेख मिलता है। धर्मशास्त्रों में शास्त्राचार और लोकाचार में विवाद हो तो कई स्थानों पर लोकाचार को ही प्रमाण माना गया है क्योंकि भारतीय चिन्तन ऐसे व्यवहार को जो अनविच्छन्न रूप से चला आ रहा है और व्यवस्था के रूप में स्वीकृत हो और उसका विरोध मूल्य-गरिमा से न हो वह जीवन का अंग है क्योंकि जीवन का उपादान जितना पंचभूत संभार है उतना ही उसके मनोजगत और उसकी चि ाकाश में पड़े हुए संस्कार और स्मृति-मन्दाकिनियों में भी है। मनुष्य का व्यक्तित्व बिना स्मृति के पूर्ण नहीं होता और स्मृति जातीय स्मृति के बिना, लोकाचार के अभिज्ञान के बिना पूर्ण नहीं होती। इसलिए भारतीय समाज में वृद्ध जन आर्य कहे जाते हैं क्योंकि वे सम्पूर्ण जीवन दर्शन से युक्त होते हैं एवं उनका दर्शन पुण्य माना जाता है। जहाँ कहीं देश, गांव, कुल की परम्परा की बात उठती है वहां सही मार्ग निर्देश देते हैं और धर्म शास्त्र बराबर इस पर बल देते हैं कि जहाँ कहीं क व्य-अकर्तव्य में कोई संदेह हो वहाँ ऐसे स्मृति सम्पन्न जनों से निर्णय प्राप्त करना चाहिए। हमारे शास्त्रों में चाहे वे दर्शन हो, चाहे किसी भी ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हो लोक जीवन से ही उदाहरण लिये जाते हैं। कुम्हारे की चाक और जुलाहों का करघा के बिना तर्क शास्त्र चलता ही नहीं क्योकि यही तो बनावट व बुनावट की मूर्त पहचान करने वाले हमारे सबसे अधिक परिचित साधन हैं।

यहाँ "फोक' और लोक वार्ता शब्दों की अवधारणा पहले समझ ले। 'फोक लोर' का अर्थ विस्तृत संदर्भ में एक पुराने समाज की वाचिक परम्पराओं, कलाओं व प्रचलित विश्वासों का निकाय है। इसके अतिरिक्त नृत्य, गीत, जादू टोना कथा पहेली लोकोक्तियां सभी आते हैं। इसके अन्तर्गत अर्द्धऐतिहासिक और काल्पनिक वीरों की गाथाएँ भी आती है। मैक्समूलर ने ऐसी गाथाओं को भाषागत अपभ्रंश के रूप में लिया, ग्रिम ने उन्हें सृष्टि के अपभ्रंश अन्योक्ति के विधान के रूप में लिया। आज के नेतृत्व शास्त्री उन्हें किसी समुदाय के आकांक्षाओं मनोवृ ायों और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों की अलंकारिक अभिव्यक्ति मानने लगे हैं। जहाँ तक लोकगीतों की रचना का प्रश्न है, पहले यह माना जाता था कि इसकी रचना समूह द्वारा होती थी पर अब लोग यह मानने लगे हैं कि रचना तो व्यक्ति के द्वारा हुई होगी पर इनमें

निरन्तर परिष्कार समुदाय द्वारा हुआ। क्योंकि यह समुदाय की पहचान कराने वाला बनता रहा है। इनमें जातीय व विजातीय प्रभावों का घुलन होता रहा। प्रत्येक दशा में उपर्युक्त सभी पाश्चात्य विचारों से यही निष्कर्ष निकलता है कि फोक अभिधान में व्यापक सामुदायिक स्वीकृति निहित नहीं है न उनकी वर्तमानता ही परिलक्षित है। वह एक तरह से पुराने पन पिछड़े पनका बोधक है अथवा संस्कार का बोधक है।इसके विपरीत लोक शब्द के अर्थ जगत पर जब विचार करते है तो यह मिलता है कि यह शब्द ''लोक'' धातु अर्थात् देखने के अर्थ में प्रयुक्त धातु निष्पन्न है। लोक का वैदिक अर्थ, प्रकाश, खुली जगह, दृश्य जगत है। इसका अर्थ उक्त विचरण भी है। उ ार वैदिक काल व महाभारत काल में लोक का अर्थ हुआ पृथ्वी लाक व उसके निवासी, या फिर इसका अर्थ सामान्य जीवन, सामान्य भाषा हुआ। लोक के योग से अर्थ निश्पन्न हुए जिनमें लोकगीत, लोक गाथा, लोक चरित्र, लोकाचार, लोकतंत्र, लोकधर्म, लोकप्रसिद्धि, लोकमात्रिका, लोक मार्ग, लोकयात्रा, लोकरंजन, लोकवृ ा, लोक संग्रह लोकहित जैसे शब्द आये। सभी शब्दों में लोक का अर्थ व्यापक मानव व्यवहार है अथवा मूल बोध से प्रेरित स्वीकृत व्यवहार है या चेतनार है। ताण्ड्य ब्राह्मण में लोक-बिन्दु शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए किया गया है। जो लोगों को स्वतन्त्रता दे, खुलापन दें, खुली जगह और खुलेपन के लिए आमन्त्रण है।

''लोक'' के उपरिलिखित विवरण से स्पष्ट होता है कि लोक न प्राचीनता का बोधक है,न पिछड़ेपन का न सिकी सीमित अलग-अलग समुदाय का लोक शास्त्र विरूद्ध नहीं है यह शास्त्रपरक है। क्योंकि शास्त्र को शास्त्र का भी लोक विरूद्ध होना अभिष्ट नहीं है। एक तरह से लोक शास्त्र का ही प्रसृत रूप है और शास्त्र की लोक स्वीकृतियों का घनीकृत रूप है।हमारे समाज में ज्ञात ऐतिहासिक काल में कम से कम सात-आठ जहार वर्षों से ऐसा ही रहा है। शिष्ट से शिष्ट, प्रबुद्ध से प्रबुद्ध समुदाय में ऊँची से ऊँची जाति में अनेक ऐसे अनुष्ठान है तो ठेठ वन्य या ग्राम्य जीवन से लगाव का संकेत देते हैं। जैसे उ ार भारत के पूर्वी भाग में कुछ ब्राह्मणों में सबसे कुलीन माने जाने वाले वर्ग में वर्षा के अन्त में व शरद के प्रारम्भ में कुछ व्रत होते हैं जिनमें कुछ गाथाएँ भी मंत्र की भाँति उच्चरित होती है।। उनमें ''धरमा-करमा'' का उल्लेख आता है। ''करमा'' वस्तुतः कोल जातियों के एक पर्व का सूचक है। विभिन्न प्रकार के लोगों के विचार विश्व दृष्टियों सामन्जस्य स्थापित करने का निरन्तर प्रयत्न रहा और एक समग्र दृष्टि निरन्तर विकसित होती रही। इसके कारण जब कभी शास्त्र में रूढ़ि आती थी तो उसे लोक से पुर्नजीवन मिलता था और जब कभी लोक में मर्यादायें टूटने लगती थी तब शास्त्र उसे मर्यादित करता था। यह प्रक्रिया निरंतर चलती रही। इसलिए हमारा गतिशील समाज है।

लोकवार्ता के अन्तर्गत लोक प्रसश्त सभी व्यवहार आते हैं। इनमें अनुष्ठान, अनष्ठान के अंगभूत चित्रांकन या शिल्प, अनुष्ठान में गेय गीत या पाठ्यकथा, ऋतुमंगल और पर्व के आयोजनों के लिए गीत, निरर्थक ध्वनि गीत, विभिन्न अवसरों या अवस्थाओं के अनुरूप वेशभूषा और अलंकरण, सामुदायिक अस्मिता के स्थापक वीर-गाथा, गान, अनुभव सिद्ध, निति वचन, मुहावरे, प्रचलित लोक विश्वास मान्यताएँ ये सविष्ट है। इन सब में परस्पर संगीत भी है, वह संगीत विशेष प्रकार की समग्र विश्व दृष्टि के कारण है। जिनमें मनुष्य व प्रकृति एक-दूसरे में ओत-प्रोत है। एक दूसरे के बहिरंग व अन्तरंग दोनों प्राकर के सहचर है। इसलिए लोक मे केवल मनुष्य ही नहीं, मनुष्य का समस्त आत्मीय परिवेश सम्मिलित हैं। कोई भी लोक व्यवहार प्रकृति के उपादानों के बिना या केवल प्रकृति के उपादानों में सम्भव नहीं है। प्रकृति के साथ सहज सम्बन्ध ही मनुष्य को प्रणतर बनाता है। यही हमारी विश्व दृष्टि का मुख्य लक्ष है।

ऋतुओं का मनोहारी चित्रण : ऋतुगीत

अमृता मिश्रा

संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, वि. वि., इलाहाबाद

संगीत आत्मा की संवेदनशील भावुकता भरी लयात्मक वाणी है, जो चेतना के एक विशिष्ट आयाम को अभिव्यक्त कर, युग-विशेष, समाज-विशेष या व्यक्ति विशेष की भावनाओं को अभिव्यक्त करती है। प्रारम्भ से ही संगीत की दो शाखाएँ बनीं, प्रथम शाखा वह जिसे विद्वजनों ने अपने बौद्धिक प्रयास तथा समस्त ज्ञान के द्वारा विशिष्ट बनाकर उससे अपने मन का रंजन किया तथा ईश्वर उपासना हेतु भी उसका विशिष्ट रीति से उपयोग किया। दूसरे प्रकार का संगीत वह है जिसकी धारा मानव के हृदय पटल पर स्वतः ही बहने लगी। जनमानस की समस्त भावनाएँ, दिनचर्या तथा उसके समस्त क्रिया-कलाप इसी संगीत द्वारा मुखरित होते हैं, इसी संगीत धारा को आज लोक संगीत की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। मध्यकाल में इसे देशी संगीत कहा गया और आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इसे लोक संगीत कहा गया है।[1]

लोक संगीत उस सुरसरि के समान है, जिसका लक्ष्य लोक-कल्याण है, त्रिताप-संतप्त मानस- भूमि को आप्लावित कर उसे सरस एवं उर्वर बनाना है।[2] लोक की प्रमाणिकता का चिन्ह विशेष मौखिकता ही है। जगत में नाम एवं रुपमय जो कुछ दिखाई देता है, 'लोक' है। 'लोक' शब्द लोक' धातु में 'धं' प्रत्यय जोड़कर बना है। 'लोक' शब्द अंग्रेजी के 'फ़ोक (थ्वसा) शब्द का पर्याय है। (थ्वसा) शब्द की उत्पति (थ्वसब) से हुई है। अंग्रेजी के (थ्वसा) का अर्थ अशिक्षित असंस्कृत है परन्तु आधुनिक दृष्टिकोण से इसका प्रयोग जनसाधारण या ग्राम के लिए किया जाता है।[3]

लोक गीत किसी भी संस्कृति के मुँह बोलते चित्र हैं, लोक गीतों में मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न चित्र अवश्यभावी चित्रि होते हैं। लोकगीत मुख्य रूप से किसी भी अंचल, समुदाय या संस्कृति के स्वरूप को सजीव रूप से चित्रि करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारत विभिन्न धर्म जाति एवं सम्प्रदायों के समूह-रूप में ऐसा अद्‌भूत राष्ट्र है जिसमें मानवीय जीवन के समस्त क्रिया- कलाप लोक गीतों में परिलक्षित होते हैं। देश के हर प्राप्त में रीति-रिवाजों, धार्मिक अवसरों एवं परम्पराओं का निर्वहन लोक-गीतों की प्रतिच्छाया में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।[4]

हमारे यहाँ लोक गीतों के अनेक प्रकार देखने को मिलते हैं। लोक गीतों का सामान्य वर्गीकरण इस प्रकार है-

1. संस्कार गीत - बच्चे का जन्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह, गौना, मृत्यु सम्बन्धी गीत आदि।

2. ऋतु या माह गीत- चैती, कजली, बारह मासा, होली आदि।

3. धार्मिक गीत - तीज, व्रत के गीत, गोधन, भक्ति परक आदि।

4. क्रिया गीत - रोपनी, सोहनी, जंतसार के गीत आदि।

5. सामयिक गीत - युग की घटनाओं से प्रभावित, मुगलों के अत्याचार, स्वतंत्रता संग्राम के गीत, देश प्रेम के गीत आदि।

6. अन्य गीत- बच्चों या बड़ों के खेल से सम्बन्धित गीत।[5]

जन जीवन का तो जन्म से लेकर मरण तक कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं, जो गीतों से दूर हो। धरती पर निरन्तर लोकगीत झूमते रहते हैं। कुछ ऋतुएं तो ऐसी हैं, जिनमें रात दिन गीतों की बहार रहती है, जैसे सावन भर कजलियाँ गाई जाती है।[6] पूरे भारतवर्ष में मुख्यतः 6 ऋतुओं का आगमन होता है-1. ग्रीष्म 2. वर्षा 3. शरद 4. हेमन्त 5. शिशिर तथा 6. बसन्त ऋतु। ऋतु गीतों का मुख्य उद्देश्य ऋतुओं के साथ मानव-जीवन में स्वर मिलाना है। यह गीत विभिन्न ऋतुओं में गाए जाते हैं।

ऋतु गीतों में विभिन्न ऋतुओं का वर्णन होता है। इन ऋतुओं में गीतों के बहुत से प्रकार प्रचलित है। जिनमें मुख्य रूप से जो प्रकार प्रचलित है वह इस प्रकार है:- **1. कजरी, 2. चैती 3. बारहमासा 4. होली 5. चैता**[7]

कजरी - सावन भादों के मास में और मुख्य रूप से वर्षा ऋतु में गाए जाने वाले गीतों में कजरी एक प्रसिद्ध लोक गीत है। इसका शुद्ध रूप ''कज्जली' अर्थात् मेघ है।[8]

सावन मास में इन गीतों को गाए जाने का प्रचलन है। जिसमें नवविवाहित कन्याओं को मायके बुला लिया जाता है। जिसमें वह अपने प्रिय को याद करके यह गीत गाती है-

हरे रामा बने कन्हैया बैद नंद के लाला रे हरि।
दवा बटोरी भरि कै झोरी, घूमैं बिरिज की खोरी रामा,
हरे रामा कोई सखी बीमार, बिरिज की बाला रे हरी।
सुनी गुहारी बिरिज की नारी, वैद कोलीन पुकारी रामा,
हरे रामा परी सखी बीमार, हाल बेहाला रे हरी।
पकरि कलाई कुंवर कन्हाई, जतन से दियो दबाई रामा
हरे रामा चौंकि कन्हाई, परी राधा प्यारी,
हसैं ब्रिज बाला रे हरि।[9]

2 चैती- 'चैत्र' वास्तव में भारतीय परम्परानुसार वर्ष का प्रथम मास है, जो ग्रिगेरियन कैलेण्डर के मार्च-अप्रैल माह में पड़ता है, जिसका अर्थ होता है- चन्द्रमास। सम्भवतः चैती इसी के अपभ्रंश रूप से बना शब्द है। गीत का यह प्रकार चैत्र (चैत) मास में गाए जाने के कारण 'चैती' कहलाया। पूरे महीने चैती के स्वर गाँव-गाँव में गूँजते हैं। इन गीतों में बसन्त की मस्ती और भावनाओं का अनोखा सौन्दर्य है, जो लोगों को मन्त्र-मुग्ध कर देता है। चैती मुख्यतः दक्षिण बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में प्रचलित है। इसे विभिन्न क्षेत्रें में अलग-अलग नाम से जाना जाता है, जैसे भोजपुरी में 'धाटों,' मैथिली में 'चैतावर' और मगही में इसे 'चैतार' कहते हैं''[10]

इन गीतों में करुण रस का बड़ा हृदयस्पर्शी संचार होता है। चैती को गाने का एक विशेष ढंग है जिसमें 'रामा' हो 'रामा' का प्रयोग किया जाता है।

माझ खमाज पर आधारित चैती

नइहरे से केहु नाहीं अइलें हो रामा बितले फगुनवा
बाबा मोरा रहितें त नउवा के पढ़वतें
भउजी के कठिन करेजवा हो रामा। बितले फगुनवॉ।
माई मोरा रहितीं त भइया के पठौतीं।
भउजी के कठिन करेजवा हो रामा। बितले फगुनवॉ।[11]

3. बारहमासा- मानव द्वारा संयोग एवं वियोग के क्षणों में विभिन्न ऋतुओं में अनुभूत भावों, भावनाओं, कामनाओं का प्रतिबिम्ब हम बारहमासा के गीतों में देख सकते हैं। ''सभी मासों की प्रकृति

का वर्णन होने के कारण इसका नाम बारहमासा पड़ा। अतः यह सभी ऋतुओं में गाया जा सकता है। यह गीत वर्षा ऋतु प्रधान होता है। बारहों मास में ऋतु प्रभाव से जैसी मनोभावों की अनुभूति होती है उसी की अभिव्यक्ति विरहणी इन गीतों में करती है। इनमें शृंगार रस प्रधान होता है। इसका प्रयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। जायसी ने नागमती के विरह वर्णन में बारहमासा का प्रयोग किया है।"[12]

संयोग तथा वियोग जीवन का आवश्यक तथा अवश्यंभावी अंग है। संयोग का सुख तभी प्राप्त होता है जब वियोग का ज्ञान हो तथा वियोग का दुख तभी पता चलता है जब संयोग हुआ हो। फाल्गुन मास में नायिका का विरह दर्शनीय है। जब नायिका की विरह तप्त देह होलिका की अग्नि के समान होती है। बारहमासा की एक बानगी प्रस्तुत है-

बरसन लागी सावन बुँदिया, प्यारे बिनु लागे ना मोरी अखियाँ
चार महीना जाड़ा के बीते, हो तड़पत बीते सगरी रतियाँ
प्यारे बिनु लागे न मोरा जिया।
चार महीना गर्मी के लागे,
हो अजहुँ न आए हमारे सइयाँप्यारे बिनु लागे न मोरा जिया।

एक अन्य बानगी-

लेई ना गए बेईमनऊ रे हमका लेई न गए रे
चार महीना बरखा के लागे
रिमझिम बरसे बदरवा
हमका लेई न गए रे, बरत रही निगोरी गंगा नहई के
भावे न कातिक महिनवा, हमका लेई न गए रे।[13]

4- होली या फाग- बसन्त ऋतु के आगमन पर बसन्तोत्सव मनाने का प्रचलन है। इसी अवसर पर 'होली' का गाना प्रारम्भ हो जाता है। इसे 'फगुआ' अथवा 'फाग' भी कहा जाता है। फागुन मास में इसको गाते हैं। यह गीत शृंगार रस प्रधान होते हैं। हर्षोल्लास के साथ सामूहिक रूप से इन गीतों को गाया जाता है। होली त्यौहार पर अनेक कथाएँ प्रचलित हैं; जिनका वर्णन भी गीतों में मिलता है। यह परम आनंद व मंगलमय अवसर होता है। इन गीतों में झाँझ, ढोलक, मंजीरा, आदि वाद्यों का प्रयोग होता है।[14] राम और जानकी के होली खेलने का एक वर्णन इस प्रकार है-

'खेलई अवधपुर होरी हो,
हाँ खेलई अवधपुर होरी।
दशरथ के सुत, जनक नन्दिनी,
रंग ते खेलई जनक नन्दिनी
रंग से हां, हां रंग से खेलई रघुबीरा।
भाजत आमई जनक नान्दिनी,
भाजत हां, दो भाजत जामई रघुबीरा।[15]

5. चैता चैत्र का महीना हमारे वर्ष के आरम्भ का मास है। इन दिनों बसन्त अपने पूरे साज-समाज के साथ विराजमान रहता है। प्रकृति की मनोरमता से मुग्ध होकर कोयल की मधुर काकली के साथ गायक भी उन्मुक्त कण्ठ से गा उठता है। इन गीतों को चैता कहा जाता है। जैसे-

उछहरि बहति बयरिया, हो रामा चइत की रतियां
महुआ चूवै रस गगरिया, हो रामा चइत की रतियां
गम गम गमकै निबिया कै फुलवा
अमवा की डारी लागे टिकोरवा, हो रामा चइत की रतियां
झर-झर बोलै निबिया कै पतिया,
लचकि-लचकि डोलै डरिया हो, रामा चइत की रतियां।[16]

लोक गीतों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इनमें से अधिकांश गीत किसी न किसी ऋतु से सम्बन्ध रखते हैं। वर्षा, बसन्त आदि ऋतुओं के आने पर व्यक्तियों के मन में जो उल्लास एवं उमंग का संचार होता है, उसकी अभिव्यक्ति

लोक-गीतों में सम्यक् रूप से उपलब्ध होती है। ऋतु गीतों के अन्तर्गत आने वाले फाग या होली, चैता, सावन, कजली या मल्हार, बारहमासा चैता आदि वास्तव में ऋतु के सौन्दर्य का रसास्वादन कराते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

[1] शर्मा प्रो. स्वतन्त्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत पृष्ठ-266 प्रतिभा प्रकशान, दिल्ली

[2] शर्मा प्रो. स्वतन्त्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत पृष्ठ-266 प्रतिभा प्रकशान, दिल्ली

[3] श्रीमाल प्यारेलाल, निबन्ध संगीत, लेख-शास्त्रीय एवं लोक संगीत पर एक तुलनात्मक दृष्टि, पृष्ठ-86 संगीत कार्यालय, हाथरस

[4] कुमार डॉ. मिथलेश, संगीत, अक्टूबर 2011, लेख-राग और राजस्थानी लोक-गीत, संगीत कार्यालय, हाथरस।

[5] शर्मा प्रो स्वतन्त्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत पृष्ठ-269 प्रतिभा प्रकशान दिल्ली।

[6] मिश्र चन्द्रशेखर, निबन्ध संगीत, लेख - फागुन के लोक छंद पृष्ठ-81, संगीत कार्यालय हाथरस

[7] सिंह डॉ संजय कुमार, भोजपुरी लोक संस्कृति एवं हिन्दुस्तानी संगीत, पृष्ठ 132-133 कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

[8] सिंह डॉ. संजय कुमार, भोजपुरी लोक संस्कृति एवं हिन्दुस्तानी संगीत, पृष्ठ -133 कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

[9] मिश्र विद्यानिवास - चन्दन चौक, पृष्ठ-4

[10] पंडित एकता संगीत पत्रिका, लेख-चैती, सितम्बर 2010 पृष्ठ- 20 संगीत कार्यालय, हाथरस।

[11] सिंह डॉ. संजय कुमार, भोजपुरी लोक संस्कृति एवं हिन्दुस्तानी संगीत, पृष्ठ -144 कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

[12] सिंह डॉ. संजय कुमार, भोजपुरी लोक संस्कृति एवं हिन्दुस्तानी संगीत, पृष्ठ-139 कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

[13] साकलकर डॉ. रेवती, उत्तर प्रदेश की लोक संस्कृतिः परम्परा एवं प्रतिबिम्ब, लेख-बारहमासाः उत्तर प्रदेश की लोक संस्कृति, परम्परा का प्रतिबिंब पृष्ठ-74

[14] सिंह डॉ. संजय कुमार भोजपुरी लोक संस्कृति एवं हिन्दुस्तानी संगीत, पृष्ठ-140 कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली।

[15] उपाध्याय डॉ. कृष्णदेव - हिन्दी प्रदेश के लोकगीत, पृष्ठ 223

[16] मिश्र विद्यनिवास - चन्दन चौक, पृष्ठ-61

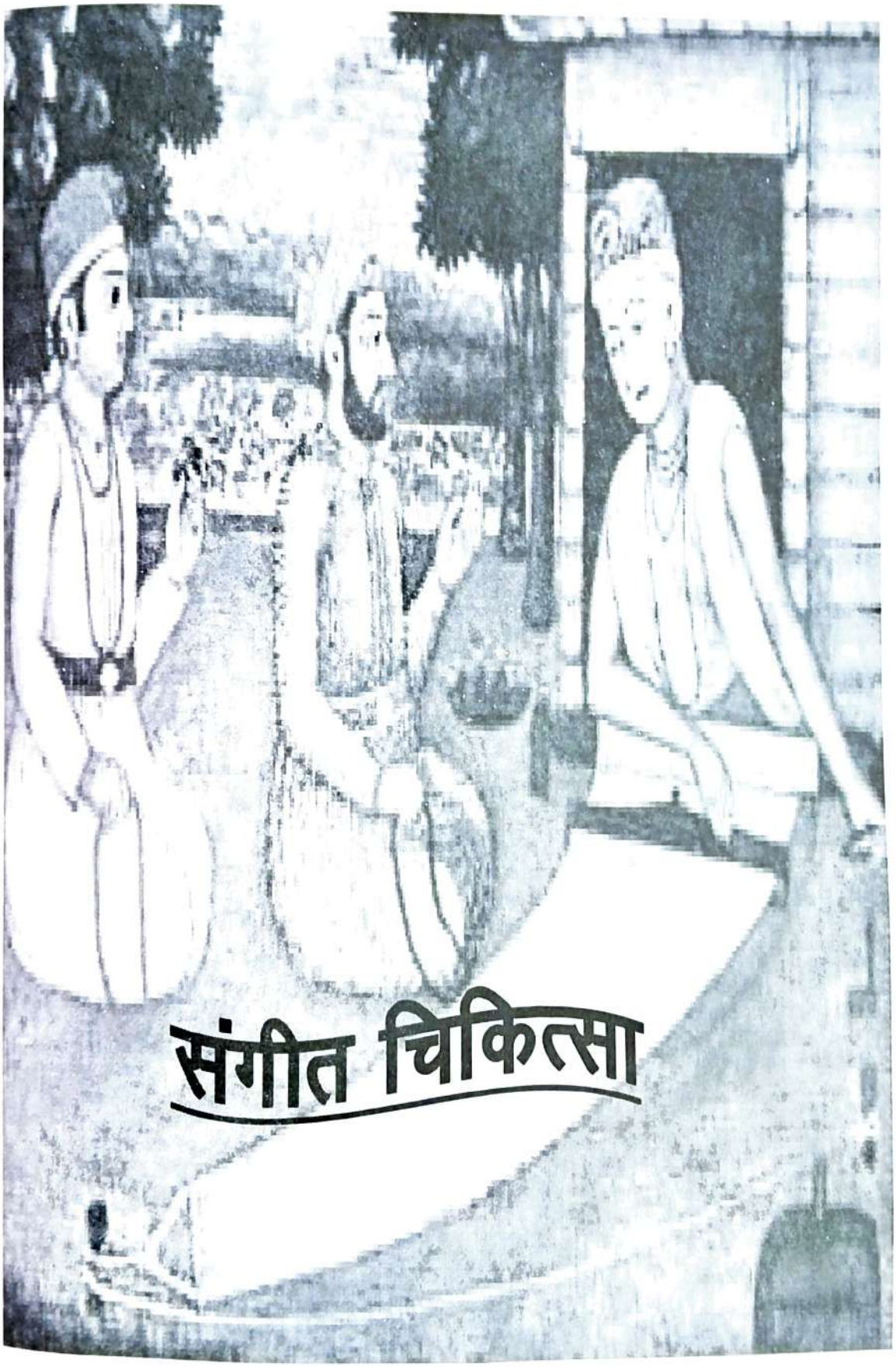
संगीत चिकित्सा

संगीत एक चिकित्सा पद्धति

डॉ. अन्जू कुमारी

एसोसिएट प्रोफेसर, नौगछिआ

संगीत चिकित्सा में हमारे देश में सदैव से आस्था रही है। 'संगीत चिकित्सा' चिकित्सा विज्ञान का ही एक विभाग है, जो मनुष्य की शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आवश्यक्ताओं की आपूर्ति करता है। आधी शताब्दी खोज कार्य के उपरान्त अब यह सिद्ध हो चुका है कि संगीत चिकित्सा द्वारा रोगियों के पुनर्वास, उपचार के लिए उत्प्रेरणा, भावनात्मक सहयोग एवं भावाभिव्यक्ति में कापफी सहायता मिलती है।

वर्त्तमान में मनुष्य ''सामगान'' युग के मंत्रों को प्रतीक रूप में आज भी पढ़ता है। जिस ''संगीत'' को कला के रूप में हम देख रहे हैं वह वाक्शक्ति का ही पर्याय एवं परिणाम है इन पाठों का सस्वर पाठ होता है तथा श्वांस के आरोह-अवरोह पर ही एक साँस में इनकों पढ़ा जाता है। ये यंत्रा न सिपर्फ परमेश्वर में आस्था जगाते हैं वरन् इन शरीर रूपी तंत्रा को पूरी तरह से स्वस्थ रखने में भी अपनी भूमिका निभाते हैं।

संगीत में जो आनंद प्रदान करने की चमत्कारिक शक्ति है वह श्रोता को सांसारिक बंध्नों से मुक्त करके आत्मिक सुख प्रदान करती है। संगीत द्वारा चिकित्सा पर बहुतकार्य हो रहा है तथा हो चुका है, जैसे- रागों का मानसिक रोगियों पर प्रभाव, पक्षाघात ग्रस्त, चेतनाहीन रोगियों को लाभ, पेड़ों की वृद्धि में अन्तर, गायों की दुग्ध उत्पादन क्षमता पर प्रभाव, गर्भवती महिलाओं के स्वास्थ में सुधर इत्यादि अनेक बिमारियों को शास्त्रीय संगीत के द्वारा भी ठीक किया जा सकता है।

जैसे - 'राग भैरवी' से अस्थमा, ठंड और अनिंभा के इलाज में मदद मिलती है। 'राग मल्हार', 'राग सोरठ', 'राग जैजैवन्ती' का मानसिक तनाव से छुटकारा दिलाने में उपयोग किया जाता है। इसके अलावा 'राग सारंग' से सिर दर्द, 'राग दरबारी' से दिल की हालत में सुधर, 'राग पंचम' से पेट विकार एवं 'राग शिवरंजनी' कम स्मृति को बढ़ाने में कापफी उपयोगी सिद्ध हुआ है। शरीर को उत्साहित करने, मन को ताजा रखने, माइग्रेन कम करने यहाँ तक की अनिंभा जैसे मानसिक रोगों के उपचार में संगीत थेरेपी प्रभावी है। संगीत चिकित्सा से यह मानकर चला जाता है कि स्नायु संस्थान में विद्युत प्रवाह की न्युनता एवं शिथिलता उत्पन्न होने से शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। अस्तु नाड़ी संस्थान को तरंगित और उत्तेजित करना संभव हो तो शिथिलता तथा अन्य विकृतियों सेछुटकारा पाया जा सकता है। मनुष्य का शरीर एक तंत्रा है। इस तंत्रा को मंत्रों से रोग मुक्त भी किया जा सकता है। भेषज-तंत्रा ;रोगों को दूर करने के उपायद्ध में चार प्रकार के भेषज बताए गए हैं-

पव नौकष, जलोकष, बनौकष, तथा शाब्दिक। शाब्दिक का आशय मंत्रों तथा संगीत से है। कश्यप तंत्रा में कहा गया है कि ''भोजन पश्चात यदि रूचि के अनुसार मधुर संगीत सुना जाए तो

वह पाचन शक्ति को बढ़ाता है।'' डॉ. रविन्भ कु. तुल्य के अनुसार-

'संगीत चयापचय क्रिया को बढ़ावा देता है।''

संपूर्ण मानव शरीर ही संगीत है। हृदय की ध्ड़कन, नाड़ी का पफड़कना, मष्तिष्क की तरंगें, हारमोन्स का प्रवाह और सांस की लय सभी कुछ तो एक वृहद संगीत है। अन्वेषकों ने यह ज्ञात किया है कि एलजाइमर के रोगियों को संगीत सुनकर पूर्व बातें स्मृत हो जाती हैं और पारकिंसन के रोगियों का मोटर कोऑर्डीनेशन सुधर जाता है।

मष्तिष्क की चोट खाये व्यक्तियों के पुर्नवास में भी संगीत चिकित्सा केसुखद परिणाप्रयोग से पेशेन्ट को हेल्थ से रिलेटेड प्रॉब्लम्स को दूर करने का प्रयास किया जाता है।

मेडिकल साईंस में म्युजिक थैरेपी के प्रयेग से अपेक्षित परिणाम प्राप्त हुए हैं। कुछ अन्य लाभ जो डॉक्टरों ने संगीत थेरेपी के गिनाए हैं, इस प्रकार हैं -

1. तनाव में कमी
2. एकाग्रता में बढ़ोत्तरी
3. यादाश्त का वढ़ना
4. ब्लड प्रेशर में कमी
5. उतावलेपन में कमी
6. चिड़चिड़ेपन में कमी

संगीत में रोगी की संवेदनात्मक व बौद्धिक पहलुओं को उत्तेजित करने की शक्ति होती है। इसे सुनते ही रोगी की मनःस्थिति मूलतः परिवर्तित हो जाती है। संगीत सुनने मात्रा से रोगी में रक्तचाप प्रक्रिया आदि कई प्रकार के शारीरिक परिवर्तन होने के साथ ही उसके ध्यानाभाव में वृद्धि होती है।

अतः रोगी एक समय में कई आवश्यक काम में ध्यान दे सकता है। अमेरिका में लगभग आठ सौ रोगियों की चिकित्सा संगीत द्वारा की गई है। उन्हें सपफलता भी मिली है। उन्होंने यह पता लगाया है कि 'श्वांस तरंग की ध्वनि, लय तथा वाद्य' रोग निवारण में सहायक होते हैं। प्रयोग करने से यह सिद्ध हुआ कि वायलिन की मधुर ध्वनि, अति तीव्र सिर दर्द को पन्भह मिनट में दूर कर सकती है। मानसिक रोगियों के अस्पताल में भी संगीत चिकित्सा प(ति काम में लाते हैं।

रूचि के अनुसार 'ध्रुपद' या 'ख्याल' सुनाया जाए तो वह ख्याल से अधिक प्रभावित होगा। ख्याल में तराना, वाद्य में झाला, नृत्य में पदविन्यास रोगी को अधिक प्रभावित करते हैं। जबलपुर विश्वविद्यालय के डॉ. मोरे ने वनस्पति पर संगीत का प्रयोग करके बताया है कि उससे पौधे जल्दी विकसित हुए हैं। अमेरिका में तो संगीत को नींद की गोली माना गया है। न्युयार्क में भी इसका प्रयोग हुआ है। 'मिरज' ;महाराष्ट्र में एक मानसरोग चिकित्सक हैं, जिन्होंने संगीत द्वारा कई रोगियों को ठीक किया है।निष्कर्प रूप में कहा जाता है कि सभी रोगों के उपचार हेतु संगीत आवश्यक है। संगीत साधकों के पास अतुल्य औपधि का भण्डार है, जिसे वह इन रोगियों में बाँटकर सेवा का लाभ प्राप्त कर सकते हैं तथा संगीतज्ञों एवं संगीत चिकित्सकों ने संगीत के प्रभाव को देखते हुए उसे दैनिक दिनचर्या में अपनाने का सुझाव दिया है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. संगीत पत्रिका अगस्त 2008 पृ. 08
2. संगीत पत्रिका मार्च 2007 पृ. 20,21
3. संगीत पत्रिका अगस्त 2008 पृ. 08-10
4. संगीत पत्रिका मार्च 2009 पृ. 41
5. राजस्थान पत्रिका 'राजा पार्क सप्लिमेंट के आठ जनवरी 2008 से उ(त
6. टाईम्स ऑपफ इण्डिया के 1 जुलाई 2005 के अंक से उ(त
7. दैनिक भास्कर के 4 नवंबर 2006 अंक से उ(त
8. भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान :- डॉ वसुध कुलकर्णी पृ. 139-140

विकलांगता का चिकित्सकीय समाधान-संगीत में संभावनाए : एक अध्ययन

संजय कुमार

प्राध्यापक, कस्तूरबा गाँधी महिला महाविद्यालय, समस्तीपुर

दुनिया की प्राचीनतम् विधाओं में एक भारतीय संगीत की विशालतम समृद्ध व गौरवशाली परंपरा आज भी नित नवीन शोधों व प्रयोगों से निरंतर समृद्धि की ओर बढ़ी जा रही है। आधुनिकता की होड़ में सगीत के बहुआयामी उपयोगिताओं को लेकर जितने शोध व प्रयोग हो रहे हैं और जिसके फलस्वरूप भारतीय संगीत की विविध चमत्कारिक शाक्तियाँ पुनःउद्घाटित हो रही है वह संगीत को कला मात्र समझने वाली पीढ़ी के लिए अकल्पनीय है। संगीत की चिकित्सकीय क्षमता भी उन्ही दिव्य शक्तियों मे से एक है।

संगीत का आधारभूत संबंध ''रंजन'' से है। इस रूप मे मानसिक थकान, तनाव, अनिभा आदि रोगों से मुक्ति दिलाने मे मनोरंजन के सक्षम व सर्वथा उपयुक्त साधन के रूप मे संगीत आज भी सर्व स्वीकार्यता की हद तक लोकप्रिय है, किन्तु 20वीं शताब्दी से अब तक आत्मरंजन, लोकरंजन एवं ईश्वर रंजन में समर्थ व सरल माध्यम संगीत की चिकित्सकीय उपयोगिता पर जितने शोध व प्रयोग हुए एवं हो रहे है यह अद्भुत है। इस तरह के इतने प्रयोग 20 वीं सदी से पूर्व मे भी हुये इसका उल्लेख उपलब्ध ग्रन्थों मे लगभग अप्राप्य है। राग से रोग निवारण हालाकि एक बड़ी आबादी के लिए आज भी कौतूहल का विषय है। आम जनमानस आज भी संगीत चिकित्सा के प्रति विष्वसनीयता की हद तक आश्वस्त नही है जबकि विदेशों को छोड़ भी दें तो भी सिर्फ अपने देश में ही कम से कम 12 से 15 संस्थायें हैं जहाँ संगीत चिकित्सा पद्धति से राग द्वारा रोग निवारण जैसे कार्य हो रहे हैं।इसका मुख्य कारण है संगीत के प्रति आम जनमानस में व्याप्त अवधारणा जिसके अनुसार संगीत कला, या ललितकला या प्रदर्श कला के रूप मे जानी जाती है। फलतः सात शुद्ध एव पाँच विकृत कुल बारह स्वरो पर आधारित संगीत चिकित्सा पद्धति को लोग शंका की दृष्टि से देखते हैं जबकि अपने देश सहित दुनिया भर में विभिन्न चिकित्सा संस्थानों में मनोरोग, हृदय रोग, कफ जनित रोग इत्यादि हीं नहीं यक्ष्मा, कैंसर जैसे असाध्य रोगों की भी चिकित्सा सफलतापूर्वक किये जा रहे हैं।

विडंबना है कि लोग विभिन्न प्रकार की किरणों यथा इन्फ्रारेड रेज, अल्ट्रा वायलेट रेज आदि से चिकित्सा को विश्वास के साथ स्वीकार करते हैं, किन्तु समान रूप से प्रभावी एवं असरकारक राग के स्वरों की चिकित्सकीय क्षमता पर कौतूहल मिश्रित आश्चर्य से मुँह ताकते नजर आते हैं।

चिकित्सा पद्धति-:वैज्ञानिकों व चिकित्सकों का स्पष्ट मत है कि सुमधुर संगीत से रक्तचाप, मनोविकार, अनिभा जैसे रोगो की सफलतापूर्वक चिकित्सा तो की ही जाती है अन्य परेशानियों में भी रोग निवारण में सहायता मिलती है। दरअसल

संगीत से शरीर के रोग प्रतिरोधक क्षमता में अपूर्व वृद्धि हो जाती है। इन अनुभवों व अध्ययनो के आधार पर यह कहना कतई आतिशयोक्ति नहीं है कि विकलांगता निवारण में संगीत महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। खासकर रोग जनित विकलांगता एवं मानसिक विकलांगता की चिकित्सा में संगीत अहम भूमिका निभा सकता है। संगीत थेरेपी की लेखिका पेट जूडी के अनुसार मधुर संगीत मनुष्य की सुशुप्त उर्जा को जागृत कर देती है। प्राण चेतना की अभिवृद्धि एवं रोगरोधी क्षमता के वृद्धि के कारण रोगों पर विजय हासिल करना सरल हो जाता है।

ध्यान देनें योग्य है कि 4000 हर्टज रेंज की ध्वनि मष्तिष्क के कार्टेक्स को शीघ्र रीचार्ज कर देती है। कार्टेक्स की केन्भीय ग्रे-न्यूक्लियाई कार्टेक्स में छोटी-छोटी बैटरी के समान कार्य करती है। अर्थात ये मस्तिष्क में उर्जा उत्पादन का कार्य करती है। 4 हजार हर्टज की ध्वनि इन्हें उच्च उर्जा स्तर से आप्लावित कर देती है। जिससे संपूर्ण मस्तिष्क तंत्र सजग हो जाता है। कार्टेक्स इस उर्जा को सुषुम्ना तंत्र के माध्यम से समस्त कोशिकाओं में संप्रेशित कर देता है और मनुष्य तनावरहित होकर असीम शांति की अनुभूति करता है। कार्टेक्स के द्वारा संप्रेशित उर्जा कोशिकाओं के टूटने-बनने की गति को भी प्रभावित करती है जिसका सकारात्मक प्रभाव रोग से लड़ने की शारीरिक क्षमता पर पड़ता है। येन यूनिवर्सिटी के डा0 विलियम सेन एवं लॉयड कुक मैग्नेटिक मैंपिंग के आधुनिक अनुसंधान में मस्तिष्क पर संगीत के प्रभावों का अध्ययन किया एवं इसके परिणाम का ग्राफ भी तैयार किया।

शोध ग्रंथ कॉस्मिक मेमोरी की लेखिका शीला ओस्ट्रेन्डर एवं लीन श्रेगर ने संगीत से मस्तिष्क पर पड़नेवाले प्रभावों का वर्णन करते हुये लिखा है कि नाद ब्रह्मं उँ एवं ग्रेगेरियन स्वरों के उच्चारण एवं श्रवण से मस्तिष्क अनायास शांत एवं तनावरहित हो जाता है। डा. टामेरिस ने भी अपने प्रयोगों से इसे प्रमाणित किया है। मनोचिकित्सकों की मानें तो मानसिक रोगियों को 100 से 200 घंटे या प्रतिदिन 3 घंटा एक से तीन माह तक मधुर संगीत का श्रवण कराया जाये तो उनके मानसिक उद्वेग में आश्चर्यजनक सुधार दिखना अवश्यंभावी है। रोगजनित विकलांगता में भी इस पद्धति का प्रयोग अपेक्षित परिणाम देने में सक्षम है। इस क्रम में ध्यान देनें योग्य तथ्य यह है कि 4000 से 5000 हर्टज की ध्वनि हीं प्रभावोत्पादक है। इससे मस्तिश्क के दोनों गोलार्धों में साम्य की स्थिति बनी रहती है। एक बीट प्रति सेकेंड का धीमा संगीत रक्तचाप कम करने में सहायक होता है। यह हृदय की धड़कन एवं मस्तिष्कीय तरंगो को नियंत्रित व नियमित करने में सहायक होता है। इस संदर्भ मे पंडित ओमूकार नाथ ठाकुर द्वारा संगीत से इटली के शासक मुसोलिनी के अनिभा रोग कि चिकित्सा का उल्लेख प्रासंगिक है। इस संबंध में संगीत हेजिलेस्टिक चिकित्सा विशेषज्ञ डा. रविन्भ कुमार तुली एवं एवं योग साधना के साधक सर्वश्री राज किशोर प्रसाद सिन्हा के प्रयोग भी संगीत की रोग निवारक क्षमता को उजागर करते हैं।

वास्तव में संगीत चिकित्सा पद्धति 12 स्वरो मे से न्यूनतम 5 स्वरों से निर्मित राग पर आधारित है। इन स्वरों में कुछ स्वर शीत प्रभाव वाले है, तो कुछ उष्ण प्रभाव वाले वहीं कुछ सम-शीतोष्ण प्रभाव वाले स्वर हैं। प्रयोग के दौरान आयुर्वेदिक रसायनो की भाँति विभिन्न प्रभाव वाले स्वरों से निर्मित राग के स्वरों से अल्ट्रा वायलेट रेज की तरह अलग-अलग

प्रकार की प्रभाव वाली किरणें/तरंगें निकलती हैं। ये किरणें/तरंगे समेकित रूप से रोगी पर एक साथ प्रभाव डालते है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार की टॉर्च से निकलने वाला प्रकाशपुंज एक साथ समान रुप से संपूर्ण शरीर पर पड़ता है। संगीत की स्वर लहरी से उत्पन्न होनेवाली तरंगे एक तरफ सुशुम्ना तंत्र के माध्यम से मस्तिष्क में स्थित कॉर्टेक्स को उर्जावान बनाती है जिससे न सिर्फ शरीर में रोग रोधक क्षमता में वृद्धि होती है, अपितु रोगी में रोग से लड़ने की इच्छाशक्ति भी बढ़ती है। वही दुसरी तरफ ये को संगीत चयापचय (मेराबॉलिज्म) को तेज करता है, मांशपेशियो का उर्जा बढ़ाता है । इस प्रकार संगीत शरीर में स्थित विभिन्न चक्रों व ग्रन्थियों में भी उर्जा का संचार कर देती है। फलतः उन चक्रो व ग्रन्थियों से सम्बन्धित शिथिल पड़ी नस-नाड़ियो/धमनी-शिराओं पर चमत्कारिक प्रभाव पड़ता है, और धीरे-धीरे ये नाड़ियां गतिमान व स्वस्थ होकर पूर्ववत कार्य करने लगती हैं।

मानसिक रूप ने सबलता प्रदान करने के साथ-साथ जीविकोपार्जन के सशक्त माध्यम के रूप में सफल साधन संगीत विकलांगों के सामाजिक व आर्थिक सशक्तिकरण में सदियों से महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। किन्तु विकलांग को संगीत चिकित्सा के माध्यम से समाज की मुख्य धारा में जोड़ने के प्रयास सीमित क्षेत्र में हो रहे है। विभिन्न प्रकार के मानसिक विकलांगता से ग्रस्त लोगों, अनिभा, थकान, डिप्रेसन, कफ-वात जन्य रोग से पीड़ित लोगों पर संगीत चिकित्सा के किये जाने वाले प्रयोग आशानुरुप सफल रहे हैं। जबकि संगीत के चिकित्सकीय प्रभाव की व्यापकता का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि कुछ खास दुर्घटना जन्य विकलांगता को छोड़कर प्रायः सभी प्रकार की विकलांगता से पीड़ित लोगो पर संगीत चिकित्सा पद्धति से किये जाने प्रयोग चमत्कारिक रूप से अपेक्षित परिणाम दे सकते हैं। लकवा, पोलियो जैसे विकलांगता के कारणों का सफल निदान या कहें सफल चिकित्सा इस पद्धति से किये जा सकते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संगीत चिकित्सा में धैर्य की आवश्यकता महत्वपूर्ण है। क्योंकि संगीत चिकित्सा पद्धति एक लम्बी प्रयोगात्मक प्रक्रिया है। इस पद्धति में रोग से सम्बन्धित रोगों का सावधानी पूर्वक चयन किया जाता है, जरूरत के हिसाब से ध्वनि प्राबल्य निर्धारित किया जाता है आमतौर पर 3500 से 4500 हर्टज की प्रबलता वाली ध्वनि रोग निवारण मे अपेक्षाकृत शीघ्र फलदायी होती है। इस पद्धति में रोगी को प्रतिदिन 1 से 3 घंटे 30 से 100 दिन तक सुनायी जाती है। यह प्रक्रिया चरणबद्ध तरीके से सम्पादित होती है। समय सीमा आवश्यकता के अनुसार घटायी-बढ़ायी जाती है। विदित हो कि वर्तमान समय में दुनियाभर के विभिन्न चिकित्सा केन्भों में इस पद्धति के तहत-

1. राग भैरवी, सोहनी, तोड़ी से - सिरदर्द
2. पूर्वी, तोड़ी इत्यादी से - रक्तचाप/अनिभा
3. बहार, बागेश्वरी, मियांमल्हार से- उन्माद
4. खमाज, दरबाड़ी कान्हड़ा से - वातोन्माद
5. बिहाग, धानी आदि से- मिर्गी
6. तिलंग, मुल्तानी, रामकली आदि से- क्षय रोग
7. हिंडोल, मारवा आदि से - बुखार
8. मालकौंस, बागेश्वरी आदि से- कैंसर
9. गौड़, सारंग शुद्ध सारग आदि से- सर्दी, खाँसी

आदि जैसे रोगों की चिकित्सा सफलता पूर्वक किये जा रहे हैं।

विकलांगों की सामाजिक दशा को देखते हुये उनके सशक्तिकरण के तमाम प्रयासों के बीच विकलांगता वृद्धि को रोकने की दिशा में चिकित्सकीय शोधो एवं प्रयोगों की आवश्यकता बेहद प्रासंगिक है। जन्मजात विकलांगता को छोड़कर यदि योजनाबद्ध तरीके से प्रयास किये जायें तो विकलांगता वृद्धि पर नियंत्रण असंभव नहीं है। इसके तहत विकलांगता उत्पन्न करनेवाले रोगों के लक्षणों का प्रचार-प्रसार एवं प्राथमिक सुझावों का प्रचार-प्रसार भी जरुरी है। तमाम चिकित्सा केन्भों, अस्पतालों में उनका चिकित्सकीय समाधान भी अपेक्षित है। निःसंदेह भारतीय संगीत भी विकलांगता निवारण की योजना में एक कारगर साधन के रुप में उपयोगी है। विकलांगता के क्षेत्र में संगीत चिकित्सा के प्रयोग की सीमा को विस्तारित करने की आवश्यकता है। यह तभी संभव है जब संगीत चिकित्सा के प्रति हम एक नया दृष्टिकोण अपनाएं तथा अपनी परंपरागत मानसिकता से उपर उठकर मनोरंजन के साधन या ललित कला या प्रदर्श कला से अलग संगीत की उपयोगिता को विश्वसनीयता की हद तक स्वीकार करें।

संदर्भ ग्रन्थ

1. संगीत शास्त्र प्रवीण सिन्हा पं. राजकिशोर प्रसाद
2. संगीत एवं योग साधना द्वारा आत्मसाक्षात्कार सिन्हा पं. राजकिशोर प्रसाद
3. संगीत की मनोवैज्ञानिक उपादेयता, कुमारी डा. अंजू
4. अखण्ड ज्योति हिन्दी मासिक
5. संगीत हिन्दी मासिक
6. हिन्दुस्तान हिन्दी मासिक
7. राष्ट्रीय सहारा हिन्दी मासिक
8. सप्तक स्मारिका

Music, Spirituality and the Body

Manisha Mishra

Dept. of Music & Performing Arts, University of Allahabad

"Music Therapy can be defined as the use of musical or rhythmic interventions specifically selected by a music therapist to accomplish the restoration, maintenance, or improvement of social or emotional functioning, mental processing, or physical health of an older individual."[1]

Shakespeare once wrote, *"If music be the food of love, play on....."* Profound words, true, but he failed to mention that music is not just nourishment for the heart, but also for the soul.[2]

Music has a long and winding history, which has been intricately woven into the fabrics of human life since the beginning of time. It has been used to express, establish and extend communication, to console, to transcend pain and suffering and to gather communities together in rituals and in prayers. As we search through the earliest of writings, the Indian Vedic transcription, we see the very distinct role that music had especially in helping align the hearts of humans with creation and infinity. We are born in sound and live in sound and the ancient seers of all cultures centered their lives in and on this knowledge. Early Egyptians and Greeks used music to heal specific ailments, and Apollo was the God of music and medicine. In 400 B.C. Greece, Hippocrates, known as the father of medicine, played music to soothe his patients; and Aristotle described music as a force that purified emotions. Likewise, Native Americans and Shamans have used drumming and incantations for centuries to help purge illnesses. In Biblical times, we recall the stories of David playing the lyre to Saul to soothe his irrational fits of temper. Here in India, since before written word, gurus, swamis and saints invoked transformation countless examples. The profession of clinical music therapy as we know it today is rooted in these traditions, and formally began after World Wars I and II when musicians traveled to hospitals of play music for soldiers recovering from war- related trauma.[3]

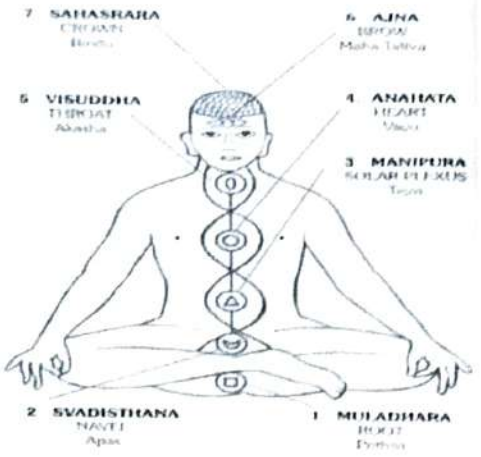

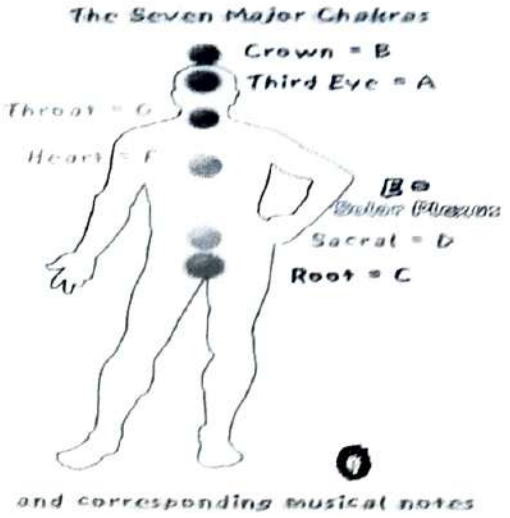

Every child is born with seven majorckakras. The base or the mooladhar chakra starts functioning from the time of birth. As the child grows, gradually the other six chakras start functioning one by one and by the age of twenty-one the process is normally complete. The seven major chakras are located in the inner aura on the midline of the body. These are fast moving vortices of energy. Each chakra has a characteristic frequency of vibration. The chakras are interrelated to the organs and endocrime glands and they should function in a balanced manner to maintain normal bodily functions. human body exists in two levels : The gross material level and the subtle, non-material level. Chakras are the energy centers from where nadis (nerves) converge and emerge.[5] The chakras are subtle centers of transformation located within the cerebrospinal system. According to Hindu tradition, all fifty sounds of the Sanskrit language exist within the chakras of the human body.

The word 'Charkra' is a Sanskrit term meaning "wheel", for chakras are seen as spinning wheels of light by those with the ability to see subtle energy.

"Good and bad music directly and profoundly affects the body's seven subtle psychic energy centers, called chakras, spinning energy wheels arranged vertically up the spine from sacrum to crown. The chakras are the playground of the elements. They are interrelated with the parasympathetic, sympathetic, and autonomous nervous systems, and thus the gross body is related to them."[6] 7 Chakras (Energy centers), 7 swaras [Notes], 72 Melakarta Ragas [Scales] and 72 Thousand Nadis [Energy Channels] - Music Therapy establishes a relationship between them. Each chakra has a rhythmic pulsation or vibration.[7]Here is the chart of 7 energy centers with the vibrating frequencies[8]

:

1. Muladhar Chakra- The base of spine and the element with earth- 600 nadis emanate from it- It vibrate 600 times in the course of one breath

2. Swadishtana Chakra- The genitals and the element water- 600 nadis converge into this chakra- It vibrate 600 times in the course of one breath

3. Manipura Chakra- The navel and the element fire- 600 nadis are joined to this chakra- It vibrate 600 times in the course of one breath

4. Anahata chakra- The heart and the element air- 600 nadis are joined to the chakra- It vibrate 600 times in the course of one breath

5. Visshuddha Chakra- The throat and the element space- 1000 nadis converge here including the ida, pingala and sushumna nadis- It vibrate 1000 times in the course of one breath

6. Ajna Chakra- The point between the eye brows and the combination of the essence of all the elements in their purest form- All 72000 nadis converge here It vibrate 72000 times in the course of one breath

7. Sahasrara Chakra-The crown of the head and transcending all elements influences There are numerous sound that seem to resonate the chakras. Among the most popular age the use of vowels and the use of mantras.[9] Above said fundamental frequencies are harmonically related to the particular note. The particular sounds given for chakra meditation are those that energize each of the psychic centers respectively. One begins by chanting "Petal" sounds of the chakras - those sounds that energize the ganglia of this chakra plexus. The petal sounds are followed by the Bija, or essential "seed" sound of the chakra. This some sequence is then repeated for chakras two, three, four, five and six.[10] Indian ragas are based on certain combination of notes used in fixed set of ascending and descending order. Sometimes one or two notes may be omitted, the pattern of notes used may be simple or complex. Every raga will have a specific note, which is extensively used - this note is referred to as the 'Vadi Swar' of that raga. The basic method by which Indian ragas work on the body is very simple. The seven notes are connected to be seven chakras which influence the organ and the endocrine system.

VADISWAR NAME OF RAGA PART OF BODY CHAKRA

Sa- Miyamalhar- Base of spine - Mooladhar

Re- Tilak Kamod, Brindavani sarang, Des Jaijayavanti -Sex organs Swadhisthan

Ga- Yaman, Bhupali, Khamaj, Bihag- Abdomen- Manipur

Ma- Durga, Bhairvi, Malkaunse kedar, Bageshree- Heart Anahata

Pa- Patdeep, Saraswati, Adana -Throat- Visudha

Dha -Alhaiya Bilawal, Hameer, Sohni- Between eyebrows Ajna

Ni- Multani -Crown of head- Sahashara

Music is within us, music is everywhere around us. So, let us get connected and this friendship can help us to remain at ease, at peace within us and with surroundings. If the frequency increases, so will the energy. Over energized organ needs music with lower vibration where as weak vibrating organs need music which will increase the vibration. Human being acquire energy from two main sources the universe and mother earth. Once the blockage of the chakras is removed, the body gets connected to the two mega generators of energy and then a person can never get ill.[11]

References:

1. Pratik Praveen Encyclopedia of Music, Pg. 20.
2. Arora Dr. Sandhya, Journal - Anhad Lok (Edition-1), Article -The Importance of Music as a Foundation of Mental Peace, Pg. 197
3. Magill Dr. Lucanne, Proceeding - International Seminar (Current Trends in Music Therapy Practices : Methodology, Technique and Implementation), Keynote Address, Pg 31.
4. Mukherjee Mrs. Rajshree, Proceeding International Seminar (Current Trends In Music Therapy Practices : Methodology, Techniques and Implementation), Article- Music can Penetrate Human Consciousness and Create Harmony, Pg. 46.
5. www.yogasangeeta.org
6. www.sanatansociety.org
7. www.rajamsmusictherapy.com/music and its relationship with the Energy centres in the Human Body.
8. www.yogasangeet.org/chakra and music.
9. www.healingsounds.com
10. wwwsanatansociety.org/chakras.
11. Mukherjee Mrs. Rajshree, Proceeding International Seminar (Current Trends In Music Therapy Practices : Methodology, Techniques and Implementation), Article- Music can Penetrate Human Consciousness and Create Harmony, Pg. 50

अंकन

कला का एक रूप : लोक-कला

डॉ. ज्योति शर्मा

पूर्व-प्रवक्ता, एल. पी. यू., हिन्दी विभाग

कलानाम प्रवरं चित्रं, धर्म कामार्थः मोक्षदम् ।
माङ्गल्यं प्रथमं ह्येतद्,गृहे यत्र प्रतिष्ठतम् ।।

अर्थात सब कलाओं में चित्रकला उत्तम है तथा चित्र कला की साधना से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति होती है और घरों में चित्र रचना मंगलकारी है। कला का भंडार सागर के समान विशाल है। भारतवर्ष ने समय-समय पर अनेक कला शैलिओं को विकसित किया,जो पूर्व काल से भारतीय चित्रकला को गौरव प्रदान करती आ रही हैं। हमारे देश में कला इतिहास एक बौद्धिक अनुशासन है। जो कला इतिहास के कुछ उदाहरण इस दिशा में मिलते हैं,उसमें उन विदेशी यात्रिओं के विवरण अधिक हैं। यह यात्री भारत की संस्कृति व धर्म के आकर्षण से यहाँ आये थे। तारानाथ ऐसा यात्री था जिसने भारत की कला कृतिओं को केंद्र बिंदु मान कर बहुत कुछ लिखा है और इस के चलते हमारे कलाकार आत्म-प्रचार से बहुत दूर रहे द्यप्रथम बार मुगल साम्राज्य में ही कला-कृतिओं को नामांकित करने की प्रथा आरम्भ हुई जिस का अल्पाधिक प्रभाव पहाघि एवं दक्षिणी कला पर भी दिखाई देता है। कई लोग इसे केवल मनोरंजन का विषय मानते हैं -एक ऐसी वस्तु जो जीवन से अलग हो। वास्तव में वह नहीं जानते कि कला सीधे जीवन के तले में घुस कर देखती है और उस के रहस्य की परतें उखाड़ फैंकती है। कला के अतिरिक्त कोई ऐसा माध्यम नहीं जो जीवन को भेद कर उस के मूल को प्रस्तुत कर सके। भारतीय कला का भी यही आदर्श रहा। भारतीय कला में आत्मसात करनी की अपूर्व क्षमता रही है। जो भी प्रभाव आया,इस के खून में समा गया और इस के अंतर से ऐसी कला धारा बही जो अत्यंत मौलिक एवं नवीन थी। एक ही सूत्र में बंधे होने पर भी हर कला भारतीय चित्रकला में अपना अलग अस्तित्व रखती है। उसी कला के कुछ रूप हमें इस प्रकार देखने को मिलते हैं। जिस की शुरुआत हम करते हैं सिन्धु घाटी की सभ्यता से जिस में लोक कला के दर्शन होते हैं।

किसी देश अथवा जाति की सभ्यता के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए कला की सहायता बहुत आवश्यक है। इसी के माध्यम से रहन-सहन का ढंग आदि जाना जा सकता है। मोहनजोदाघे और हडप्पा की खुदाई में जो कुछ कलावाशेष मिले हैं,उन्ही के आधार पर उस संस्कृति का अनुमान लगाया जा सका है। यद्यपि समय का निर्धारण तय नहीं हो सका है। फिर भी स्त्रियों के गहने आदि से, बर्तनों से तथा अन्य निर्मित वस्तुओं से उस संस्कृति से उस संस्कृति के उच्चस्तरीय जीवन का आभास होता है।

लोक शब्द का अर्थ जनपद अथवा ग्राम नही बल्कि गाँवों और नगरों में फैली हुई वह समूची जनता है,जिस के व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। यह लोग अकृत्रिम और सरल जीवन व्यतीत करते हैं। पढने-लिखने के बाद संस्कृति बदल जाती है क्योंकि ज्ञान हो जाने पर जीवन में कृत्रिमकता आती है और मानव प्रकृति से हटने लगता है। इसलिए लोक कला जन साधारण

तक सीमित रहती है। परन्तु फिर भी इस का क्षेत्रफल व्यापक है। किसी न किसी रूप में यह मानव के साथ रहती है। इस का जन्म भावनाओं और परम्पराओं पर आधारित है। क्योंकि यह जन-सामान्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति है। देखा जाये तो लोक कला का उदय साहित्य के साथ ही माना गया है। जैसे कि भाषा के आधार पर संस्कृत दो प्रकार की रही एक वैदिक और दूसरी लौकिक। लोक कला का विकास विभिन्न रूपों में हमारे सामने आया है। उसका एक रूप दैविक संकेतों और परम्परागत विश्वासों पर आधारित है और दूसरा रूप सामाजिक रीति रिवाजों पर आधारित है। लोक कला का पहला रूप प्रतीकात्मक है। क्योंकि उसमें विभिन्न शक्तिओं तथा देवी-देवताओं आदि का प्रतीकात्मक चित्रण होता है। रीति-रिवाजों में प्रतीक नहीं बनते, बल्कि स्पष्ट रूपों से सरलता पूर्ण कुछ चित्रण होता है। कला की उन्नति में लोककला का बहुत महत्त्व रहा है। कला का विकास राजा द्वारा आश्रित पेशेवर कलाकारों द्वारा हुआ है। परन्तु लोक कला का विकास घरों के आंगनों में ,गाँवों में,अशिक्षित जातिओं में,बिना किसी प्रसिद्धि के शांत एवं अबोध रूप से धार्मिक,सांस्कृतिक व पारिवारिक परम्पराओं के साथ बौद्धिक पुट से होता चला आ रहा है। इस का जन्म कब हुआ यह तो नहीं कहा जा सकता। परन्तु आधुनिक लोक कला आदि कला का ही विकसित रूप है। प्राचीन गुफाओं में स्वस्तिक चिह्न प्राप्त हुए हैं। यही चिह्न आज-कल लोक कला में परम्परागत रूप से चले आ रहे हैं। भारतवर्ष में पृथ्वी को धरती माता कहा गया है ,मातृभूमि तो इस का सांस्कृतिक और विकसित रूप है। विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न नामों से धरती को अलंकृत किया गया है। गुजरात में इसे साथिया, राजस्थान में मांडना, महाराष्ट्र में रंगोली,उत्तर प्रदेश में चौंक पूर्णा, बिहार में अहपन, बंगाल में अल्पना और गढ़वाल में आपना कहते हैं। इनमें विभिन्न रंगों से या उनके चूर्ण से भूमि पर, घर के आंगन में, द्वार पर, पूजा स्थल पर एक आलेखन किया जाता है जो कोई शास्त्रीय नही बल्कि एक परम्परागत शैली का नमूना है।

रंगोली जो महाराष्ट्र में प्रचलित है, इसमें एक प्रकार के सफेद पत्थर का चूरा करके उसमें रंग मिलाये जाते हैं। जो विविध प्रकार के होते हैं। इसी को भूमि पर बुर्क कर आलेखन किया जाता है द्यजिसमें फूल-पत्ते, बेल-बूटे आदि बना कर मांगल्य की कामना की जाती है। यह वहां के लोक जीवन का अंग है द्यआमतौर पर शादी विवाह तथा विभिन्न त्यौहारों आदि पर इसकी रचना होती है द्यदीवारों पर भी छापे लगाये जाते हैं। जो कि त्यौहारों की विभिन्नता के साथ-साथ विभिन्न रूप में बनाये जाते हैं। लगभग इसी प्रकार की रंगोली को गुजरात में कलोटी कहते हैं।

राजस्थानी में मांडना का खडिया में यालाल,भूरे या हरे रंग से दीवारों,द्वारों तथा चौंक में आलेखन किया जाता है। जिस में तलवार,घोघ,केले का वृक्ष एवं गणपति की आकृतियाँ बनाई जाती हैं। दीपावली के अवसर पर विशेष रूप से रंगों से मांडना का कार्य होता है द्यजिस में वहां की लोककला का दर्शन होता है द्यराजस्थान में मेहंदी मांडने की सुंदर लोक प्रथा है यह सब अलंकरण स्त्रियाँ करती हैं। कुमारी कन्याओं का एक संझया नामक त्यौहार होता है ,जिस में एक घस आकृति बनती है। जो वहां की लोक कला का एक सुंदर नमूना है ।

बंगाल में अल्पना का रेखांकन सफेद पाउडर से किया जाता है। फिर उस में वृत्त, चतुर्भुज, षट्कोण आदि ज्यामितीय ढंग से रेखाएं डाली जाती है तथा विभिन्न प्रकार के रंगों से इसे भर दिया जाता है द्यरंगों को टिकाऊ रखने के लिए गोंद भी इस्तेमाल की जाती है। रंग अक्सर घरों में ही बनाये जाते हैं। फूलों, पतियों, हल्दी, कोयला, ईंट आदि से सूखे रंग बनाये जाते हैं। इस कला का विकास उड़ीसा में भी हुआ। लोक कला की दृष्टि से बंगाल के पटुए बहुत प्रसिद्ध हैं। ये पटचित्र बनाते हैं।

इनमे बार्डर बना होता है जिसमें पशु-पक्षी और मानव-आकृतियाँ देखी जा सकती हैं।

उत्तर प्रदेश में सांझी गोबर से दीवार पर चित्रित की जाती है। सोने-चांदी के पन्ने लगे हुए गहने इस में चिपकाए जाते हैं। यह नवरात्रों में देवी का स्वरूप है। जिस की पूजा परम्परागत रूप से होती आई है। चौंक पूरने से दैविक शक्ति का मांगल्य के लिए आह्वाहन किया जाता है। अहोई अष्टमी के त्यौहार पर दीवार में गेरू रंग से कुछ आकृतियाँ बनाई जाती हैं ,जिसमें एक चौकोर एक बड़ी आकृति होती है तथा उसमें अनेक छोटी-छोटी आकृतियाँ होती है ययह भी देवी का रूप माना जाता है। पुत्रवती स्त्रियाँ ही इसकी पूजा करती हैं और इसी तरह पति के मांगल्य के लिए करवा चौथ पर पूजा की जाती है। गढ़वाल का आपना और बिहार का अहपन धर्म से प्रेरित लोक-कला है। यह मंगल कामना का कार्य भारत में सदा नारी ही करती आई है। पति, पुत्र, घर-परिवार की मंगल-कार्य हेतु पूजा में इन आकृतियों का यथा योग्य उपयोग होता है। जिन के अंतर्गत दैविक शक्तिओं की कल्पना की जाती है। ये आकृतियाँ लोक-चित्रकारी के रूप में हमारे सामने आती हैं।

धार्मिक पहलू से लोक-कला का महत्त्व तो है ही,मनोरंजन का भी लोक-कला में अलग स्थान है ययराजस्थान का विशेष अवसरों पर मेहंदी लगाना ,पैरों में महावर लगाना भी कलात्मक अभिव्यक्ति ही है। इसी तरह लीला गुदवाने की प्रथा भी बहुत पुरानी है। इस में शरीर पर नीले रंग से खाल में किसी यंत्र द्वारा चित्रण करवाया जाता है। जो जीवन पर्यन्त बना रहता है। कुछ लोग प्रेमीजनों के नाम गुदवाते हैं। पौराणिक कथाओं में भी लीला गुदवाने का उल्लेख है। कहा जाता है कि एक बार भगवान कृष्ण ने लीला-गोदने वाले का रूप धारण किया था। आज यह कला टैटू के रूप में युवा वर्ग को बहुत आकर्षित कर रही है। भारत के साथ-साथ विदेशों में भी इस का पुरजोर आकर्षण है।

सही अर्थों में माना जाये तो आज यही लोक कला स्वतः ही सहज और निर्मल रूप में हमारे जीवन का एक अंग बन गयी है। यदि हम एक नजर घुमा कर देखें तो पायेंगे कि भारत की लोक कला में अनेकता में एकता के दर्शन होते हैं। क्योंकि यह भारतीय संस्कृति की आत्मा एवं भावात्मक एकता को और अतीत की महानतम परम्पराओं को संजोये हुए है। इनमें सदा से मानव कल्याण का भाव निहित रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज के आधुनिक युग में जिस प्रकार हर वस्तु का आधुनिकीकरण हो रहा है ,लोक कला अपने परम्परागत रूप में और भी परिष्कृत तथा परिमार्जित हो कर पनप रही है। जहाँ-जहाँ भी विशिष्ट नेता या विदेशी अथिथि जाते हैं उसी स्थान के लोक-नृत्यों से उनका स्वागत होता है। लोक-कलाकारों को पुरस्कृत किया जाता है। हर क्षेत्र में लोक-कला का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। चाहे चलचित्रों में बड़ रहा भोजपुरी गीत हो यां वेशभूषा में बड़े-बड़े ब्लाउज की जगह अंगिया साड़ियाँ आदिवासियों की तरह नाभि से नीचे बाँधने की प्रथा हो या फिर मिनी साडी ,जो अजन्ता के चित्रों की नकल कही जा सकती है। अतः यह सब लोक कला की समाज में पुनरावृति और जागृति का द्योतक है ,जो आदि तो है और अनंत भी रहेगा।

संदर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय चित्रकला का इतिहास, अविनाश बहादुर वर्मा, प्रकाश बुक डिपो,2002
2. भारतीय चित्रकला, अशोक मिश्र, बंगाल पब्लिकेशन्ज, कलकत्ता, 1958
3. राजस्थानी चित्रकला, रागोपाल, विजयवर्गीय कला भवन, जयपुर
4. भारत की चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, डा. लोकेश चन्द्र शर्मा, गोयल पब्लिकेशन,1993
5. Dhawan Hand Book of Art Appreciation and History of Art, Prof. Avatar Dhawan,1996

Defence Structures as Gleaned from Miniature Paintings

Dr. Priyanka Chandra

Intern , Allahabad Museum

The emergence of fortifications or defences in India can be traced back to the Copper and Bronze Age around the middle of the third millennium B.C. in the pre-Harrappan period. But another more important phase of fortification commences with the Iron Age development. While examining the detailed data of fortification, we must investigate some specific nature of defence mechanism emerged[1] during early historic period. Fortification in the archaeological context can be defined as protective or defensive works or enclosure around any settlement or area with or without a ditch or moat. Such defensive structures are built on a formal or informal plan and generally bear a massive character. At times such structural works cover only three sides of the respective habitational area. The principle structural features of any ancient fortification are massive walls with attached quadrangular or semi-circular bastion to strengthen the walled structure and to serve as watch-towers, besides one or more gates sometimes even with the guard-rooms[2].Moats (Parikha), Rampart, wall (Prakaras), city gate and gate-houses with towers, Toranas, Gateways, Gatehouses with towers; Gopuras are included in the defence structures. It is not necessary to say that these all are always secular in nature. Indian literature gives us detail data of defence structures. In Early Vedic literature, pura meant rampart, fort, and stronghold[3].

Defensive walls mostly moats have been located at ancient sites like Ahichchhatra[4], Kausambi[5], Mathura[6], Rajghat[7], Rajgir[8], Champa[9], Sravasti[10], Pataliputra[11], Vaisali[12] etc. The above discussion is an ample evidence to accept the defence structures in early historic period but these structures were also depicted in the miniature paintings. A lot of miniature paintings are collected in Allahabad Museum (In display and in reserve collection) which depicts defence structure. They were created during 18-20 century AD. They depict different parts of the defence structure very clearly. This is noticeable that these parts are explained in Kautilya's Arthúâstra[13]. The present paper is mainly proposes to focused on the defences structures as gleaned from

miniature paintings collection in the Allahabad Museum.

Before entering into the detail investigation of defence structures, it would be better to have an overview on literary evidences. Discussions on fortification in the literature throw welcome light on the subject on the basis of which archaeological data may be better understood. The fortifications in settlements pass through different stages as evidenced in the evolutionary stages of development. Moats (*Parikha*), Rampart, wall (*Prakaras*), city gate and gate-houses with towers, *Toranas*, gateways, gatehouses with towers; *Gopurams* are included in the defence structures. It is not necessary to say that all these are always secular in nature. In Early Vedic literature, *pura* meant rampart, fort, and stronghold[14].Various varieties of the fort detailed in the ṛigveda emphasize their long tradition Kautilya illustrates a very methodical system of a fort construction in a separate chapter known as *durga vidhana prakarana* in Arthúâstra[15]. While going through this chapter, it appears that a state capital was a fortified township or *durga,* which was a fortified settlement. The fort (or for that matter any protective wall) was considered to be one of the essential element of the state by Kautilya[16]. According to Kautilya's, city (Fig.1) was to be protected by a system of three moats excavated around it[17]. Moat is wide water –filled ditch surrounding a fortified place, such as castle or citadel[18]. The three moats of Kautilya seem to suggest the three types of moats well known in ancient India[19]; the moats full of water (Fig.2), the moats full of mud (Fig.3) and the moats which had nothing within it (Fig.4). A moat full of water is mentioned as *'Tayapurna Parikha'*, *'Saparivaha Parikha*[20]*'* in the *Arthúâstra and 'Uadaka-Parikha'* in the *Jâtaka*[21]. Water in such a moat must have been lasting all the year round, because their source was the river on whose bank the city was situated. There were crocodiles in moats so that it became difficult for the enemy to cross it[22]. Efforts were made to beautify the moat, such as by planting lotuses[23]. The second and third types of moat have been known into the *Jâtakas* as *'Kaddama-Parikha'* and *'Sukkha-Parikha'* respectively[24]. An artist tried to make picture reconstructions of such moat which somehow successfully represents the kind of moat described in Arthúâstra.

Fig. 1 A reconstruction of a Fort on the basis of Kautilya's Arthashastra

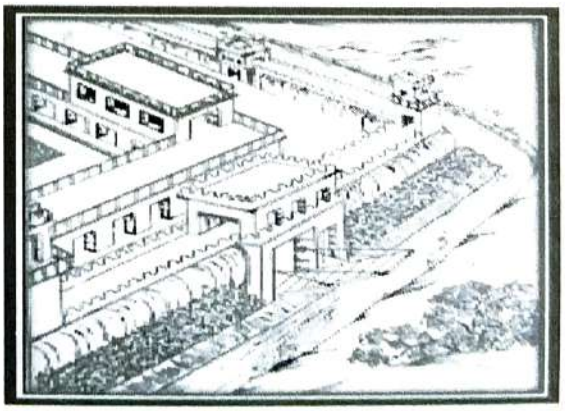

Fig. 2 Three types of moats suggested by Kautilya

Fig. 3

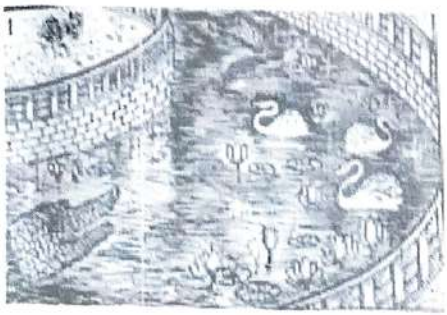

Fig. 4

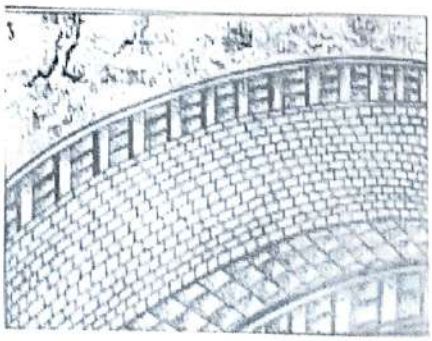

The ancient Indian cities generally described as fortified[25] by rampart walls, *prâkâras*, parapet with high towers (attâlikâ), gateways (dvâra), gate-house (pratoli) along with a deep moat (*parikhâ*) all around it. They all confirm that as far as possible a popular city was to be solidly defended by three deep and extensive moats. The fort and its essential parts have always been popular among scholars of Indology. *Millindpanha* informs us that architects after planning the city started their work with the moat. *Samarâṅgana-sûtra-dhâra*[26] as well as *Aparâjitap*[27]*cchâ*[27] verifies this. Aœvaghosha also appreciates the city of Kapilvastu as a second Girivraja due to its wide and deep moats, clear and straight highways and High Mountain like ramparts[28]. Reconstructions on architectural members such as on Sâñchî stupa present a visual picture of the grand edifices of their time.

One can fully comprehend the nature, form and type of fortifications of that period with their help. Presence of outer defence walls, city-gates, gate-houses, along with the scene of historic cities like Kapilvastu[29], Sravasti[30], Kushinagar[31] and Rajgrih[32] are clearly dipicted on the Sâñchî panels. One most noticeable thing is that the literary as well as sculptural representations of defence activities belong to 2nd cent. BCE and succeeding time period but the archaeological remains for defence structures definitely belongs to 8th-9th cent BCE that is why a caution approach is required in the context.

Now we will have to discuss on the depiction of defence structures on miniature paintings of Allahabad museum. There are seven thousand miniature paintings are stores in Allahabad museum in display and

reserve collection. A few of them have such depictions. They are as under-

The present paper is mainly proposes to focused on the defences structures as gleaned from miniature paintings in the Allahabad Museum. Defence means a resistance against danger, attack, or harm; protection They were meant to protect against enemy.

1) Title : Parikhâ-Prâkâra

Description: The painting shows moat and fortification of a palace. Security system of the Palace has also been depicted in the painting. The painting depicts all the parts of security system constructed during the construction of a fort as described by Kautilya.(Fig.1)

Measurement : 30.48x20.955 cm

Time- Period: C.18th Century CE
Style: Rajasthani
School: Rajasthani
OriginPlace: Bundi, Rajasthan
Acc No.: 1590

2) Title: Two Forts

Description: The painting depicts a small bridge on the river connects both the forts. The fort of the right side made of red stone and the fort on the left side is made of grey stone. Few trees and residential buildings are shown on the lower part of the Red fort.

Measurement: 12.7x8.89 cm

Time- Period: C.20th Century CE
Style: Patna
School: Patna
Origin Place: Patna, Bihar
Acc No.: 1554

3) Title : Prsâdhikâ-Nâyikâ

Description : Picture shows above a palace building enclosed by boundary walls etc. Below it is seen a tank full of birds and flowers. It follows a garden in which Krishna is seen on the right extreme side. Below it Radha is seated on a chauki outside the house and being toileted (make up) by two ladies. One lady conceals Radha with the portion of her sari. Another lady shows a mirror to Radha standing in front. Two birds and a house are seen on the left.

Measurement: 35.56x25.4 cm

Time- Period: C.18th Century CE
Style: Rajasthani
School:Rajasthani
Origin Place:Kishangarh, Ajmer, Rajasthan
Acc No.:AM-MIN-1517

4) Title: Mughal Tomb

Description: Picture shows a Mughal tomb constructed on a high platform within a fortified wall complex. Bastions, Walls and stairs are exposed all around the tomb.

Measurement: 12.7x8.89 cm

Time Period: C.18th-19th Century CE

Style: Patna

School: Patna

Origin Place: Patna, Bihar

Acc No.:1556

5) Title: King Watching the City From Palace

Description: Picture shows on the top left side a king seated inside a pavilion crested at the top of his palace. Below a man stand stands with his horse. Four persons are seated and talking in two groups on the top right corner.Two persons are moving towards the gate. Below stands an elephant.

Measurement: 30.48x20.32 cm

Time- Period: C.18th CE

Style: Rajasthani

School: Rajasthani

Origin Place: Rajasthan

Acc No.: 1568

Conclusion- The above study shows a continuinty the construction of defence structures in India.

The above study corroborates with the data of archaeological, architectural literary and the art and it justify the construction of defence architecture from 600 BCE to 18 Century CE.

The miniature painting of Rajasthan School depicts all parts of a fort mentioned by Kautilya in his Arthúâstra. Therefore we can say that the practice of such architecture was in continuity right from Mauryan Period i.e., 3rd century BCE to British period.

References

1. Ghosh, A., 1989, An Encyclopedia of Indian Archaeology, Volume II, pp. 297 Munshiram Manoharlal Pvt. Limited, New Delhi
2. Singh, A. P., 1987, *Forts and Fortifications in India withthe Special Reference to Central India*, Agam Kala Prakashan, Delhi.
3. Kangle, R. P., 1972, The *Kautilya's Arthasastra*, Vol II, Motilal Banarsidas, Delhi.
4. *Ancient India (A.I)*, Bulletin of the Archaeological Survey of India, New Delhi.
5. Sharma, G.R., 1969, *Excavations at Kausambi*, Department of AIHC&Arch, University of Allahabad.
6. Mukherjee, B. N., 1981, *Mathura and Its Soiety (The Saka-Pahlava Phase)*, Firma K. L. M. Pvt. Ltd., Calcutta.
7. Narain, A.K and T.N Roy, 1976, *Excavations at Rajghat* (1957-58) part-1, AIHC & Arch BHU.
8. Bhikshu, Rastrapal, 1964, *Nalanda and Rajgir*, Sri Mantu Bikashu Barua, Siliguri, Darjeeling.
9. Singh Arun Kumar , *Excavation at Champa- A Preliminary Report*, 2006, *Purabharti*- Studies in Early Historical Archaeology and Buddhism, B. R. Mani and S. C.

Saran, Sharda Publishing House, Delhi, pp. 51-56.

[10] Sinha, K.K., 1967, *Excavations at Sravasti*, Varanasi.

[11] Sinha B. P. & Lala Aditya Narain(1955-1956), 1970, *Patliputra Excavations*, The Directorate of Archaeology and Museume, Bihar Waddell, L.A., 1903, *Report of The Excavations at Patliputra*,(Patna) Bengali Secretartat Press, Calcutta.

[12] Deva, Krishna & Mishra Vijaykant, 1961, *Vaisali Excavations*, Vaisali Sangh, Vaisali. Sinha B. P. & Sita Ram Roy, 1969, *Vaisali Excavation* (1958-1962), Directorate of Archaeology and Museums, Patna, Bihar.

[13] Kangle, R. P., 1972, The *Kautilya's Arthasastra*, Vol II, Motilal Banarsidas, Delhi.

[14] Macdonnell, A.A. and Keith, A.B., *Vedic Index of Names and Subjects*, London 1912, S.V. Pur.

[15] Arthasastra, II, 4

[16] Sharma, R. S., 1968, *Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India*, Delhi, pp. 31-49

[17] Arthasastra, Prakarana 21, p-31 (Jolly Edition)

[18] Collins Concise Dictionary

[19] Roy U. N., 1969, *Studies in Ancient Indian History and Culture*, Lokbharti Publication, Allahabad. P-77

[20] Panini-Kalina-Bharatavarsa, p. 144

[21] *Ibid.*

[22] Arthasastra, Prakarana 21, p-31 (Jolly Edition)

[23] *Ibid.*

[24] Samarangana-sutra-dhara, p- 40

[25] Arthasastra, II, 4

[26] Samarangana-sutra-dhara, p- 40

[27] Aparajitaprccha, p-178

[28] Asvaghosh, 1959, B Saundaranda, Ed. And Translation, Surya Narain Chaudhari. Purnea

[29] EG, N. pillar, Inner face, Lower Panel

[30] NG, East Pillar, Front face, Lower Panel

[31] WG, Back, Middle Architrave; SG Back Lower Architrave

राजस्थान में वनवासी-चित्रकला

हर्षा त्रिवेदी

मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर

किसी भी कार्य को सुव्यवस्थित ढंग से करना ही कला है। हर व्यक्ति अपने जीवन में कलाकार व कला प्रशंसक दोनों हैं। वह जीवन में आनन्द के लिए कला का सहारा लेता है। कला जीवन की सुरुचिपूर्ण अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। विभिन्न कलाओं में चित्रकला का महत्वपूर्ण स्थान है।यह जीवन के अबूझ रहस्यों, कोमल रागात्मक अनुभूतियों तथा मानवीय संवेगों का ऐसा सहज, सरस व सुन्दर चित्रण है जिसमें कलाकार के चिंतन, परिवेशगत प्रभाव तथा जीवन-दर्शन की दमदार अभिव्यक्ति होती है।

पश्चिमी राजस्थान के वनस्पतियों के लिये कच्चे खपरैल के घरों की गोबर मिट्टी से लिपी-पुती दीवारें, चौक, चौबारे, द्वार-देहरी आदि चित्रण अस्तित्व के वे आधार है जहाँ वे पेड़-पौधों की टहनियों, डंडियों, मूंज से बनी कूंचियों या कतरनों व झाड़ू की सींकों जैसे सहज उपलब्ध साधनों से अपनी कल्पना को साकार करते है। चूना, गेरू, हल्दी, नील, लाल-पाली मिट्टी, उड़द दाल, चावल, ईंट, कोयले के पाउडर आदि प्राकृतिक रंगों से रूपांकन को रंगीन बनाते है। अपनी दैनिक कार्यों से जुड़े जीवन को कला के रूप में सृजित करते है। प्राकृतिक रंग, घरेलू, सहज उपलब्ध साधन और सामाजिक, पारिवारिक, प्राकृतिक विषय, कुल मिलाकर वनवासी चित्रकला के मूलाधार हैं जिन्हें वे समयानुकुल विविध प्रासंगिक आयाम देते है। उनकी चित्रकला में आत्मिक सौंदर्यबोध होता है क्योंकि इनकी कला अन्तः करण की एक अमूर्त अधीरता का साकार रूप होती है। सर्वश्रेष्ठ और प्रभावशाली अभिव्यक्ति नेत्ररंजक होती है। बौद्धिक सूझबूझ से दूर उन्मुक्त, स्वच्छन्द, बन्धनमुक्त मानव मन की सहज अभिव्यक्ति होने से आत्मा की धुरी पर केन्भित होती है। अतः दिव्यत्व जैसा सौंदर्यबोध अनुभूत होता है। अधिकतर विद्वजन वनवासी चित्रकला को ललित कलाओं का मूल स्त्रोत मानते है विविधता के आयाम से सम्बद्ध होने से यह रसहीन या नीरस नहीं होती। अन्य कलाओं में वनवासी चित्रकला को उत्कृट स्थान मिला है। यह किसी भी मायने में लोककला से भिन्न है।

अतः उक्त कला की लोककला के रूप में देखा जाना न्यायसंगत नहीं होगा। लोककला के अपने शास्त्रीय पारम्परिक व सैद्धान्तिक प्रतिमान होते हैं। यह बन्धनमुक्त नहीं है। लोक-कला में आकार, रूपाकार (फार्म) के अभिप्राय (मोटिव्ज) अभिकल्प (डिजाइन) और प्रतिमान (पैटर्न) आदि स्थायी प्रतिमान है। वनवासी अपनी सामर्थ्य के अनुकूल उपलब्ध उपकरण से सृजन करते है। वह प्रकृति के पुजारी हैं। प्रकृति के साथ सहज जीवनयापन करते हैं। सीमित साधनों से संतुष्ट रहते है। आकारों में सरलता होते हुए भी इनमें गांभीर्य और गहनता होती

है। आदिमानव की जीवनचर्या से सम्बद्ध होने के कारण वनवासी चित्रकला अति प्राचीन है। इनमें अलंकरण अनिवार्य नहीं। बन्धनमुक्त आकार और अभिप्राय होते है अतएव विवेक एवं ज्ञान गांभीर्य से दूर रहना पसन्द करते है। दैनिक जीवन-शैली से जुड़े विभिन्न अनुभव, परम्परायें, रहस्य, प्रकृति टोने-टोटके, धर्म, तंत्र-मंत्र रूढ़िवादी वनवासियों की चित्रकला के मूल स्त्रोत है।

उद्भव एवं विकास :-मानव विज्ञानी जॉनस्टन द्वारा नेशनल जियोग्राफिक पत्रिका के माध्यम से प्राप्त फ्रेस्को को ''भित्तिचित्र विषयक जानकारी को आदिमानव की चित्रकला की विरासत के रूप में विद्यमान वनवासी ही इसके मूल स्त्रोत एवं संरक्षक है। यद्यपि इनकी बसावट के लिये भिन्न-भिन्न मत है। राजस्थान में विभिन्न आदिवासियों-वनवासियों के अलावा तीन मुख्य आदिम जातियां क्रमशः मीणा, भील व गरासिया चर्चित जातियां है। यहाँ वागड़ व हाडौती क्षेत्र के बासवांड़ा, डूंगरपुर, उदयपुर, गिलूंड़, भीलवाड़ा, चितौड़, कोटा, आयड़, कालीबंगा, बागोर इत्यादि ऐसे क्षेत्र है जहाँ पुरातत्वेत्ताओं को शोध के आधार पर ताम्राश्मकालीन प्रमाण मिले है। कोटा में शुतुरमुर्ग के अण्डों पर की गई नक्काशी के नमूनों को लगभग 38,900 वर्ष प्राचीन बताया गया है। तब मानव गुफाओं, कन्दराओं में रहते थे। आखेट और वन सम्पदा उनके जीवनयापन के मूलाधार थे, कमोबेश आज भी है। असुरक्षा का भय आदिमानव की स्वाभाविक विवशता थी। आज भी मानव प्रायः जंगल के जंगली जानवरों से नहीं डरता अपितु आदि मानव के सामान्यजन के लिये यह खौफ का कारण था। अंधेरे में जीवनयापन, प्रवास तथा संप्रेषण के अभाव में संभवतः कोयला, खपरैल ईंट आदि जो भी प्राकृतिक साधन सहज रूप से मिल जाता, वे उसी के माध्यम से अपने अभिप्राय को अर्थ देते थे। आदिवासी या वनवासी एक ऐसा मानव समूह है जो प्रकृति का स्वतंत्र आनन्द लेना चाहता है। विभिन्न सांस्कृतिक विशिष्टता इनकी सर्वव्यापी प्रतिष्ठित पहचान है। ये लोग शिवशक्ति के उपासक हैं तथा विद्वान इन्हें अहाड़ियन स्वीकारते है अर्थात् 'अहार्य' (अनार्य) इनके प्राचीन साक्ष्य राजस्थान में विशेष रूप से पाये जाते है।राजस्थान के वागड़, हाडौती क्षेत्र, अरावली के घने जंगल, समीपस्थ मध्य प्रदेश के सघन वन आदि ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ प्राचीन काल से ही आदिम जातियां अपनी झोंपड़ियां बनाकर बसती रही है। आज भी उनके वंशज यहां मौजूद हैं। राजस्थान के रेगिस्तानी सैलाब के साथ यहाँ प्रचुर मात्रा में नदियों, झीलों एवं वर्षा के फलस्वरूप राजस्थान की भौगोलिक पृठभूमि वनवासी संस्कृति के लिये निरन्तर अक्षुण्ण है। अनाज और वन सम्पदा की भरपुर उपज इनके लिये पर्याप्त जीवनयापन स्त्रोत हैं।कहना न होगा कि वनवासियों में व्याप्त भय, शंका, संशय, आपदा, व्याधि, प्रकृति प्रकोप, धोखा, अविश्वास, रोग, देवी-देवता के अभिशाप, मृत्यु, शोक, मानसिक संताप, दैन्य दुख, अंधविश्वास, कौतूहल, पर्व, संस्कार मृतात्मा, हर्ष, उल्लास, आशा-निराशा आदि जैसे अनुभूत मनोभावों को चित्रों के माध्यम से दर्शाते है परन्तु समय के साथ परिवर्तित परिस्थितियों में नवीनता भी विद्यमान होती है।अतः उनकी रचनात्मकता के विविध आकार अभिप्राय व प्रतिमान होते हैं।

मूल स्त्रोतः- वनवासी चित्रकला के मूल स्रोत में प्रकृति से संघर्ष करते हुए जहाँ आपदाओं से बचने, सुरक्षित जीवन जीने की कला उजागर होती है, वहीं वन-सम्पदा के द्वारा प्राप्त दैनिक जीवन के लिये उपयोगी यंत्र, उपकरण आदि के अलावा अन्य विविध विषय जुड़े हैं। इसी के साथ उनके चित्रण में आखेट, व यौन सम्बन्धित चित्र भी उतने ही निष्पकपट भाव से चित्रित किये जाते हैं। अश्लीलता

या ब्रह्मचर्य वनवासियों की समझ से दूर की बात है। यौन 'रहस्य' नहीं होता वनवासियों में। अतः यौन चेतना बहुत पहले की विकसित हो जाती है। यौन शिक्षा का रहस्यों को सिखाने के लिये वनवासियों में कोई नियमित पहल नहीं होती। कई बार एक परिवार के पास एक ही घर होता है। ऐसे में बच्चों के पास पूरा अवसर होता है कि वे प्रमुख दृश्य देखकर परिपक्व बनें। शारीरिक ज्ञान की अभिव्यक्ति वे अपनी चित्रकला में सहज प्रवृत्ति के अनुरूप ही चित्रित करते हैं। संभवतः उद्दाम या उत्कट कामनाओं व आकांक्षाओं को सामाजिक विकास के साथ अश्लीलता की जगह दैवीय स्थान दिया जाने लगा।

विश्व प्रसिद्ध खजुराहो का मूर्तिशिल्प इसका जीवन्त उदाहरण है। राजस्थान के वनवासी शिव शक्ति को अपना आराध्य मानते हैं। अतः कहीं-कहीं योनि व लिंग चित्रण भी इनकी चित्रकला के मूल स्रोत के रूप में स्पष्ट होते हैं। तंत्र-मंत्र, टोना-टोटका, तप-आराधना आदि चित्रण में त्रिशूल, चिमटा, पर्वत शिखर, देवरे-स्थानक, घंटा, मोर, पंख, सर्प, बिच्छु, वटवृक्ष, पीपल, हाथ का पंजा, पैर के निशान, जपमाला, हनुमान, शिव-पार्वती, गणेश व भैरव आदि मूल स्रोत है। टोना-टोटका सम्बन्धित चित्रण में प्रतीक चिह्न चित्रित होते हैं। इसी के साथ शोक, व्याधि, प्राकृतिक विपदा, महामारी आदि से सुरक्षा के उपाय दर्शाये जाते हैं जैसे गाँव में चेचक या महामारी से बचने के लिये मोर पंख का झाड़ा या उल्टे सिर वाली आकृति बनाने का तात्पर्य है कि व्याधि स्वयं कष्ट पाकर रोगी को रोगमुक्त कर चली जायेगी। ऐसे रहस्य मिश्रित भावों की सहजता विमोहित करती है। अंधविश्वासों के चलते वनवासियों की मान्यतानुसा मृतक का किन्हीं कारण वश कुपित या अप्रसन्न होना ही मूलतः व्याधि तथा विपदा का कारण है। अतः विविध आकार में रहस्यमय आकृतियां और प्रतीकात्मक रेखाओं से चौकोर, त्रिकोण या वृत्ताकार चिह्न चित्रित किये जाते हैं। सम्पूर्ण चित्रकला आत्मपरक सिद्धान्तों पर आधारित होने के फलस्वरूप आत्मा से सीधा सम्पर्क साधते हैं। ये लोग आत्माओं का भी निरूपण करते हैं जो कि इनके हृदय की गहनतम् भावाभिव्यक्ति का मूल स्रोत है। चित्रकला के मूल में मनोवेग जैसी सहज प्रवृत्तियों के चित्रण द्वारा निश्चय ही वनवासी की चित्रकला का उत्कृट सौंदर्यबोध उजागर होता है।

इसी प्रकार दैनिक जीवनोपयोगी उपकरण जैसे आखेट, अस्त्र-शस्त्रों में भाला, तलवार, फरसा, तीर-कमान, त्रिशूल व पत्थर के बने उपकरण, पहिया, दीपक, बर्तन, कलश, बिलौना, सिलबा, हाथी, घोड़ा, टट्टू, खच्चर, गाय, बैल, नन्दी, हल आदि चित्रण के आकार होते हैं। राजस्थान में आहड़ से भी प्राचीन संस्कृति की उपलब्धि गौरवान्वित होने का विशय है। आहड़ संस्कृति के जन्मदाता दक्षिण राजस्थान में बसे हुए हैं। आहड़ के मृण्पात्र पर चित्रित मानवाकृति या बिच्छू के आकार को आहड़ संस्कृति का प्रथम रूप कहा जाता है। वनवासी चित्रकला सहज हृदयगामी व सरल, बोधगम्य होने के कारण विद्वजन उक्त चित्रकारी को बाल-चित्रण के सदृष भी बताते है। यद्यपि इनकी चित्रकला अपेक्षाकृत गूढ़ रहस्य के गाम्भीर्य व सारगर्भिता से सराबोर होती है।

राजस्थान के वनवासी प्रायः मानवेत्तर आकृति के साथ विचित्र अमानुशीय आकृतियों में भयावह चित्रण दर्षाते हैं जैसे आँख के गोलकों की पुतलियां चेहरे के आसपास या यथास्थान से भिन्न, दूर बनाते हैं। बड़ी-बड़ी डरावनी मुखाकृति या मुखौटे, दाँतों की विचित्र संरचना अथवा सिर पर उलझे हुए झाडीनुमा केष-समूह या फिर उल्टी-सीधी, आड़ी-तिरछी, लेटी-बैठी मानवकृति चित्रित करते हैं।

उक्त विस्मयजन्य चित्रकला कौतूहल जगाती है एवं वनवासी चित्रकला के वैशिष्ट्य में अभिवृद्धि करती है।

आदिवासी पारम्परिक कला के अन्तर्गत प्रायः घर-गृहस्थी उपकरणों में विविध मृण्पात्र, अनाज भरने की मृण निर्मित कोठियां, सोहरियों पर सृजन प्राचीनतम परम्परा रही है। सिंधु संस्कृति में उपलब्ध मृण्पात्र, आभूषण आदि पर पशु-पक्षी व प्रकृति-चित्रण आदि वनवासी चित्रकला के नेत्ररंजक उपादान हैं। मुख्य बात यह है कि अपनी चित्रकारी में कहीं भी रिक्त स्थान नहीं छोड़ते। सौन्दर्यबोध के दृष्टिगत इनमें मीन, कंगूरे, मेखला, पशु-पक्षी, प्रकृति-चित्रण, स्वास्तिक, शिकारी, घुंघरू अथवा बिन्दु समूह, चतुर्भुज, त्रिकोण, समान्तर या आड़ी-तिरछी रेखायें आदि वनवासी की सुरुचिपूर्ण व संतुलित सूझबूझ का परिचय देते हैं।

संस्कार जैसे विवाह, जन्मोत्सव, पर्वों में दशहरा, होली, दीपावली, नवरात्रि, दशामाता, चौथमाता, गवरी जैसे अवसर विशेष पर चित्रकारी में अलंकरण का विशेष प्रभाव दिखाया जाता है। इसके अन्तर्गत के लि या आम्र, मोर, खजूरी, त्रिशुल, कलश, दीपक या कोई भी मानवाकृति से सज्जित किया जाता है। कभी-कभी प्रतीकात्मक पाँच बिन्दु भी पर्याप्त होते हैं। शक्तिपूजा में। गाँव में स्थानक या मंदिर प्रायः सुनसान जगह, कुएँ या बावड़ी के समीप तथा वृक्ष के नीचे बनाते हैं जहाँ भूतप्रेतों का आवास समझा जाता है। यह भी इनकी श्रद्धा व आस्था का स्वाभाविक पक्ष है।

विवाह चित्रण अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में दिखाई देता है क्योंकि विवाह वनवासियों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रसंग है जो कि हर्षोल्लास व आनन्द का अतिरेक है। मिट्टी की दीवार पर पारम्परिक निरूपक तथा विभिन्न आकार बनाते हैं। मायरत या मायन, गोतरंज (गौत्र), माया, देराड़ी-भराड़ी आदि के चित्रण सम्पूर्ण पंचकोणीय मंदिर के रूप में चित्रित होता है। उक्त संयोजन के भीतर-बाहर भी रेखाओं से चित्र सृजित किये जाते हैं। पाँच लम्बी रेखाओं के पंख वाला मोर विशेष रूप से चित्रित होता है। पंचकोणीय आकार के बीच, केन्भ में एक युगल चित्रित किया जाता है जो कि इस अवसर विशेष का एवं मायरत चित्र का प्रमुख अभिप्राय होता है।

युगल के आसपास चाँद, सूरज प्रतीकात्मक रूप होते हैं। कभी-कभी केन्भ में स्वास्तिक अथवा रिक्त स्थान को तारों के चित्रण से पूर्ण किया जाता है। मायरत जैसे सम्पूर्ण वैवाहिक संयोजन दक्षिणी राजस्थान में विशेषा रूप से दिखाई देता है। वैवाहिक अवसर पर वनवासी मायरत चित्रों के अलावा विविध विषयों पर भित्ति चित्र बनाते हैं। विशेष यह कि वस्तु-चित्रण के साथ टोटकों के संकेत अवष्य बनाए जाते हैं। नवीन युग के अनुरूप वायुयान, कार,साइकिल, टीवी आदि के चित्र भी सृजित किये जाते हैं।राजस्थान के वनवासियों के वस्त्रों में भी विभिन्न कलात्मक अभिकल्प दिखाई देते हैं जो ठप्पा या लकड़ी के बने छापों से तैयार किये जाते हैं। छपाई के माध्यम से बंधेज, मोठड़ा, लूगड़ा, चूनड़ी, ओढ़नी, घाघरे आदि पर सुनियोजित वनवासी चित्रण किया जाता है। अभिकल्प मुख्यतः प्राकृतिक होते हैं। इन्हें 'भांत' कहते हैं। अंगलेखन (गोदना) भी वनवासियों का कलात्मक सौंदर्य से अछूता नहीं है।

वनवासी चित्रकला के विविध आयाम

वर्तमान में निजी व सरकारी शिल्प सज्जा-केन्भों पर वनवासी चित्रकला व शिल्पकला हस्तशिल्प उद्योग के रूप में खूब पनप रही है। पर्यटक विशेष रूप से वनवासी चित्रकला व हस्तशिल्प में रूचि लेते हैं।

इस प्रकार वनवासी चित्रकला के साथ ही विभिन्न आयाम जुड़े हैं। भित्ति चित्रों के अलावा वनवासी कला के अस्तित्व वस्त्रों, मृणपात्रों, काष्ठ, बांस, पत्थर, शिला, घास व पत्तों के साथ भी मौजूद हैं। इनकी रसात्मक अनुभूति जन-जन को आनन्दित करती है। मूलतः इनके आकार व चित्रण-अभिप्राय पारम्परिक एवं प्रतीकात्मक होते हैं।

उपसंहार

संभवतः जीवन का कोई भी क्षेत्र वनवासी की पारम्परिक चित्रकला सौंदर्य से अछूता नहीं है। ऐसी कला जिसे समझने व जानने हेतु ज्ञान चक्षु की जरूरत नहीं पड़ती, यह मात्र भावनात्मक दृष्टि से देख लेने से ही आत्मसंतुष्टि देती है। धन्य हैं ये वनवासी जिन्होंने प्रागैतिहासिक चित्रकला को जन्म हीं नहीं दिया अपितु आज भी अपनी कला व संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

भारत का कलात्मक वैभव -प्रकाश नारायण नाटाणी

कठपुतली परम्परा एवं प्रयोग- देवीलाल सामर

राजस्थान के कला गौरव- रमेश बोराणा

पारम्परिक कला एवं लोक संस्कृति-कमलेश माथुर

कला, रंग और भारतीयता

के. राजलक्ष्मी

दृश्यकला संकाय चित्रकला विभाग, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़

कला यह शब्द इतना व्यापक है, जिसकी एक परिभाषा गढ़ना कठिन है क्योंकि यह कभी कल्पना है तो कभी सत्य की अनुकृति, कहीं अभिव्यक्ति है तो कहीं अनुभूति और कहीं भोग है तो कहीं निःस्वार्थ सुख। कला तो मनुष्य का मनोवेग है, जो उसके अंतर्मन से निकलता है। विभिन्न शास्त्रों में तथा विद्वानों ने कला को अपने-अपने शब्दों में परिभाषित किया है, किन्तु जब हम कला को किसी कसौटी में परखना चाहते हैं तो पाते हैं कि इसे शब्दों में बाँधना कठिन है। कला का क्षेत्र व्यापक है और कलायें भी उतनी ही व्यापक मानी गई हैं। वात्सायन ने कला के 64 रूप बताये हैं वहीं जैनशास्त्र में 71 कलायें कही गई हैं, किन्तु यहाँ पर हम ललित कला के अंतर्गत चाक्षुण कला अथवा चित्रकला के विषय में चर्चा करेंगे। साथ ही चित्रकला में रंगों के प्रयोग पर चर्चा करेंगे।

चित्रकला क्या है? जब कलाकार किसी प्राकृतिक दृय के प्रति अथवा किसी दैहिक सौन्दर्य पर आसक्त होकर उसकी रचना करता है या वह अपने मनोभावों में स्थित भावनाओं को चित्रित करता है, वही चित्रकला है। चित्रकला अपने आप में एक अद्‌भुत कला है, और जब इसमें रंगों का समावेश होता है तो यह अद्‌भुत से अभूतपूर्व हो जाती है। एक चित्र बनाने में जहाँ रेखायें सहयोग करती हैं, वहीं रंग उसमें सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं। हमारी सृष्टि सौन्दर्य पटी पड़ी है, चाहे वह उदय होते सूर्य की लालिमा हो या फिर पसरी हरियाली हो अथवा नीला आकाश हो या फिर सतरंगा इन्भधनुष। प्रकृति ने हमें अनेकों रंग दिये हैं और मनुष्य ने भी उसका प्रयोग उतनी ही सुन्दरता से किया है। जिस प्रकार एक चित्र रंगों और रेखाओं के माध्यम से कलाकार की कल्पना का बोध कराते हैं ठीक उसी प्रकार संस्कृति एवं तत्कालीन सभ्यता भी परिलक्षित होती है। भारत के संदर्भ में यदि हम बात करें तो, यह कहना अनुचित न होगा कि यह विभिन्नताओं से परिपूर्ण राष्ट्र है जो अपनी सुगठित सभ्यता, संस्कृति और उच्चकोटि की कला के लिए प्रसिद्ध हैं। यहाँ हर रंग का अपना विशेष महत्त्व दिखता है। भारतीयता अर्थात् भारतीय सोच, रीति-रिवाज़, पर्व, उत्सव, पहनावा, खान-पान सभी में रंगों का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ वैदिककाल से आज पर्यन्त रंगों का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता रहा है, निःसंदेश यहाँ की कला भी विविध रंगों से मायाजाल बुनती नज़र आती है। यहाँ हर रंग कुछ कहता है, जैसे- लाल रंग जहाँ नारी के सुहाग की निशानी है वहीं पीला रंग शुभ होने का प्रतीक, नीला आसमान का द्योतक है तो काला रंग अंधकार का।बात चाहे धर्म की हो, संस्कृति की हो, ज्योतिष की हो या फिर वास्तुशास्त्र की, सभी में रंगों का विशेष प्रयोग एवं महत्व देखा जाता है। ज्योतिष-शास्त्र में प्रत्येक जातक के लिए एक रंग सुनिश्चित किया गया है, इसी प्रकार वास्तुशास्त्र में भी रंगों के आधार पर शुभ-अशुभ की गणना की जाती है। वैज्ञानिक महत्व की यदि बात करें तो, रंगों से हमें विभिन्न स्थितियों का पता चलता है। हम अपने चारों तरफ अनेक प्रकार के रंगों से प्रभावित होते हैं। रंग, मानवीय आँखों के वर्णक्रम से मिलने पर छाया सम्बंधी गतिविधियों से उत्पन्न होते हैं। मूल रूप से इंद्रधनुष के सात रंगों को ही रंगों का जनक माना जाता है, ये सात रंग लाल, नारंगी, पीला,

हरा, आसमानी, नीला तथा बैंगनी हैं। मानवी गुणधर्म के आभासी बोध के अनुसार लाल, नीला व हरा रंग होता है। रंग से विभिन्न प्रकार की श्रेणियाँ एवं भौतिक विनिर्देश वस्तु, प्रकाश स्रोत इत्यादि के भौतिक गुणधर्म जैसे प्रकाश विलयन, समावेशन, परावर्तन जुड़े होते हैं।

रंग हजारों वर्षों से हमारे जीवन में अपनी जगह बनाए हुए हैं। प्राचीनकाल से ही रंग कला में भारत का विशेष योगदान रहा है। मुगल काल में भारत में रंग कला को अत्यधिक महत्त्व मिला। यहाँ तक कि कई नये-नये रंगों का आविष्कार भी हुआ। इससे ऐसा आभास होता है कि रंगों के उपलब्ध कठिन पारिभाषिक नामों के अतिरिक्त भारतीय भाषाओं में उनके सुगम नाम भी विद्यमान रहे होंगे। यहाँ आजकल त्रिम रंगों का उपयोग जोरों पर है वहीं प्रारंभ में लोग प्रा तिक रंगों को ही उपयोग में लाते थे। उल्लेखनीय है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में सिंधु घाटी सभ्यता की जो चीजें मिलीं उनमें ऐसे बर्तन और मूर्तियाँ भी थीं, जिन पर रंगाई की गई थी। उनमें एक लाल रंग के कपड़े का टुकड़ा भी मिला। विशेषज्ञों के अनुसार इस पर मजीठ या मजिश्ठा की जड़ से तैयार किया गया रंग चढ़ाया गया था। हजारों वर्षों तक मजीठ की जड़ और बक्कम वृक्ष की छाल लाल रंग का मुख्य स्रोत थी। पीपल, गूलर और पाकड़ जैसे वृक्षों पर लगने वाली लाख की मियों की लाह से महाउर रंग तैयार किया जाता था। पीला रंग और सिंदूर हल्दी से प्राप्त होता था।

इस प्रकार कला और रंग का मिश्रित रूप भारतीय सभ्यता और परम्परा से स्पष्टतः परिलक्षित होता है जो निःसंदेह अद्भुत है, अद्वितीय है। भारत की समृद्ध चित्रकला के माध्यम से यह निरन्तर गतिमान है और नित नये आयाम तय करती है। चित्रकला में अमूर्त चित्रण की परम्परा भी रही है, जिसमें कलाकार रंगों के माध्यम से अपने मनोभाव, आंतरिक वेदना या सामाजिक संदेश देता है। क्योंकि कला एक साधना है, यह भोग तो नहीं किन्तु मनुष्य के मन के भीतर स्थित उसकी भावनाओं, कल्पनाओं व चित्र-वस्तुओं का दर्शन अवश्य कराती है तथा रूप को हृदय व हृदय को रूप बनाकर प्रस्तुत करती है। कला के लिए मूर्त या अमूर्त कोई आवश्यक शर्त या बंधन नहीं है, न ही सभी अमूर्त कला "मॉडर्न" होती हैं और न ही सभी आकृति मूलक या यथार्थ कलायें पारम्परिक होती हैं।

अमूर्तन से तात्पर्य ऐसे शब्दों से है जिसका कोई मूर्त रूप न हो, जिसमें न आकार हो, न आकृति हो और जो होकर भी न हो और न होकर भी अपने होने का एहसास कराये। अमूर्तन जिसमें आध्यात्म है, कला है, रहस्य है, रचनात्मकता है, सूक्ष्मता है, सुन्दरता है और इन सभी के साथ-साथ परिपक्वता है।अमूर्त चित्रण शैली मूलतः भाव प्रधान है, अर्थात् एक चित्रकार अपने मनोभावों को रंगों के माध्यम से प्रकट करने का प्रयास करता है, जिसमें आकृति नहीं अपितु भाव प्रधान होते हैं। वह अलग-अलग रंगों के माध्यम से प्रेक्षक को अपने मनोभावों से अवगत करना चाहता है, यही अमूर्त कला है। संगीत में कलाकार रागों और तालों के तानेबाने बुनकर भावात्मक सुख की अनुभूति करता है, ठीक इसी प्रकार नृत्य में नर्तक सौन्दर्य तत्वों के साथ भाव और रस का सामंजस्य स्थापित कर प्रस्तुति देता है। इसी क्रम में एक चित्रकार विभिन्न रंगों के माध्यम से अपने मनोभावों को कैनवास पर व्यक्त करता है, जो सौन्दर्य के साथ-साथ अन्य कई गूढ़ अर्थों से पटी होती है। एक बिन्दु से ब्रह्माण्ड दिखाना और उसके रहस्यों को समझना, रंगों के बहाव में या रंगों द्वारा साकार प्रकृति को निराकार रूप में रंगना, उसे सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में चित्रण करना और सरल से सरल दिखाना, परन्तु इस तरह कि प्रकृति का पूरा सार समाहित हो सके। कला का कोई अंत नहीं, अंत तो गहराई का है और कला ही माध्यम है वहाँ तक पहुँचने का। इस प्रकार अनादि काल से चली आ रही कला, रंगों के माध्यम से भारतीय संस्कृति और सभ्यता रूपी कैनवास पर अनेक मानसिक संवेदनाओं को उजागर करने का सशक्त माध्यम रही है और यह कहा जाये कि इसका कोई अंत नहीं, तो यह अतिश्योक्ति नहीं होगी।

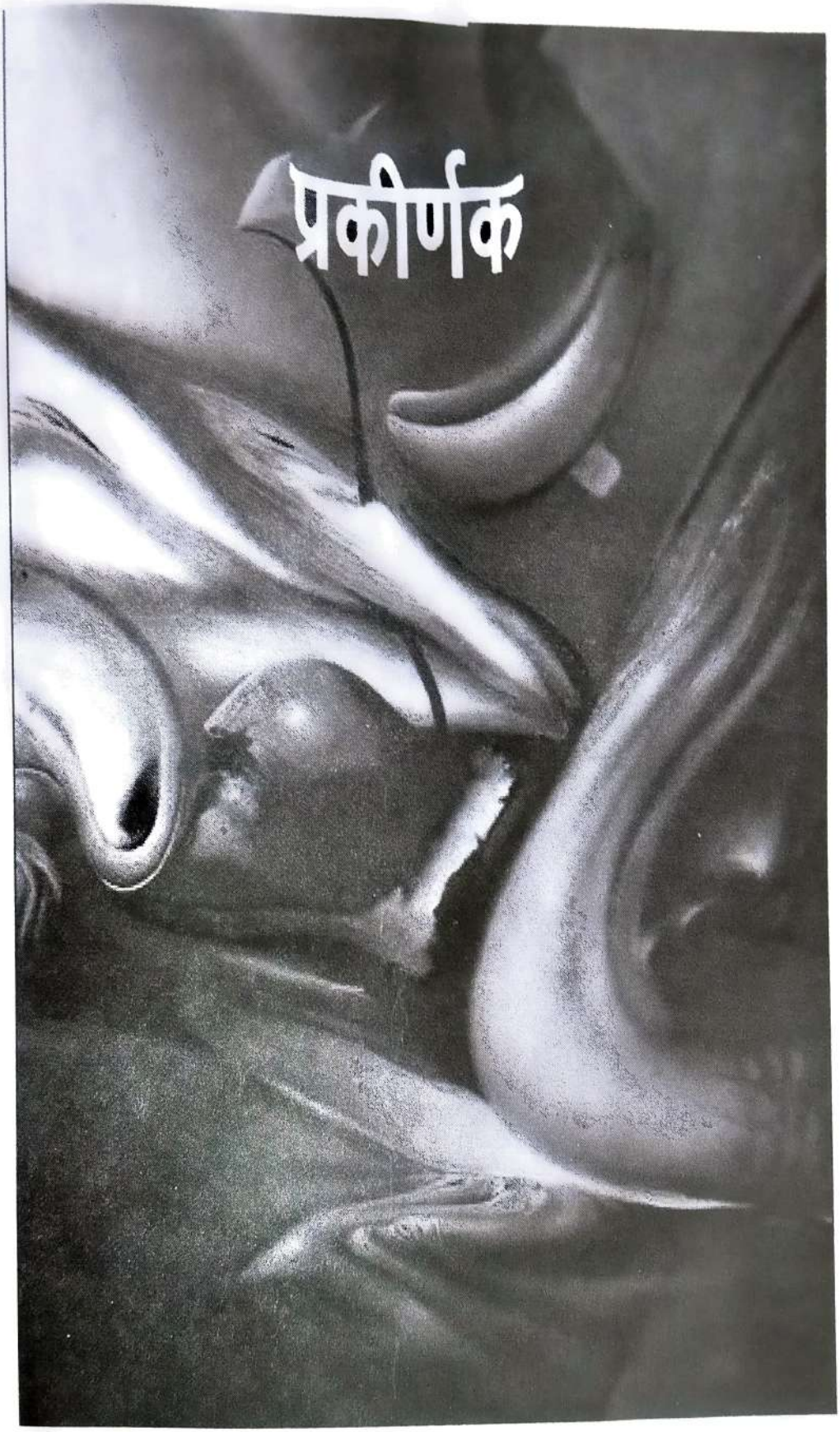
प्रकीर्णक

संगीत और दार्शनिक विधान

डॉ. सीमा वर्मा

असि. प्रोफेसर, संगीत गायन, वसंत कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

भारतीय संस्कृति की सर्वोपरि विशेषता है, जीवन और जगत को देखने का उसका आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण, वस्तु पदार्थ से ऊपर उठकर उसके कारण तत्व का अनुसंधान, क्षणभंगुर जीवन से उठकर शाश्वत निरन्तर अजर-अमर जीवन, व्यक्ति चेतना से ऊपर उठकर विश्व चेतना की अनुभूति और भौतिक सीमाओं से उठकर विश्व का संचालन करनेवाली सार्वभौम शक्ति का अनुसंधान। अपनी इन्हीं उदात्त दार्शनिक चिन्तन के कारण भारतीय संस्कृति ने विश्व संचालन का श्रेय प्राप्त किया तथा विश्व संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित होने का गौरव भी। जीवन के साथ चिन्तन का समन्वय भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है।

दर्शन शब्द का सीधा अर्थ देखने से संबन्धित है। दर्शन अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय। देखने योग्य वस्तु क्या है? कैसी है? इसी जिज्ञासा से दर्शन की उत्पत्ति मानी जाती है 'दर्शन' जीवन को विशेष दृष्टिकोण से देखने की क्षमता है जो उसे व्यवहारिक जीवन की अनुभूतियों से प्राप्त होती है भारतीय चिंतन परम्परा में अनादि काल से यह जिज्ञासा रही है मनुष्य कैसे उत्पन्न हुआ? वह जिसका क्षुद्रतम अंश है, उस जगत की सृष्टि कैसे हुयी? इसका सृष्टा कौन है? जड़ या चेतन्। जीवन का चरम लक्ष्य क्या है? इन समस्त प्रश्नों, शंकाओं के समाधान में ऋषि मुनियों ने अनेक मार्ग खोजे तथा विभिन्न सिद्धान्त स्थापित किये जो विभिन्न दर्शन कहलाये।

वर्तमान समय में दर्शन के पर्याय रूप में 'फिलॉसफी' शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु प्राचीन संदर्भित फिलॉसफी और वर्तमान प्रयक्त शब्द 'फिलॉसफी' में भिन्नता है। प्राचीन अर्थ में फिलासफी के अन्तर्गत विज्ञान भी सम्मिलित था परन्तु आज दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। जगत के भौतिक पदार्थों के विश्लेषण अध्ययन को विज्ञान और उससे प्राप्त सत्यों के एकीकरण या तात्विक अध्ययन को 'फिलॉसफी' कहा जाता है। पश्चिमी विचारधारा में हर विषय, शास्त्र कला की अपनी अलग 'फिलॉसफी' है परन्तु यहाँ हर वस्तु का तत्व भिन्न-भिन्न है, इसीलिये किसी विषय का तत्व खोजना, उसका शास्त्र तथा उन तत्त्वों का मनुष्य के साथ संबंध स्थापित करना उसकी 'फिलॉसफी' मानी जाती है। इसलिये वर्तमान प्रचलित विषयों इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति शास्त्र, आदि सभी अलग-अलग फिलॉसफी हैं, परन्तु भारतीय संस्कृति में किसी भी कलाओं का यदि संदर्भ लें तो इसमें कला को 'मनसत्व' कहा गया है और वह आत्मवत् सर्वभूतेषु के चिन्तन से उत्प्रेरित है।

वह एक ही तत्व की ओर उन्मुख है जिसे सच्चिदानन्द, ब्रह्म, परमात्मा, चैतन्य पुरुष आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। कला मन से मन का अर्थात आत्मा का संवाद है और इस संवाद

का आधार है 'सौन्दर्य' जो शाश्वत है। कला का लक्ष्य है पूर्ण का सृजन करना। इन कलाओं, विद्याओं का साधन मनुष्य शरीर है जिसमें आत्मा का वास है और आत्मा परमात्मा का अंश है इसलिये जीवन के किसी पहलू का अध्ययन अंत में उसी सत्यम् शिवम् सुन्दरम् परम तत्व की ओर अग्रसर करता है। अतः कलाओं में दर्शन का प्रभाव व संबंध स्पष्ट दिखाई देता है, विशेषकार संगीत कला में, क्योंकि भारतीय दर्शन आध्यात्म प्रधान है। उसका दृष्टिकोण धार्मिक है। दर्शन में मोक्ष को आत्मानुभूति, आत्मसाक्षात्कार कहा गया है यह आत्म-साक्षात्कार ही ईश्वर प्राप्ति है और यही संगीत का भी चरम लक्ष्य है। संगीत की अलौकिक अनुभूति ही सच्चिदानंद है। भारतीय दर्शन जिस परमात्मा को परम सत्य कहता है वह भारतीय संगीत में मंगल का मूल और सौन्दर्य की सर्वोच्च स्थिति है। संगीत नाद ब्रह्म रूप में उपासना एवं आध्यात्मिक साधना है और परम सत्य, शिव सुन्दर का मेल भी जिसकी अनुभूति के लिए आत्मा की पवित्र भावभूमि आवश्यक है।

संगीत की गहन सुन्दर अभिव्यक्ति में सत्य का साक्षात्कार होता है। भारतीय विचारधारा में सत्य कोई नीरस व निर्जीव तत्व नहीं हैं, वह कोई जिज्ञासा या शोध का समाधान नहीं है अपितु सत्य-भावना काा परितोष है, सरल है, सुन्दर है, सच्चिदानंद है। भारतीय चिन्तों को ज्ञात था कि सत्य का साक्षात्कार कराने में बुद्धि असमर्थ है। बौद्धिक क्षमता केवल उसके खण्डों का ही ज्ञान करा सकती है। उन्होंने अनुभूति को बुद्धि से ऊपर माना है यही कारण है कि ज्ञान मार्ग की अपेक्षा भारतीय विचारकों ने भक्ति मार्ग को सर्वदा श्रेष्ठ माना है। ब्रह्म के सत्, चित् आनंद, अंशों में से आनंदाश ही भक्तों ज्ञानियों एवं योगियों का अन्तिम लक्ष्य रहा, आन्नद जीवन का परम सत्य परम श्रेय और परम सौन्दर्य का समन्वय है। आनंद का संबन्ध चूंकि भक्ति से है, संगीत से है अतः दर्शन का संबन्ध सदैव संगीत से रहा है। दर्शन व संगीत संबन्ध एकांगी नहीं है जहाँ दर्शन संगीत से संबन्धित है वही संगीत भी दर्शन से प्रभावित है।

इस परम आनंददायक संगीत का मूल कंठ में नहीं वरन् नाद में है। संगीत और शब्द दोनों का मूल स्त्रोत एक ही है स्वर, जो आहत नाद से उत्पन्न होता है। नाद की उत्पत्ति, प्राण और अग्नि के संयोग से होती है। प्राण ब्रह्मग्रन्थि में रहता है वह ब्रह्म इस संपूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, वर्धन और संहार का कारण है। सृष्टि के सृजनकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता ब्रह्मा, विष्णु, महेश, स्वयं संगीतमय हैं। महेश्वर नादरूप हैं उनकी पराशक्ति भी स्वयं संगीत है, नाद रूप है

नाद रुपः स्मृतो बह्म, नादरुपो जनार्दनः।
नाद रुपो पराशक्तिः नादरुपो महेश्वरः॥

नाद तत्व पूर्णतः ब्रह्म-तत्व से अभिन्न है नाद के बिना न स्वर है, न गीत है, न वाद्य है, न नृत्य है। सम्पूर्ण जगत का व्यवहार नाद पर अवलंबित है। जीवन में चेतना का प्रतीक भी स्पंदन रूप 'नाद' है। संगीत में 'नाद' शब्द का ग्रहण और उसके स्वरूप पर विचार 'दर्शन' की भाषा ही किया गया है। संगीतशास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान 'नाद' पर आधारित है।

भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय संगीत का प्राचीनतम उपलब्ध आधार ग्रन्थ है जिसमें प्राप्त पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र पर दर्शन का गहरा प्रभाव है।

शारंगदेव ने भी संगीत रत्नाकर में नाद ब्रह्म से सृष्टि के क्रमिक विकास को सविस्तार बताया है। दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में भी उन्होंने जिन तीन महत्वपूर्ण वस्तुओं पर संगीत कला की नींव रखी है उन्हीं पर

मानव जीवन भी निर्भर है स्वर, लय तथा बोल। स्वर अर्थात् ध्वनि, लय अर्थात् नाड़ी की गति, बोल अर्थात् शब्द जब इन तीनों का अस्तित्व मनुष्य में समाप्त हो जाता है तो मनुष्य मृत कहलाता है। जबकि अन्य अवयव उसमें विद्यमान रहते हैं।

मानव जीवन का सर्वप्रधान लक्ष्य आत्मिक आनंद है, यह लक्ष्य संगीत के अतिरिक्त अन्य किसी माध्यम से प्राप्त होना सम्भव नहीं है। क्योंकि आत्मा इतनी आनंदपूर्ण है जिसका ज्ञान ईश्वर के अतिरिक्त किसी को नहीं, किन्तु आत्मा भी शक्ति संगीत से ही प्राप्त करती है। संगीत में वह आध्यात्मिक शक्ति है जो आत्मा को उन्नति की ओर अग्रसर कराती है भारतीय दर्शन भी आत्मा का उच्च स्वर वही मानता है जहाँ आत्मा परमात्मा में अद्वैत संबंध प्रस्थापित हो। अन्तिम सत्ता में एकरूप, एकाकार होना, अपने को विस्मृत कर देना यही चरम सीमा है। दोनों में ही प्रधान है।

सृष्टि क्रम के संदर्भ में भी स्पष्ट है कि व्यवहार में एक बीज, बीज के अंकुर, अंकुर में वटवृक्ष यही सृष्टि का उत्पत्तिक्रम है। दर्शन में भी सृष्टि की उत्पत्ति का यही क्रम रूप रहा है। अर्थात् एक ब्रह्म उसी से पंचभूतादि विभिन्न तत्त्व तथा उनसे जगत की अनंत सृष्टि। ठीक इसी प्रकार संगीत में भी एक नाद तत्व, उसके विभिन्न रूप सप्तस्वर और उनसे संगीत की अनंत सृष्टि। इस दृष्टि से भी संगीत व दर्शन में अत्यधिक साम्य है।

भारतीय दर्शन का मुख्य विषय है चेतन और अचेतन जगत का निरूपण करना। भारतीय दर्शनों में कुछ में कार्य कारण की प्रधानता है तो किसी में कर्मकाण्ड का निरूपण है तो किसी में ज्ञान तत्व का उद्‌बोधन। संगीत का संबन्ध सभी दर्शनों से है। नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर, स्वर से सप्तक, सप्तक से थाट, थाट से रागा,राग से संगीत की सृष्टि न्याय-वैशेषिक दर्शन के कार्य कारण सिद्धान्त पर आधारित है। मीमांसा में वेदविहित कर्मों से जन्य धर्म का निरूपण है तो संगीत के माध्यम से साधक ईश्वर गुणगान कर धर्म को उपार्जित करते हैं। संगीत का विकास धार्मिक पृष्ठभूमि में ही हुआ है। सामागान से लेकर सूर, मीरा, कबीर, तुलसी के भक्तिमय पदों को गाता हुआ साधक आत्मा से परमात्मा की अतिनिकटता का अनुभव करता है।

एक ओर संगीत का शास्त्र दर्शन से प्रभावित है और दूसरी ओर शास्त्र निरूपण की शैली भी। दार्शनिक प्रभाव से अछूती नहीं रही। दर्शन में पूर्वपक्ष, उसका खण्डन, उत्तर पक्ष और उसका मण्डन-सिद्धान्त प्रतिपादन की यही पद्धति है। मतंग की 'वृहदादेशी' व अभिनवगुप्त की 'अभिनवगुप्त' में इसी प्रकार की पद्धति अपनाते हुये प्रतिपादन किया गया है। मतंगी की वृहदादेशी में 'योगदर्शन' का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है संगीत शास्त्र पर विशेष रूप से योगतन्त्र, न्याय वैशेषिक, सांख्य तथा वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

सांख्य का प्रतिपाद्य विषय है 'सत्कार्यवाद' जो संगीत में भी है यदि किसी मनुष्य में संगीत की त्रिवेणी के संस्कार जन्मजात विद्यमान न हो तो किसी गुरु से क्यों न सीखे परन्तु उसकी सांगीतिक दक्षता असंभव है संगीत साधना भी योग साधना है। योग साधना भी चित्त की वृत्तियों के निरोध में जैसे सहायक होती है वैसे ही संगीत साधना भी वेदांत दर्शन में भी अंतःकरण की पवित्रता संदर्भ आता है। अज्ञानता का आवरण हटाकर ज्ञान का उदय होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होने की बात कही गयी है। संगीत की भी परिणति, सार्थकता, पूर्णता इसी प्रकार के ज्ञान पर निर्भर करती है।

शारंगदेव के 'संगीत रत्नाकार' के स्वरगत प्रथम अध्याय के पिंडोत्पत्ति प्रकरण में पिंड निरूपण, किसी स्थूल भौतिक या वैज्ञानिक आधार पर नहीं

हुआ है। अपितु वेदान्त दर्शन के आधार पर हुआ है। शारंगदेव संगीत के ही नहीं वेदान्त के भी प्रकाण्ड पण्डित एवं आयुर्वेदाचार्य थे। शरीर की महत्ता का वर्णन करते हुये शारंगदेव कहते हैं नाद की उत्पत्ति, धारण और विजय का आधार शरीर है। पुरुषार्थों का साधन भी शरीर है, जन्म जन्मान्तरों के संचित संस्कारों के भोग का उपाय भी यह मानव शरीर है सच्चिदानंद, निराकार, निरंजन परब्रह्म के अंश जीवन का निवास भी इसी नर तन में है और संगीत आदि कलाओं की साधना भी इसी देह द्वारा सम्भव है। देह ही भक्ति-मुक्ति का साधन है, जो आहत नाद के श्रुति स्वर आदि लोकरंजक, भवभंजक उपाय साधन से फलित होता है। सृष्टि, स्थिति और संहार का प्रवाह अनादि है किन्तु परमात्मा जीव और जगत अभिन्न है।

इसी ग्रन्थ में नादोत्पत्ति की विधि 'नाद' शब्द की व्युत्पत्ति, नादभेद, श्रुतिसंख्या बाईस होने का कारण सहस्त्रों वर्ष पूर्व ही यौगिक प्रक्रिया तथा अन्तःप्रेरणा के आधार पर 'दार्शनिक शैली' में प्रतिपादित है। संगीतशास्त्रों में वर्णित है कि आत्मा ध्वनि उत्पत्ति की इच्छा से मन को प्रेरित करती है। मन देह में स्थित अग्नि पर आघात करता है। इस नाद के 22 भेद हैं जो 'श्रुति' कहलाये। हृदय और उर्ध्व नाड़ी से संलग्न बाईस नाड़ियाँ हैं जो तिरछी है और ऊपर की ओर बढ़ते क्रम में उनकी लंबाई घटती जाती है। उनके भीतर के आकाश में वायु द्वारा आघात होने से श्रुतियां उत्पन्न होती हैं। श्रुतियों की संज्ञाये, उनकी सार्थकता, जातियां इन सबका निरूपण मतंग के बाद भी अनेक ग्रन्थों में किया गया है जो योग दर्शन से प्रभावित है।

स्वरों के ब्राह्मणादि तथा श्वेतपीतादि वर्ण, ऋषिदेवादि कुल आदि को बताये जाने में भी वैदिक परंपरा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है जिसमें मन्त्रों के प्रयोग के पूर्व प्रयोग विधि जानने के लिये ऋषि देवतादि का ज्ञान आवश्यक था। स्वर ब्रह्म की उपासना में भी उस विधि का प्रयोग करके संगीत में भी स्वरों के ऋषि-देवता आदि का निरूपण किया गया। वेदांत दर्शन से प्रभावित हो शास्त्र ग्रंन्थों में स्वरों के रंग विशेष का भी वर्णन किया गया है।

'वृहछेशी' ग्रन्थ में मूर्च्छना तानों के नाम जो भी प्राप्त होते हैं वह विभिन्न यज्ञों के नाम पर हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये विश्वास रहा होगा कि विभिन्न यज्ञों को करने से जो फल प्राप्त होते हैं वही फल उन यज्ञों वाली मूर्च्छनाओं से भी प्राप्त होते हैं।

संगीत भारतीय दर्शन का अलंकार है। महान कवि एवं संगीतज्ञ रवीन्द्रनाथ ठाकुर संगीत को पावनकारी शक्ति के रूप में देखते हैं। विश्वरचना का मूल स्वर संगीत को मानते हैं। एक दार्शनिक के रूप में उनके अनुसार समष्टि जगत का यह छन्द और ताल व्याप्ति जगत में जीवन के बहुविचित्र रूपों में प्रकट हो रहा है। संगीत वस्तुतः जीवन धारा हैं। जहाँ कहीं जड़ता है, स्तब्धता है, जीर्णता है, वह विराट जीवन धारा से विच्छिन्न होने का परिणाम है और उसका मूल सृष्टि धारा के अनुकूल चलने वाली संगीत धारा से भी विच्छिन्न है। मोहक संगीत समष्टिगत जीवन प्रवाह के अनुकूल होने के कारण रमणीय है। इसलिये वह जीर्णता की सड़ान को, जड़ की स्तब्धता को झाड़ देता है और पद-पद पर नवीन जीवनी शक्ति को बल देता है। एक गाने में वे कहते हैं 'मेरा जो कुछ फटा पुराना और निर्जीव है, उसके प्रत्येक स्तर पर और भूख पर पड़ने दो अपने स्वर की धारा को'।

भारतीय संगीत घोष और मौन दोनों हैं। इसके मधुर गानमय घोष के द्वारा मौन का सृजन होता है। यह वाह से आह तक की पूर्ण अभिव्यक्ति है। स्वरों का आरोह अवरोह प्राण को झंकृत कर देता है। जिससे एक अद्भुत आनन्द फैलता है। रस की

महोदधि उमड़ती है। सामवेद के उद्गाता और वीणावादक, अनाहत नाद से स्वर मिलाते हैं। नटवर की पायल ब्रह्माणें के स्पन्दन को ताल देती है। संगीत की रस प्राप्ति का क्षण भर का भी ऐसा समाधिकल्प अनुभव मनुष्य को पवित्र कर देता है।

भारत में षड्दर्शनों के समान ही संगीत भी ब्रह्म सम्बन्धी चिन्तन की ओर निरन्तर प्रेरितकर्ता विषय रहा है, इस दृष्टि से भी संगीत का दर्शन से घनिष्ठ संबन्ध रहा है। भारतीय दर्शन के मूल आधार वेद, वाणी की अन्यतम विभूति है। जीवन के मर्म, संगीत के सप्त स्वरों में सहज मुखरित हो उठे हैं। वेद, उपनिषद, गीता सभी संगीत की मधुर ध्वनियों से युक्त है। इनके मन्त्रों व श्लोकों का मधुर काव्य मुनियों तथा मनुष्यों की आत्मा की संगीतमयता का दर्पण है। प्राचीन युग में वायुमंडल सामगान की ध्वनियों से गुंजायमान रहता था। अनेक दार्शनिक ग्रन्थ, रमणीय काव्य व मनोहर पद्यों में है। सुरेश्वराचार्य की 'नैष्कर्म्य सिद्धि' विद्यारण्य स्वामी की 'पंचदशी' शंकराचार्य आदि अनेक दार्शनिकों की अधिकांश कृतियाँ पद्यमय है जिसमें संगीत प्रचुरमात्रा में है।

भारतीय आध्यात्म तथा दर्शन में संगीत को सर्वोपरि माना गया है। तपस्या, कर्म, ज्ञान से भक्ति को श्रेष्ठ मानते हुये नाद की शक्ति को ही पराशक्ति माना गया है स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म का साक्षात्कार भारतीय दर्शन की विशेषता है। इसी वैशिष्ट्य से युक्त परिपूर्ण भावभूमि के कारण हमारे महर्षियों, चिन्तकों (दार्शनिकों) तथा भक्त-समुदाय ने संगीत को पूर्ण आदर दिया। अतः दर्शन के मूल में संगीत का तथा संगीत के तत्वनिरूपण में दर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है।

संगीत में निहित विज्ञान

डॉ वेणु वनिता

असिसटेंट प्रोफसर, बरेली कालेज, बरेली

संगीत और विज्ञान की परिभाषा में वह भौतिक ध्वनि आती है जो किसी भौतिक भव्य में उत्पन्न होती है, किसी भौतिक माध्यम में चलकर कानों तक पहुँचती है और उनके ज्ञान-तन्तुओं को छेड़ती है, जिससे मस्तिष्क उसका अनुभव करता है। कुछ ध्वनियाँ कानों को खास तौर से प्रिय मालूम होती हैं, जैसे- बाँसुरी की आवाज या तारों की झनकार। ऐसी ध्वनियों को संगीत ध्वनि या नाद कहते हैं। ध्वनि की उत्पत्ति भव्य के कम्पन से होती है। गीत संचार एवं ध्वनियाँ भावनाओं पर सीधे प्रभाव डालती हैं। रूसी वैज्ञानिकों और संगीतज्ञ डॉ. बेरिविनिस्की ने अपने प्रयोगों से यह पाया कि कुछ रागात्मक बन्दिशों से अनिभा दूर हो गई। यह भी पाया गया कि ये बन्दिशें रोगियों के दर्द को घटा देती थीं। संगीताचार्यो ने कंठ नाद के भेद-कफ, वात, पित्त के आयुर्वेद सिद्धान्त पर स्थिर किये हैं। कफ की आधिकता से उत्पन्न नाद, श्रुति स्वर पर शब्द स्निग्ध, गुरू, गाम्भीर्य, युक्त स्थिर तथा मधुर होता है। पित्त की अधिकता से उत्पन्न नाद तीव्र सुनाई पड़ता है। इस प्रकार के नाद को "नारट" कहते हैं। वात का आधिक्य होने पर स्नेह और माधुर्य रहित ऊंची आवाज सुनाई दती है। ध्वनि के द्वारा ही विभिन्न भावों को प्रकाशित किया जा सकता है और विभिन्न भावों को प्रकाशित किया जा सकता है और विभिन्न भावों को प्रकाशित करने वाली ये ध्वनियाँ ही संगीत से प्रयुक्त स्वरों का रूप धारण करती है और फलस्वरूप संगीत में सात प्रधान स्वर्ड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, एवं निषाद को जन्म देती हैं। ध्वनि के विषय में कहा गया है कि - " Sound is the effect on the ear of a wave like motion of an elastic medium caused by vibration. The vibrations impringe on the ear of a human being or animal and set up a nervous disturbance which we callsound.' ध्वनि एक प्रकार की ऊर्जा है जो यांत्रिक ऊर्जा का रूपान्तर मात्र है। ध्वनि ऊर्जा में ही कार्य करने की क्षमता होती है। ध्वनि अपने आप में एक शक्ति है। जिन ध्वनियों को हम कानों से सुन सकते हैं, वे ध्वनियाँ हमें विभिन्न प्रकार से प्रभावित करती हैं। जैसे- निन्दा सुनकर हमें क्रोध आता है एवं प्रशंसा सुनकर प्रसन्नता होती है। सांगीतिक ध्वनि प्रवाह से मनुष्य की समग्र चेतना प्रभावित होती है एवं उसके कंपन अंतरिक्ष में फैले परिस्थितियों को भी अनुकूल बनाते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक युग में प्रत्येक ध्वनि को चित्रित किया जा सकता है। ध्वनि कंपन के इस चित्रण को 'स्पेक्ट्रोग्राफ' कहते हैं। हम लोग जो कुछ भी बोलते हैं, उन शब्द तरंगों को टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों के रूप में 'स्पेक्ट्रोग्राफ' दर्शाता है। संगीत जगत भी इन ध्वनि तरंगों को चिकित्सा क्षेत्र में प्रयोग कर रहा है। संगीत वस्तुतः ध्वनि प्रवाह का ही उत्कृष्ट क्रम है। उसकी शक्ति शब्द व ध्वनि में निहित है।

आरोग्य के लिए हम जिस ध्वनि का प्रयोग करते हैं, वह कंपन-तरंगे, मंत्र-चिकित्सा के अन्तर्गत भी आता है। मंत्र-चिकित्सा में शब्द एवं ध्वनि का अद्‌भुत सांमजस्य होता है, जो चमत्कारी प्रभाव उत्पन्न करता है। अतः संगीत का माध्यम ध्वनि है और संगीत के क्षेत्र में ध्वनि को नाद कहते हैं। संगीत मे नाद की तीन विशेषताएं होती हैं-

1. तरता 2. तीव्रता 3. गुण

1. तारता- जो आवाज महीन होती है उसे गवैया ऊँचा स्वर कहता है और जो आवाज मोटी होती है उसे नीचा स्वर कहता है। नाद की एक दूसरे की अपेक्षा इस नीची-ऊँची स्थिति को ही तारता कहते हैं। यह तारता केवल कानों का ही अनुभव नहीं है, यह जिस वस्तु के कम्पन से स्वर निकलता है उसका भौतिक धर्म है। अनेक प्रयागों से ये सिध्द किया जा सकता है कि स्वर की तारता स्वरोत्पादक वस्तु की आवृत्ति पर निर्भर है। आवृत्ति जितनी अधिक होगी स्वर उतना ही ऊँचा होगा।

2. तीव्रता- नाद की दूसरी विशेषता तीव्रता है। तीव्रता से मतलब आवाज के जोर से है। यदि किसी तार को धीरे से छेड़ें तो धीमें आवाज निकलेगी और यदि जोर से छेड़ें तो आवाज जोर से निकलेगी। जैसे- तारता के लिए कान की क्षमता की एक सीमा होती है, वैसे ही तीव्रता के लिए भी एक सीमा होती है। तीव्रता का माप भी उतना सरल नहीं है जितना तारता का फिर भी वैज्ञानिकों ने इसकी जॉच की है और आज भी कर रहें है।

3. गुण- नाद की तीसरी विशेषता गुण है। हम यह देखतें हैं कि एक व्यक्ति की आवाज दूसरे की आवाज से नहीं मिलती, एक यन्त्र का स्वर दूसरे यन्त्र से नहीं मिलता। जहाँ दस तरह के बाजे बज रहे हों, वहाँ सभी के स्वरों की तारता एक होने पर भी तबले की आवाज, सितार के स्वर, इसराज के स्वर आदि सब अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं। स्वर की इस विशेषता को ही नाद का गुण कहते हैं। तारता और तीव्रता की तरह गुण के भी भौतिक आधार है।कई प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि स्वर के गुण के विश्लेषण के आधार सच्चा है। यदि वैज्ञानिक रीति का उपयोग किया जाय तो अनेक बाजों का स्वर, इष्ट आवर्तकों के मेल से या अनिष्ट आवर्तकों को दूर करके मधुर और प्रिय बनाया जा सकता है।संगीत में ध्वनि से सम्बन्धित और भी बाते हैं जिन्हें जानना आवश्यक है।

ध्वनि का अनुरणन (Reverberation):- जब किसी बड़े कमरे में कोई ध्वनि या नाद उत्पन्न होता है तो नाद के बन्द हो जाने के पश्चात् एक गूँज सी उत्पन्न होती है। वह नाद के संक्षिप्त परावर्तन के कारण वास्तविक गुँज (Echo) अर्थात गूणज प्रतिध्वनि से कम होती है। ऐसा मालुम होता है जैसे उच्चरित नाद खिंचकर कुछ लम्बा सा हो गया है। नाद के वास्तविक उच्चारण के तत्काल बंद होने के बाद भी वह ध्वनि हमें सुनाई पड़ती है। दीपावली पर घर को रंग करने के लिए जब कमरे के अन्दर से सामान बाहर निकाल दिया जाता है तो बातचीत करते समय इस नाद को हम स्पष्ट रूप से सुन सकते हैं, इसे ही नाद का अनुकरण कहते हैं।

अनुनाद (Resonance) - जब कोई वस्तु किसी बाह्य श्रोत से प्रेरित होकर स्वयं कंपित होने लगती है तो इस क्रिया को अनुनाद कहते है। उदाहरण के लिए - यदि आपने सितार में जोड़ी के तारों को एक स्वर में मिला लिया है तो किसी एक तार पर छोटा सा कागज का टुकड़ा मोड़कर रख दीजिए। अब दूसरे तार को बजाइए आप देखेंगे कि जिस तार पर कागज का टुकड़ा रखा है, वह तार भी झनझनाने लगेगा और फलस्वरूप कागज का टूकड़ा तार से अलग जा पड़ेगा। इसी अनुनाद के सिध्दान्त पर कई भारतीय तार-वाद्ययंत्र बनाए गये है। जैसे- वीणा, सितार, इसराज, सरोज, इत्यादि। इन वाद्यों में प्रधान तारों के साथ-साथ बगल में और भी अनेक तार

लगे रहते हैं। इन तारों को "तरबें" कहते हैं। ये तरबें राग में लगने वाले स्वरों के अनुसार मिलाई जाती है। वादन करते समय जब वे स्वर बजते हैं तो ये तरबें स्वतः अनुनाद के सिध्दान्त के कारण ध्वनि देने लगती हैं। इस प्रकार जो संयुक्त स्वर उत्पन्न होता है उससे स्वर की तीव्रता और मधुरता बढ़ जाती है। मानव शरीर में ध्वनि उत्पादक स्थान को विज्ञान में Larynx (स्वरयन्त्र) का नाम दिया गया है। ध्वनि उत्पादन में मुख्यतया उपयोग में मस्तिष्क, ध्वनियन्त्र, कर्णयन्त्र, और फेफड़े ही आते हैं। इनमें से मस्तिष्क अपने ज्ञान तन्तुओं द्वारा सम्पूर्ण शरीर को कार्य करने की आज्ञा देता है। गायन के समय मस्तिष्क फेफड़े को नियमित वायु, शरीर के विभिन्न अंगों को जो ध्वनि उत्पन्न करने में सहायक होते है उन्हें देने की आज्ञा देता है। पूरी श्वास प्रणाली अपनी मांस पेशियों सहित उदर से नाक तक ध्वनि पैदा करने में सहायक होती है। परन्तु इनमें स्वरयन्त्र का महत्वपूर्ण अंश रहता है।

" The Larynx is the body's voice box, containing the vocal cords, which vibrate to produce speech'

स्वरयन्त्र शरीर से ध्वनि पैदा करने वाला यन्त्र है, जिसमें स्वरतन्तु आन्दोलित होने वाली ध्वनि पैदा होती है। स्वरयन्त्र ग्रीवाके मध्य में श्वास नली के ऊपर सिरे में, गले के पिछले अदृश्य भाग में स्थित है। उसके ऊपर एक उपजिह्वा रहती है, जो स्वरयन्त्र के लिए कपाट का काम करती है। उपजिह्वा मस्तिष्क द्वारा नियन्त्रित होती है। स्वरयन्त्र के भीतर स्वर तन्तु सुषिर वाद्य क्लेरिनेट में रीड या पत्ती का काम करते हैं। बोलने से स्वरतन्तु आन्दोलित होते हैं, तब ध्वनि उत्पन्न होती है।

संगीत और विज्ञान का पारस्परिक संबध होना स्वाभाविक है। संगीत में गायन, वादन, और नृत्य तीनों ही शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा व्यक्त किए जाते हैं। अंगो की सहायता के बिना किसी प्रकार की संगीतोत्पत्ति संम्भव नहीं है। संगीत एक उच्च कोटि की कला है तथा इसके माध्यम से कलाकार और श्रोता दोनों मस्तिष्क से प्रभावित होते हैं, तभी वास्तविक कला का सृजन होता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. सिंह प्रो. ललित किशोर, ध्वनि और संगीत, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, छठा संस्करण 2004
2. बसन्त, विशारद, संगीत कार्यालय हाथरस, 25वां संस्करण 2004
3. मिश्रा डॉ. अरूण, भारतीय कंठ संगीत और वाद्य संगीत, कनिष्का पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002
4. शर्मा प्रो. स्वतंत्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत, अनुभव पब्लिशिंग हाउस इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2010

योगतत्व एवं संगीत तत्व में साम्यता - एक अध्ययन

निधि श्रीवास्तव

संगीत शास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

योगसाधना व संगीत साधना की प्रक्रिया में भेद होते हुए भी दोनों में कुछ साम्य दिखाई पड़ता है। मूलभेद तो यही है कि योगसाधना, अनाहत नाद की साधना है। जबकि संगीत साधना आहत नाद की, परन्तु साध्यता की दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो कदाचित कुछ विशेष तथ्य प्रकट होते हैं। जिन पर विचार करने से पूर्व संगीतज्ञ अर्थात वाग्गेयकार तथा गायक की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक हैं। वाग्गेयकार के लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार अभिव्यक्त किए गए हैं-

'मातु' और 'धातु' अर्थात् गद्य रचना व पद्य रचना का, व्याकरण-शास्त्र का, साहित्यशास्त्र में निर्दिष्ट रस भाव का तथा अलंकारों का ज्ञाता हो। भिन्न-भिन्न देशों से रीति रिवाजों व उन की भाषा को जानते हुए संगीत शास्त्रों का ज्ञान रखता हो। गीत वाद्य व नृत्य में चतुर हो। सरलता से रागों की अभिव्यक्ति में समर्थ हो। लय, ताल, कलाओं का ज्ञाता हो। काव्य प्रयोग का ज्ञान रखता हो। प्रतिभावान, सुखद गायन करने में दक्ष, देशी रागों का ज्ञाता व वाक् पटु हो। रागद्वेष **योगतत्व एवं संगीत तत्व में साम्यता - एक अध्ययन** का परित्याग करके उचित अनुचित का ज्ञान रखता हो। स्वतंत्र रूप से नवरचना निर्मित में सक्षम हो। प्रबन्धों का ज्ञाता हो व शीघ्रता के काव्य रचना करने वाला हो। तीनों स्थानों में गमक लेने में निपुण हो। रागालप्ति व रूपकालप्ति में निपुण हो व चित्त की एकाग्रता के गुण से सम्पन्न हो।

गायक के गुणों के अन्तर्गत निम्न गुणों का निमेश हैं-

हृद्यशब्द - मधुर व सुरीली आवाज

सुशरीर - बिना परिश्रम रागाभिव्यक्ति करने के गुण -धर्म से सम्पन्न

गूढ़गीतक्रियाविचक्षण - राग लक्षणों को जानने वाला

रागरागांगकोविदः - रागांग क्रियांग भाषांग उपांग आदि प्रकारों का ज्ञाता।

प्रबन्धगाननिपुणात - प्रबन्ध गान में निपुण

विविधालप्तिलक्षवित्- भिन्न प्रकार की आलप्ति का ज्ञाता

सर्वस्थानोच्चगमकैश्वना -सब स्थानों में व उच्च प्रकार की गमकों में

मासलसद्गति - सहज की गति वाला

आयत्तकण्ठः - स्वाधीन कंठवाला

तालज्ञः - ताल का ज्ञाता

सावधान - एकाग्रचित हो सावधानी से गाने वाला

जितश्रम - गाते समय परिश्रम का अनुभव न करने वाला

शुद्धछायालगाभिज्ञः -शुद्ध छायालग आदि राग भेदों को जानने वाला।

सर्वकाकुविशेषवितः -सब प्रकार के काकु प्रयोग का ज्ञाता

सर्वदेशविवर्जितः -सब प्रकार के दोशों से मुक्त

क्रियापरः - अभ्यासी हो

अजस्रलयः - लय में निपुण हो

सुफटः - सुन्दर हो

धारणान्वितः - धारणावान् हो

स्फूर्जन्निर्जवनः - मेघ गर्जन के समान गम्भीर कंठ ध्वनि वाला।

हरिरिह कुधजनोद्धुरः - श्रोताओं को मोह लेने वाला।

सुसम्प्रदाय - अच्छे वर्ग या सम्प्रदाय से सम्बद्ध अथवा उच्च श्रेणी गुरू परम्परा से सम्बन्धित हो

वाग्गेयकार तथा गायक के उपर्युक्त गुणों में कुछ ऐसे गुण हैं जो कलाकार की वैयक्तिक प्रतिभा से अर्थात् ईश्वर प्रदत्ता प्रतिभा से समबन्धित है, परन्तु कुछ गुण ऐसे हैं जिन्हें साधना से परिपुष्ट किया जा सकता है। स्वर की मधुरता, सुशरीर अर्थात् कण्ठध्वनि का लचीलापन, आयत्त कण्ठ, अजस्त्र, लयता, सुन्दरता आदि गुणों का सम्बन्ध मूलतः शरीर, कण्ठ व कण्ट तन्त्रियों से है। यह गुण जन्मजात भी होते हैं और गम, नियम आसन व प्राणायाम, द्वारा भी सिद्ध किए जा सकते हैं, क्योंकि आधारभूत में विद्यमान यह शारीरिक गुण उचित साधना से विकसित एवं संवर्धित किए जा सकते हैं।

गायक को एकाग्रचित व सावधान होना चाहिए। यह दोनो वृत्तियाँ मस्तिष्क से सम्बन्धित है। धारणा से क्षमता, अभ्यास में दक्षता, तथा जितश्रम अर्थात् परिश्रम करने पर भी थकान का अनुभव न हो यह मानसिक गुण तब तक संभव नहीं है। जब तक मन की चंचलता को वश में न किया जाए। इस वशीकरण से लिए ध्यान तथा अभ्यास की आवश्यकता हे। मन की एकाग्रता के लिए प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान व धारणा इस योग के अंग उक्त गुणों से ही सम्बन्धित है।संगीत ज्ञान के अभाव में सुन्दर शरीर, मधुर कण्ठ व चित्त एकाग्रता होने पर भी अभ्यास का लक्ष्य पूर्ण नहीं होता। अतः स्वर साधना द्वारा ही योग्य शुरू से प्राप्त किया हुआ ज्ञान फलीभूत होता है। संगीत सम्बन्धी नियम राग रागांग आदि का ज्ञान, प्रबन्ध आदि गेय विधाओं का ज्ञान, गमक, काकु आदि का प्रयोग संगीत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने से ही सम्भव है। अतः जिस प्रकार योगी को गुरू के मार्ग दर्शन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार संगीत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए योग्य गुरू के मार्ग निर्देशन व अभ्यास की आवश्यकता होती है।संगीत साधना में मनोविज्ञान का पक्ष बहुत प्रबल है।सम्भवतः इसी की प्रबल प्रक्रिया से संगीत मानव के नैतिक विकास का साधन बनता है। जीवन के बाह्य सौन्दर्य का आकलन मस्तिष्क के माध्यम से किया जाने के उपरान्त जब यही सौन्दर्य अपने उत्कृट रूप में अस्वादक को लौकिक से अलौकिक की ओर आकृट करने लगता है तथा आस्वादक की आस्वादन क्षमता एवं कलाकृतिगत सौन्दर्य या सांगीतिक सौन्दर्य का समागत मानव को लौकिक से अलौकिक अनुभूति की ओर ले जाने वाले सोपान के रूप में उपस्थित होता है तो तन्मयता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस समय आत्मा सांसारिक विषय बोध से हटकर नाद ब्रह्म में बिलीन होने जैसी स्थिति में यदि आ जाए तो वह स्थिति सविकल्प समाधि के समकक्ष कही जा सकती है जहाँ केवल आत्म ज्योति ही प्रकाशित दिखाई पड़ती है। संगीत के प्रधान अंग गीत के माहात्म्य को दर्शाते हुए कहा गया है-

तस्य गीतस्य माहाऽऽत्म्यं के प्रशंसितुमीशते।
धर्मार्थकाममोक्षणमिदमेवैकसाधनम्।।

अर्थात् भगवद् भजन से धर्म, राजाओं व प्रभुओं से मिले सम्मान के रूप में अर्थ, अर्थ के काम तथा अन्ततः मोक्ष प्राप्ति का यही एक मात्र साधन है। कला कोई भी हो उसका उद्देश्य मानव मन को अमूर्त मनोभावों को मूर्त रूप देना तथा उसका लक्ष्य जीवन को सौन्दर्यमय बनाना एवं सौन्दर्य के प्रति आकृट करके धीरे-धीरे चरमोत्कर्ष की ओर ले जाकर दिव्यता के दर्शन कराते हुए मानव का आत्मिक उत्थान करना ही है। आत्मचेतना की जागृति के लिए स्वर साधना द्वारा उत्पन्न आकर्शण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर आधारित है। आचार्य अभिनव गुप्त अभिनव भारती में कहा है-

'इह येयं प्रथम मेन संवित्स्पंदेन प्राणोल्लासनया वर्णादिरूपविशेषहीनावाग् जन्यते, सा नादरूपा सती हर्षशोकदिचित्तवृत्ति विधिनिशेधाद्यभिप्रायं वा तत्कार्यालिंग

तथा वा तादात्म्येन वा श्रुत्यन्तादि गमयतीति तावत् स्थितम्। तथा च प्राणयन्तरस्य मृगसारमेयाद्देरपि नादमांकर्ण्यमयशेषशोकादि प्रतिपद्यते,

तदयं नादाच्चित्तवृत्याद्यय गमोऽनुमानं यावत्।

अर्थात् चेतना के प्रथम स्पन्दन से प्राणवायु की उल्लासना के फलस्वरूप आकर इत्यादि वर्णों के रूप विशेष से ही जो वाक् उत्पन्न होती है वह नादरूप रहकर हर्ष, शोक इत्यादि चित्तवृत्तियों का अथवा विधि निशेध इत्यादि अभिप्राय को उस कार्य के बोधक चिहत्व (संकेत्व) के अथवा तादात्म्य के कारण श्रुति (ध्वनि तरंग) के अन्त एवं आदि से युक्त कर देती है। मृग, श्वान आदि अन्य प्राणियों के नाद को सुनकर भी उनके हृदय में स्थित भय, रोश शोक आदि का प्रतिपादन हो जाता है। फलतः नाद से चित्तवृत्ति का अनुमान स्वयं सिद्ध है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि संगीत की साधना योग साधना से पर्याप्त साम्यता रखती है। संगीत की साधना के लिए भी अष्ट योगांग का पालन करने से ही साधक में आन्तरिक भावात्मक पवित्रता, धैर्य, लगन, इन्भियों पर संयम तथा एकाग्रचित होने की क्षमता आती है। प्राणायाम आदि से दीर्घ श्वास धारण करने की क्षमता आती है जो गायन में संगीत का धारा प्रवाह बनाए रखने के लिए अनिवार्य तत्व है। इस प्रकार के सात अंग जिस प्रकार समाधि की अवस्था तक पहुंचने की पूर्वपीठिका का कार्य करते हैं उसी प्रकार संगीत साधना में भी समाधि को छोड़कर शेष सात अंग संगीत को चरमोत्कृष्ट अवस्था तक पहुंचाने में सहायक होते हैं।मनोविज्ञान को यदि विज्ञान के अंग के रूप में स्वीकार करते हुए विचार किया जाए तो उसके तीन उपभेद सामने आते है-

(1) Philosophical (दार्शनिक)

(2) Physiological (दैहिकी)

(3) Psy chological (मनोविश्लेषणात्मक)

प्रथम उपभेद के अन्तर्गत संगीत साधना के सन्दर्भ में किया गया पूर्व विवेचन समाविष्ट हो जाता है। स्वर साधना से मस्तिष्क पर संगीत का प्रभाव सहज रूप गहरा होता जाता है। उस प्रभाव पूर्णतः भावविभोर हो जाने के उपरान्त ही स्वर के वास्तविक आनन्द में मग्न होकर सहृदय या साधक थोड़ी देर के लिए बाह्य संसार से विच्छिन्न होकर धीरे-धीरे असीम रस के आनन्द में लीन हो जाता है इस अलौकिक आनन्द को ही संगीत साधना का वंछित तत्व तथा लक्ष्य माना गया है।

संगीत द्वारा दिव्यता की प्राप्ति, आत्म परमात्मा के सम्बन्ध को समझाते हुए स्वर सौन्दर्य के प्रति असक्ति, राग व रस के सम्बन्ध का अनुभव करते हुए अलौकिक आनन्द की प्रप्ति, आत्मचेतना की जागृति, रस के किस भी रूप का आनन्द उठाते हुए भी उसकी परमात्मा के साथ एकरूपता का अनुभव करना आदि यही संगीत का दार्शनिक व आध्यात्मिक (Philosophical) पक्ष है।

मनोविज्ञान का दूसरा रूप है दैहिकी (Phylosophical)। इसमें मस्तिष्क के संवेदना संस्थान तथा व्यवहार के विज्ञान का अध्ययन प्रमुख है। यह शाखा संगीत संरचना से सम्बद्ध है। राग गाते समय स्वर समुदायों का संगठन, स्वरों का चयन, राग व ताल निर्धारण, स्वर, शब्द व ताल को एक दूसरों के साथ गूंथ कर उत्पन्न प्रभाव के संवेदना द्वारा अनुभव करके वांछित रस के उपयुक्त बनाना तथा स्वर की दिव्यता का अनुभव करके उसे इतना प्रभावशाली बना देना कि सहृदय भी प्रस्तुत भावों का उसी रूप में आस्वादन कर पाए, संगीत का यह पक्ष मनोविज्ञान के इस उपभेद के अन्तर्गत सम्मिलित है। इस सन्दर्भ में आचार्य वृहस्पति का कथन इस प्रकार है-

'गीत की सृष्टि करते हुए गायक या वादक जिन भावों की अभिव्यक्ति करता है, वे वास्तविक भावों के अभिनय ही होते हैं। करूण भावों की अभिव्यक्ति के समय कलाकार लौकिक रूप से पीड़ित नहीं होता। फलतः स्वरों द्वारा भावों का

अभिनय करते समय कलाकार की स्थिति अभिनेता से भिन्न नहीं होती। हाँ अभिनेता की अपेक्षा उनके पास साधन सीमित होते हैं। गायक सार्थक शब्दों का आश्रय लिए बिना ही स्वर संचालित शुष्काक्षरों के अथवा आलाप द्वारा भावाभिव्यक्ति करता है। उसकी कंठध्वनि अनुकूल काकु से युक्त होती है और उसकी मुभाएं भावानुकूल होती जाती है परन्तु वह अभिनेता के समान पात्र विषेश के वेश इत्यादि से युक्त नहीं होता।

प्राचीन ग्रन्थकारों ने संगीत द्वारा होने वाली रसाभिव्यक्ति का शारीरिक संरचना से जो सम्बन्ध बताया है उसके अनुसार ब्रह्मग्रन्थि स्थित वायु के ऊपर उठकर नाभि, हृदय, कंठ, मूर्धा व मुख में आघात द्वारा प्रकट प्रथमक्षणवर्ती श्रवण योग्य ध्वनि को ही श्रुति कहा है। ऐसा विश्वास किया गया है कि हृदय में सुशुम्ना नाड़ी के साथ-साथ 22 अन्य नाड़ियाँ हैं जिनमें होने वाले वायु के दबाव के कारण श्रुति की तारता उत्तरोत्तर उच्च होती जाती है। इसी प्रकार नाद, श्रुति, स्वर, स्थान आदि का विशद् विश्लेषण करके ग्रन्थकारों ने ध्वनि उत्पत्ति के सिद्धान्त के शरीर के साथ सम्बद्ध किया। आधुनिक समय में पूर्वप्रस्थान सिद्धान्त मनोवैज्ञानिकों को मान्य है अथवा नहीं, वैज्ञानिक प्रयोगों से वह प्रमाणित होते हैं अथवा नहीं, यह पृथक् से शोध का विषय है।

अस्तु, मनोविज्ञान की तीसरी शाखा मनोविश्लेषण (Psychology) है जिसका सीधा सम्बन्ध मानव की ज्ञानात्मक वृत्तियों तथा रागात्मक शक्तियों से है। संगीत इन वृत्तियों शक्तियों को निश्चित रूप से प्रभावित करता है। कारण है कि सन्त पुरूषों तथा सभी धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा संगीत को परम पवित्र कल्याणकारी तथा भक्ति की साधना स्वीकार किया गया। संगीत की इसी प्रभावोत्पादक क्षमा का लाभ उठाकर संगीत की अर्वाचीन काल में चिकित्सात्मक रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा है। सामान्य रूप से देखा जाता है कि किसी बात से मन दुःखी होने पर भक्त्यात्मक संगीत सुनने से मन को शांति मिलती है। उत्तेजना व उत्साह के समय उल्लासपूर्ण या राष्ट्रीय चेतना, जागृति करने वाला या श्रम संबंधी प्रसंगों से युक्त संगीत मन की और अधिक उत्साही बना देता है। हृदय की कोमल भावनाओं को जागृत करने में श्रृंगारिक संगीत अधिक सहायक होता है। अतः संगीत हृदय में तरंगति होने वाले भावों से है उत्पन्न होता है वह पुनः मन मस्तिश्क को ही सन्तुष्ट करता है।भावों की अभिव्यक्ति को मनोवैज्ञानिक भाषा में व्यवहार कहा जाता है अर्थात् भावभिव्यक्ति का प्रदर्शन ही व्यवहार है। स्थूल भावों का प्रदर्शन साहित्य या वाद-विवाद से किया जा सकता है परन्तु भावों की 'सूक्ष्म' अभिव्यक्ति का श्रेश्ठ साधन संगीत को ही स्वीकार किया गया है।

संदर्भ ग्रन्थ

1- शर्मा,मृत्युंजय,संगीत मैनुअल ,एच. जी. पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

2- शरण, पं. भगवत, संगीत निबन्ध मंजरी, प्रकाशक रविशंकर शर्मा, रामपुरी खुर्जा, प्रथम संस्करण 1993।

3- महाजन, डॉ. अनुपम, भारतीय शास्त्रीय संगीत एवं योग सौन्दर्यशास्त्र, हरियाणा साहित्य अकादमी चण्ड़ीगढ़।

4- श्रीवास्तव,डॉ. संगीता, संगीत चिकित्सा, डी. जी. पी. जी. कालेज, कानपूर, प्रथम संस्करण, 2010।

5- उप्पल, श्रीमति सविता, संगीत शिक्षण और मनोविज्ञान,प्रकाशक मॉडर्न बुक हाउस चंडीगढ़ प्रथम संस्करण, 2005।

योग और नाद योग अन्तः सम्बन्ध

डॉ. चन्द्रजीत वर्मा

गायन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मंत्र को शब्द ब्रह्म और संगीत को नाद ब्रह्म कहा गया है। स्पष्ट है कि संगीत की उत्पत्ति नाद से होती है। आध्यात्म क्षेत्र में इस नाद को ब्रह्म का स्वरूप माना गया है और इसे **"शब्दब्रह्म - नादब्रह्म"** कहकर अभिहित किया गया है। गायन को एक प्रकार का **योगाभ्यास** एवं वक्ष तथा कण्ठ संस्थान के समीपवर्ती अवयवों का महत्वपूर्ण **व्यायाम** माना गया है। भारतीय संगीत शास्त्र के आचार्यों के अनुसार गायन में आवाज नाभिकेन्भ से उठती है ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है, तालू, कण्ठ, फुफ्फुस, हृदय, अमाशय, यकृत एवं आँतों को प्रभावित करती हुई-एक गति चक्र बनाती हुई पुनः अपने उद्गम स्थान नाभि तक पहुँचती है। यह गतिचक्र अपने प्रभाव क्षेत्र के सभी अवयवों का न केवल व्यायाम प्रयोजन पूरा करती है, वरन् उनमें प्राण वायु का अतिरिक्त अनुदान भी देती है। गायन की तीन लय हैं- भुत, विलम्बित, मध्यमाभुत अर्थात् तीव्र गति का गायन। इसमें जीभ, कण्ठ, वक्ष और हृदय का विशेष व्यायाम होता है।

पंतजलि पूरब की गूढ़ रहस्यवादिता के सूर्य हैं। वे जीवन को जीने के-समग्रता में जीने के पक्षधर हैं, जीवन-विरोधि नहीं। सच्चे समग्र जीवन को जीने की कला सीखाते हैं। चिन्तन-मनन ध्यान नहीं है। इनमें बड़ा भेद है और केवल परिमाणात्मक ही नहीं बल्कि गुणात्मक भेद है। वे भिन्न धरातललों पर अस्तित्व रखते हैं। उनके आयाम बिलकुल ही भिन्न होते हैं; केवल भिन्न ही नहीं, बल्कि एक दम विपरीत होते हैं। यह पहली बात है समझ लेने की; चिंतन संबन्ध रखता है किसी बिषय वस्तु से यह दूसरे की ओर जाती चेतना की एक गति है। चिन्तन बर्हिमुखी ध्यान है, परिधि की ओर बढ़ता हुआ, केन्भ से दूर होता हुआ। ध्यान है केन्भ की ओर बढ़ना, परिधि से दूर हटना, दूसरे से दूर होना। चिंतन लक्षित होता है दूसरे की ओर, ध्यान लक्षित होता है स्वयं की ओर। चिंतन में द्वैत विद्यमान होता है। वहीं दो होते हैं, चिंतन और चिंतनगत। ध्यान में केवल एक ही होता है।

ध्यान के लिये अंग्रेजी शब्द **'मेडिटेशन'** बहुत अच्छा नहीं है। यह **'ध्यान'** या **'समाधि'** का वास्तविक अर्थ नहीं देता, क्योंकि **'मेडिटेशन'** शब्द से ही ऐसा प्रकट होता है कि तुम किसी चीज पर ध्यान कर रहे हो। **'पंतजलि'** कहते है कि विषय के साथ बहुत सारी संभावनाएं होती है। तुम विषय के साथ संबन्ध में जुड़ सकते हो । बौद्धिक प्राणी के रूप में; तुम तार्किक रूप से भी विषय के बारे में सोच सकते हो तब पंतजलि इसे नाम देते हैं इसवितर्क समाधि। सामान्यतः मनुष्यों को जल, भाप, अग्नि, विद्युत, वायु, गैस आदि की शक्ति का तो अनुभव हुआ करता है, परन्तु **'शब्द'** में भी कोई ऐसी शक्ति होती है, जो स्थूल पदार्थों पर प्रत्यक्ष प्रभाव डाल सके, इस पर उनको शीघ्र विश्वास नहीं होता। वे यह तो मान सकते हैं कि मधुर शब्दों से

स्रोता का चित्त प्रसन्न होता है, कठोर शब्दों से विपण्णता उत्पन्न होती है, भाव युक्त संगीत लहरी से हृदय का तार-तार झनझना उठता है, वीरतापूर्ण गीत जब आवेश युक्त स्वर में गाया जाता है तो सैनिक मारने-काटने को उछलने लगते हैं। पर ये सब ऐसे भावात्मक प्रभाव हैं, जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से नहीं कर सकता। कोई भी करूणोत्पादक गीत कोमल और कठोर हृदय वाले दो भिन्न व्यक्तियों पर एक सा प्रभाव नहीं डाल सकता। सूफी परंपरा में नृत्य का प्रयोग किया जाता है मन से बचने के लिये। अंतिम अवस्था में सूफी गुरू बतते हैं, 'जब तुम उस सील तक आ पहुँचों जहाँ कि विषय तिरोहित हो जाये, तो तुरन्त नृत्य करने लगना जिससें कि ऊर्जा शरीर में बहे और मन में नहीं बहे। तुरन्त कुछ करने लगना, कुछ भी चीज मद्द देगी। समाधि की निर्विचार अवस्था की परम शुद्धता अपलब्ध होने पर प्रकट होता है आध्यात्मिक प्रसाद', और तुम्हारी अन्तरतम सत्ता प्रकाश के स्वभाव की है। चेतना प्रकाश है। चेतना ही है एक मात्र प्रकाश। तुम जी रहे हो बहुत अचेतन रूप से : कई जीजें कर रहे हो न जानते हुए कि क्यों कर रहे हो; आकांक्षा कर रहे चीजों की, न जानते हुए कि क्यों; मांग कर रहे हो चीजों की, न जानते हुए कि कयों! एक अचेतन निभा में बहे चले जा रहे हो। तुम सब नीद में चलने वाले हो। निदगाचारिता एकमात्र आध्यात्मिक रोग है-निभा में चल रहे हो और जी रहे हो! हिन्दुओं ने विशेष प्रकार की सुगन्धियों के लिये कहा है, विशेषकर मन्दिरों के सुगन्ध भरे लोबान के लिए, लेकिन उनकी लोबानें अलग तरह की हैं। जैसे कि कामवासनामय सुगन्धियां होती हैं, आध्यात्मिक सुगन्धियां भी होती है, और दोनों संबन्धित होते हैं। बहुत लम्बे समय के खोज के बाद हिन्दुओं ने विशेष प्रकार की सुगन्धियों को जो कि कामवासनामय नहीं हैं, खोज निकाला। लोबान और चन्दन की अगरबत्ती बहुत-बहुत सार्थक बन गये। वे प्रयोग करते रहे उसका मन्दिर में और मदद मिली इससे। जैसे कि ऐसा संगीत होता है जो तुम्हे कामवासनायुक्त बना सकता है। ऐसा संगीत भी है जो तुम्हें आध्यात्मिक भाव की अनुभूति दे सकता है। विशेषकर आधुनिक संगीत बहुत कामवासनामय होता है। शास्त्रीय संगीत बहुत आध्यात्मिक है। यही बात अस्तित्व रखती है सभी इन्भियों के साथः ऐसे चित्र हैं जो कि आध्यात्मिक हो सकते या कामवासनायुक्त; ध्वनियां है, महकें है, जो कि कामवासना से भरी हो सकती हैं या आध्यात्मिक हो सकती हैं। प्रत्येक इन्भिय की दो संभावनाएं हैः यदि ऊर्जा नीचे की ओर चली जाती है, तब वह होती है कामवासनामय, यदि ऊर्जा उपर की ओर उठती है, तब वह होती है आध्यात्मिक। योग के बीज़ वैदिक सहिंता में में प्राप्त होते हैं, क्योंकि भारतीय संस्कृति, दर्शन और धर्म की नींव वेदों में निहित है। वेद और उपनिषदों के आरंभिक काल में योग के विषय में वर्णित है- **यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन स धीनां योगमिन्वति।**

कठकोपनिषद् में आत्म ज्ञान के साधन के रूप में योग को स्वीकार किया गया है।

आध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वाधीरो हर्षशेकौ जहाति।

महाभारत में येगा के विषय में वर्णित है -

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

प्रत्येक उपनिषद के मन्त्र के अन्त में **'ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः'** संकल्प में अपरिमित शान्ति है। वातावरण को शान्ति करने के लिये मन को शान्त करना होगा। मन की स्थिरता के लिये योग की आवश्यकता है और **'योग'** के द्वारा ही आभ्यान्तर एवं ब्रह्य वातावरण में शान्ति सम्भव है। नादयोग का मोटा अर्थ **गायन-वादन संगीत कीर्तन**

से है। प्रवचन परामर्श के साथ इसका भी संयोग रहता है। शब्दब्रह्म और नादब्रह्म का योग शास्त्रों में विशेष वर्णन है। नाद ब्रह्म से संगीत उपजा, सात स्वरों का आविर्भाव हुआ। सात लोक भी यही हैं। शब्दब्रह्म में मन्त्र, जप नामोच्चार का प्रकरण होता है। यह सारा परिकर नादयोग से ही आविर्भूत हुआ है। महर्षि पंतजलि ने **'योगसूत्र'** में यह यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यन और समाधि योग के इन आठ अंगों का वर्णन किया है -

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-
धारणाध्यानयमाध्योऽष्टावगांनि।

'योग' की पूर्ण साधना के लिये इन आठ अंगों का क्रमशः अभ्यास परम आवश्यक है। पंतजलि ने यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम को बहिरंग योग और धारणा, ध्यान तथा समाधि को अन्तरंग योग कहा है - **त्रयमन्तरंग पूर्वेभ्यः।**

और अन्तरंग (धारणा, ध्यान, समाधि) तीनों साधन निर्बीज योग के बहिरंग हैं।

तदापि बहिरंग निर्बीजस्य ।

तथा धारणा ध्यान और समाधि ये तीनों संयुक्त रूप से संयम कहलाते हैं - **त्रयमेकत्र संयम ।**

इन अष्टोगों में से यम, नियम आचार सम्बन्धी अभ्यास हैं। आसन, प्राणायाम शरीर को भौतिक रूप से योगाभ्यास योग्य बनाने के उपाय है। प्रत्याहार प्रधानतः इन्भियनिग्रह का उपाय है और उसके बाद की प्रक्रियाएँ धारणा, ध्यान और समाधि पूर्ण रूप से मानसिक तथा आध्यात्मिक नियमन की साधनाएँ हैं। **कठोपनिषद्** के अनुसार योग वह उच्चतम अवस्था है, जिसमें ज्ञानेन्भियाँ मन सहित आत्मा में स्थिर हो जाती हैं, बुद्धि का व्यापार भी रूक जाता है। इस प्रकार इन्भियों के नियन्त्रित होने से मन स्थि हो जाता है। उस अवस्था में साधक प्रमाद रहित रहता है-

यदा पांच्वतिष्ठनते ज्ञानानि मनसा सह बुद्धिश्च न विचेष्टेन तामाहुः परमां गतिम्।
तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्भियधारणाम्
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।

मानव शरीर में श्वास-प्रश्वास का खेल प्राण करता है। तांत्रिक भापा में इसे **हंस** कहते हैं। **'हं'** शिव या पुरूप तत्व का और **'स'** शक्ति या प्रकृति तत्व का पर्याय है। जहाँ इन दोनों का मिलन होता है, वहीं नाद की अनुभूति होती है। शिव-सहिंता में कहा गया है -

न नादसदृशो लयः।

"मन को लय करने वाले साधनों में, नाद की तुलना करने वाला और कोई साधन नहीं है।" भगवान शंकराचार्य नें भी **'योग तारावली'** में नाद तत्व की प्रशंसा की है-

सदा शिवोक्तानि सपादलक्ष लयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्।।

"भगवान शिव ने मन के लय के लिये सवा लक्ष साधनों का निर्देश किया है, परनतु उन सव में नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है। शिव और शक्ति का संयोग और पारस्परिक सम्बन्ध ही **'नाद'** कहलाता है। इससे अव्यक्त ध्वनि और अचल अक्षर मात्र भी कहा जाता है।

गीता में योग की परिभापा **"योगः कर्मसु कौशलम्"** की गयी है। दूसरी परिभापा **"समत्वं योग उच्यते"** है। कर्म की कुशलता और समता को इन परिभापाओं में योग वताया गया है। योग दर्शन में महर्पि पतंजलि ने मन के निरोध के विपय में कहा -

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।

चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा जाता है।

"जीवात्म परमात्म संयोगो योगः" कहकर भगवान याज्ञवल्क्य ने जिस योग की विवेचना की वह केवल कल्पना नहीं, अपितु हमारे दैनिक जीवन की एक अद्भुत साधना है और एक ऐसा उपाय है जिसके द्वारा हम अपने याधारण मानसिक कलेशों एवं जीवन की अन्यान्य कठिनाईयों की बहुत सुविधा पूर्वक निराकरण कर सकते हैं। आध्यात्म विज्ञानियों के अनुसार हमारे समस्त शरीर में नाड़ियों का एक प्रकार का जाल बिछा हुआ है। यह कन्द के स्थान से निकल कर पूरी काया में फेली हुई हैं। इनकी संख्या 72 हजार बताई जाती है। योगयिों का कहना है कि वास्तविक कुंजी यही है। साधना विज्ञानियों का कहना है कि नाड़ी-जाल देह में **'नाड़ी गुच्छक'** के रूप में फैला होता है। इन्हें आध्यात्म की भाषा में **'उपत्यिका'** कहते हैं।

शब्दाद्वैतवाद के अनुसार शब्द ही ब्रह्म है। सम्पूर्ण जगत शब्दमय है। ब्रह्म की अनुभूति शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म के रूप में भी होती है जिसकी सूक्ष्म स्फुरणा हर पल सूक्ष्म अन्तरिक्ष में हो रही है। इस विराट ब्रह्माण्ड में नाद ब्रह्म अर्थात् **ऊँकार** की ध्वनि गुंजित है। प्राकृति के रहस्यों, हलचलों एवं सम्भावनाओं को जानने के लिये **नादयोग** का अभ्यास किया जाता है। कर्ण कुहर बन्द कर लेने पर कई प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। झींगुर बोलने, बादल गरजने, शंख बजने, वंशी निनाद होने जैसे कितने ही शब्द आरम्भ में सुनाई पड़ते हैं और नादयोग का अभ्यासी उन ध्वनियों के सहारे यह जानने की चेष्टा करता है कि अलग जगत में क्या हो रहा है और क्यों होने जा रहा है। वर्तमान, भूत, भविष्य की कितनी रहस्यमयी जानकारियाँ नाद ब्रह्म की साधना से अवगत होती हैं। शब्द योग की परिधि में स्वाध्याय और समस्त गद्य-पद्य रूप में होने वाली प्रक्रियाएँ सम्मिलत होती हैं। **शब्दब्रह्म** और **नादब्रह्म** यह दोनों ही सर्वव्यपी है। मनुष्य के कण-कण में समाये हुए हैं। शब्दब्रह्म अर्थात् मन्त्र विद्या का आसीम विस्तार है। **शब्द योग** अर्थात् **ज्ञानयोग**-वाणी का सदुपयोग। सर्वसाधारण का परमार्थ का महत्व बताना और उस मार्ग पर चलने की शिक्षा देना। शब्दब्रह्म का तात्पर्य मन्त्र विद्या को ज्ञानपूर्वक सम्पन्न करने उसके साथ विचारणा एवं भावना का समावेश करने से है।

योगाभ्यास में नादब्रह्म, शब्दब्रह्म, सुरतियोग, स्वरयोग, मन्त्रयोग लय होगा आदि के माध्यम से शब्द साधना को प्रमुखता दी गई है। संगीत में ताल और लय का उपयोग होता है। इन दोनों के समुच्चय को ही स्वर विज्ञान कहते हैं, संगीत के द्वारा रोग निवारण, भावनात्मक अभ्युदय, उत्साह सम्वर्धन, प्राणि विकास, वनस्पति उन्नयन जैसे काम लिये जाने लगे है। ओमूकार साधना नादयोग की उच्चस्तरीय साधना है। आरम्भिक अभ्यासी को प्रकृति प्रवाह से उत्पन्न विविधस्तर की आहत परिचित ध्वनियाँ सूक्ष्त कर्णेन्भिय से सुनाई पड़ती हैं। इनके सहारे मन को वशवर्ती बनाने तथा प्रकृति क्षेत्र में चल रही हलचलों को जानने तथा उन्हें मोड़ने-मरोड़ने की सामर्थ्य मिलती है, आगे चलकर **'अनाहत'** क्षेत्र आ जाता है। स्वयंभू ध्वनि प्रवाह जिसे परब्रह्म के अनुभव में आ सकने वाला स्वरूप कह सकते हैं यदि किसी के सघन सम्पर्क में आ सके तो आध्यात्म क्षेत्र का सिद्ध पुरूष भी कह सकते हैं। शिवपुराण के उमा संहिता खण्ड के 26वें अध्याय में अनाहत नाद सम्बन्धी विशेष विवरण और माहात्म्य मिलता है।भगवान शिव पार्वती से कहते हैं- **'अनाहत नाद** कालजयी है। इसकी साधना करने वाला इच्छानुसार मृत्यु को जीत लेता है। नादयोग के दस मण्डल साधना ग्रन्थों में गिनाये गये हैं। कहीं-कहीं इन्हे लोक भी कहा गया है। एक ओमूकार ध्वनि और शेष नौ शब्द इन्हें मिलाकर दस शब्द बनते हैं। इन्हीं की श्रवण साधना नादब्रह्म की नाद साधना कहलाती है। नाद के दो भेद हैं- **आहत** और **अनाहत**। अनहद नाद

का शुद्ध रूप है-**प्रताहत नाद**। 'आहत नाद वे होते हैं, जो किसी प्रेरणा या अघात से उत्पन्न होते हैं। वाणी के आकाश तत्व से टकराने अथवा किन्हीं दो वस्तुओं के टकराने वाले शब्द **'आहत'** कहे जाते हैं। बिना किसी अघात के दिव्य प्रकृति के अन्तराल से जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें **'अनाहत'** या **'अनहद'** कहते हैं। नाद योग योगशास्त्रों की अनेकानेक साधना विधियों में से सर्व प्रमुख धारा है। कुण्डलिनी साधना के प्राण प्रयोग में इसी का आश्रय लिया जाता है। कुण्डलिनी साधना को प्रणव विद्या भी कहा गया है।

कुण्डलिनी प्रणवरूपतिणी।।

- शक्तितन्त्र

महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराऽकृतिः।।

- योग कुण्डलिनी उपनिषद्

अर्थात्- कुण्डलिनी प्रणव रूप है। महाकुण्डलिनी को ब्रह्म स्वरूपिणी कहा गया है। यह शब्दब्रह्ममय है। एक ओऽम् से अनेक अक्षरों की आकृतियाँ उत्पन्न हुई हैं। कुण्डलिनी साधना में लय योग का महत्वपूर्ण सीान है। लय का अर्थ विलीन है। आत्मसत्ता का परमात्मसत्ता में विलीनीकरणही परम लक्ष्य है। इसे प्राप्त करने पर आत्मा को परमात्मा स्तर का बन सकना सम्भव हो जाता है। **'लय'** के लिये नाद योग की साधना उकरनी पड़ती है। इसी आधार पर कुण्डलिनी जागरण का उद्देश्य भी पूरा होता है।

लय नादे यता चित्तं रमते योनिो भृशम्।
विस्मृत्य सकले वाह्यं नादेन सह शाम्पति।।

- शिव सं.

अर्थात्- जब योगी का चित्त उस नाद में निरन्तर रमण करेगा तब सब प्रकार के विषय से स्मरण रहित होकर चित्त समाधि में 'लय' हो जायेगा।

न नादेन बिना ज्ञान न नादेन विना शिवः।
नादरूपं पर ज्योतिर्नाद रूपी परो हरिः।। - योग तरंगिनी नाद के बिना ज्ञान नहीं होता-नाद के बिना शिव नहीं मिलते, नाद के बिना ज्याति का दर्शन सम्भव नहीं, नाद ही परब्रह्म है। योग साधनों में नादयोग की गरिमा अत्यधिक है। उसकी विधिी सरलता एवं श्रेष्ठ सत्परिणाम उत्पन्न करने वाली प्रतिक्रिया को देखते हुए नादयोग को जो प्रमुखता मिली है व उचित ही है-

यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।
यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः।।

- हठयोग प्र.जे कुछ नाद रूप से सुना जाता है वह शक्ति ही है और जिसमें तत्वों का लय होता है वह निराकार परमेश्वर है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. शब्द ब्रह्म-नादब्रह्म .....पं श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय पृ. संख्या -5.17।
2. वही पृष्ठ संख्या 5.38
3. वही पृष्ठ संख्या 1.1
4. वही पृष्ठ संख्या 1.3
5. वही पृष्ठ संख्या 4.1
6. वही पृष्ठ संख्या 4.2
7. वही पृष्ठ संख्या 4.3
8. वही पृष्ठ संख्या 4.4
9. वही पृष्ठ संख्या 4.6
10. वही पृष्ठ संख्या 4.10
11. वही पृष्ठ संख्या 4.11
12. पंतजलि योग-सूत्र, भाग दो .....डॉ. बलदेव वंशी।
13. प्रज्ञा ..... काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिकाअंक 59, भाग :दो, 2013-14।

Music- A Soul Filling Art

K. Murali

Research Scholar

This paper aims to exhibit the sanctity of music. This statement of For Ran, elected to the American Academy of Arts and Sciences in 1992, the power of music to unsettle and console offers endless possibilities inspired me to make this Paper.

"I believe that music matters,' she says. "Music for me has an incredible capacity to uplift, transport, make one think, disturb, engage, at times to entertain, at times to provide catharsis.' It is attempted to portray importance and unison of percussion support in music as well as indicate how some, determine and get are enticed to take music as career, life- setting aside any other avenue they are poised to take up.

METHODOLOGY

The study has been made citing the significance, momentousness of rhythmic support for recitals quoting a few instances. An outline of music as source of bliss is given. Indication of the importance of rhythmic support is given citing a few examples. My occupational history and decision to music alone has been pointed out.

INTRODUCTION

Like all art forms in Indian culture, Indian classical music is believed to be a divine art form which originated from the Devas and Devis (Hindu Gods and Goddesses),and is venerated as symbolic of nda brhman. Ancient treatises also describe the connection of the origin of the swaras, or notes, to the sounds of animals and birds and man's effort to simulate these sounds through a keen sense of observation and perception. The Sama Veda, which is believed to have laid the foundation for Indian classical music, consists of hymns from the Rigveda, set to musical tunes which would be sung using three to seven musical notes during Vedic yajnas. The Yajur-Veda, which mainly consists of sacrificial formulae, mentions the veena as an accompaniment to vocal recitations. References to Indian classical music are made in many ancient texts, including epics like the Ramayana and Mahabharata. The Yajnavalkya Smriti mentions v+nvdana tattvajñan [rutijtivi[radan tlajña[cpraysena moksamrgam niyacchati ("The one who is well versed in [veena, one who has the knowledge of srutis and one who is adept in tala, attains salvation without doubt'). Carnatic music is based as it is today on musical concepts (including swara, raga, and tala) that were described in detail in several

ancient works, particularly the Bharata's Natya Shastra and Silappadhikaram by Ilango Adigal.

ACCOMPANIMENT IN MUSIC RECITALS

Accompaniment- a musical part that supports or partners a solo instrument, voice, or group. "she sang to a guitar accompaniment'Synonyms like backing, support, etc., could be given. An attempt is being made in this write-up to make a few points on Percussion accompaniment through Mrdangam, Ghatam and Kanjira provided to Karnatik music concisely mentioning only one stalwart among many in each of the three instuments mentioned above. This writing is keyed by a fact which was observed in the Karaikudi Veena Tradition.

Karaikudi Veena Brothers- Sri. Subbarama Ayyar and Sri. Sambasiva Ayyar were vital pace makers in Veena. Karaikudi. Sambasiva Ayyar referred to Sri. Dakshinamoorthy Pillai who provided Mrdangam support to their recitals as the 'THIRD VEENA'. Below is the excerpt from THE HINDU in which it is given that Sri. Dakshinamoorthy Pillai passed away in 1936., but the Ph.D., Thesis by Karaikudi. Dr. Subramanian it is mentioned that Karaikudi. Subbarama Ayyar passed away in 1938., Dakshinamoorthy Pillai rushed to the place, died a little later, unable to bear the loss of the melodic mastereo and Sambasiva Ayyar refrained from playing Veena due to the loss of these two was so desperate and expressed that his elder brother, the First of the Three Veenas was no more and Sri. Dakshinamoorthy Pillai, The Third was also extinct and it was horrific to think of solitude and soliloquy.

PUDUKKOTTAI DAKSHINAMOORTHY PILLAI

There are two dominant schools of percussion in the world of Carnatic music today – the Thanjavur and Pudukottai traditions. The latter was founded by Manpoondia Pillai in the 19th century and it was his disciple, Pudukottai Dakshinamurthy Pillai, who was its chief architect.

A powerful personality in his own right, he strode the world of music like a colossus. When this legend passed away in 1936, The Hindu naturally devoted several columns to his life and achievements. On May 27, The Hindu's Pudukottah correspondent reported that Pillai passed away at 7 p.m. the previous day at his residence on Second Street, Pudukottah. He was 61. We also learn that he had been suffering from high blood pressure and that the end was due to heart failure. On May 29, the paper reported that the funeral was conducted the previous day, Pillai being buried "close to the samathi of his father and grandfather. A large crowd numbering about a couple of thousands accompanied the procession, with a bhajana party. As a mark of respect all the shops in the Bazar Street were closed early in the day.' It was almost as though a monarch had passed on.

The Karaikudi Veena brothers restrained from performing after the demise of Sri. Dakshinamoorthy Pillai-THE THIRD VEENA. Sri Subbarama Ayyar died a few months later, depicting the melodic as well as unity in the souls of music minstrels.

Importantly, it may be noted that this article has more citations as melody is the language of music and words are insufficient to express the enchantment, spiritual bliss experienced in music by the performer and listener. Music magically charms every living object.

In music, accompaniment is the art of playing along with an instrumental or vocal soloist or ensemble, often known as the lead, in a supporting manner. The term accompaniment also describes the composed music, arrangement, or improvised performance that is played to back up the soloist.

Carnatic music is usually performed by a small ensemble of musicians, who sit on an elevated stage. This usually consists of at least; a principal performer, a melodic accompaniment, a rhythm accompaniment, and a drone. The rhythm accompanist is usually a mridangam player (who sits on the other side, facing the violin player). However, other percussion instruments such as the ghatam, kanjira and morsing frequently also accompany the main percussion instrument and play in an almost contrapuntal fashion along with the beats.The objective of the accompanying instruments is far more than following the melody and keeping the beats. The accompaniments form an integral part of every composition presented, and they closely follow and augment the melodic phrases outlined by the lead performer.

MRDANGAM

Today the mridangam is most widely used in Carnatic music performances. These performances take place all over Southern India and are now popular all over the world. As the principal rhythmic accompaniment (pakkavadyam), the mridangam has a place of utmost importance, ensuring all of the other artists are keeping their timing in check while providing support to the main artist. One of the highlights of a modern Carnatic music concert is the percussion solo (thani avarthanam), where the mridangam artist and other percussionists such as kanjira, morsing, and ghatam vidwans exchange various complex rhythmic patterns, culminating in a grand finale where the main artists resumes where he or she left off.

Mridangam is known to have been used as an accompanying instrument in Yakshagana Himmela (orchestra) where it is called Maddale. However, Mridangam used in Yakshagana is markedly different in structure and acoustics from the ones used in Carnatic music.

Significant players of the mridangam in modern times are Dr.T.K.Murthy, Umayalpuram K. Sivaraman, Vellore G. Ramabhadran, Trichy Sankaran, B. Harikumar, Karaikudi Mani, Madurai T. Srinivasan (Seenakutti), Yella Venkateswara Rao,[12] Srimushnam Raja Rao, Thiruvarur Bakthavathsalam,

Mahadevu Lakshmi Narayana Raju, Cheluvaraj Trichur C Narendran who have been playing and advancing the technique since decades.

Players over the years and especially during the early 20th century, great maestros of mridangam also arose, inevitably defining "schools' of mridangam with distinct playing styles. Examples include the Puddukottai school and the Thanjavur school. The virtuosos Palani Subramaniam Pillai, Palghat Mani Iyer, C.S. Murugabhupathy and Late Sri Mahadevu Radha Krishna Raju contributed so much to the art that they are often referred to as the Mridangam Trinity.

There is also another style i.e., the blending of Saakotai Rangu Iyengar's and Kumbakonam Azhaganambi Pillai's taught to hundreds of disciples by the legendary Late Sri Kumbakonam Narayanaswamy Iyer and late Sri Kumbakonam Rajappa Iyer.

RAMANATHAPURAM. SRI. C.S. MURUGABHOOPATHY

Born in the town of Ramanathapuram (also known as Ramnad) in Tamil Nadu, Murugabhoopathy obtained his early lessons in Mridanga from his father Chitsabai Servai (also Sirchabai Servai) and later on from Palani Muttiah Pillai (the father of Palani Subramania Pillai), both of whom were students of the great Pudukottai Manpoondia Pillai (read as Maamudia Pillai). Murugabhoopathy's elder brother C. S. Sankarasivam Bhagavatar was a strong influence in the development of Murugabhoopathy's musical style. A young CSM picked up many tips from legendary percussionists including Kumbhakonam Azhaganambi Pillai, who taught him some intricate techniques of playing with his left hand.Murugabhoopathy accompanied many carnatic stalwarts such as Ariyakudi Ramanuja Iyengar, Chittoor Subramania Pillai, Musiri Subramania Iyer, and Dandapani Deshikar. CSM benefited a lot from the generous promotion and support given by Chembai Vaidyanatha Bhagavathar and Semmangudi Srinivasa Iyer. He later on played alongside G. N. Balasubramaniam, Madurai Mani Iyer, M. D. Ramanathan, Ramnad Krishnan, T. M. Thyagarajan, Maharajapuram Santhanam, Madurai Somasundaram, Madurai T N Sheshgopalan, T.R .Mahalingam (flute), Mysore V. Doreswamy Iyengar (veena), Tirumakudalu Chowdiah (violin), T. N. Krishnan (violin), Lalgudi Jayaraman (violin) and other leading musicians in many concerts.

GHATAM

The ghatam is India's one of the most unique musical instruments which exemplifies human ingenuity. Ghatam is nothing more than a simple earthenware pot. It is one of the leading and crucial percussion instrument of Carnatic music followed by mridangam. IT is a fact that those bent towards music and having a natural inclination towards music are capable of drawing and embroidering rhythmic patterns out of everyday objects, on the other hand it is also true that the ghatam that is used as

an instrument is not the same clay pot that the Indians use to store their drinking water and carry water from well or public tabs. There is a marked difference in the making of ghatam and these earthenware clay pots used in rural and urban India.ike all Indian musical instruments, the ghatam also has its spiritual associations. Among these as most of us know, are the five elements that make up the universe - earth, air, fire, water and space. All these elements are present in the instrument. Ghatam is made of mud. In other words the earth is mixed with water, the ghatam is dried and baked in fire and air respectively, and its hollow shape contains space. The Indian Percussion instrument Ghatam could be made of made from mud alone or mud and brass flakes. Ghatam is secondary instrument, after mridangam. In a nutshell, the ghatam is an ancient indian percussion instrument that originated in South India. Ghatam is a mud pot with quite a narrow mouth. From this narrow mouth, the ghatam shapes itself outwards to form tit's ridge. Ghatam is primarily and basically made from clay and is fired with brass or copper filings along with some amount of iron filings. The size of ghatam varies according to the pitch it is expected to produce and generate. By applying plasticine, a mixture of clay or water the pitch can be altered to a certain extent. To play the ghatam, the player places it on his/her lap with it's mouth facing the belly of the artist. The artiste uses his fingers and including thumbs, and even palms and the fingernails, but occasionally to produce a wide range of sounds. At times the ghatam is also turned around in such a way that it's mouth faces the audience, and thus the performer is able to play Ghatam more readily on the neck of the instrument. There have been many belonging to parts other than South India amazed at the production of enchanting melodic rhythm from an earthern pot.

SRI VIKKU VINAYAKA RAM

Vinayakram was born to Kalaimaamani T. R. Harihara Sharma, a musician and teacher. He took up playing at a very young age. Vinayakram's concert career began at the age of 13. His first performance occurred on March 5, 1957 at the Sri Rama Navami festival in Thoothukudi. While proceeding for the arangetram the tuned ghatam instrument was broken by a child named Ganesh, which by itself had been a good omen for his bright career. where he accompanied V.V.Sadagopan. He was soon accompanying many famous vocalists in Carnatic music at the time, including Chembai Vaidyanatha Bhagavatar, Mangalampalli Balamuralikrishna, G. N. Balasubramaniam, Madurai Mani Iyer, Semmangudi Srinivasa Iyer, M. S. Subbulakshmi and Maharajapuram Santhanam, among others. His brother, T. H. Subhash Chandran, also excelled in the field. The Ghatam followed the master by rising to fame as a percussion instrument that required nimble fingers and strong stomach muscles to control the mouth of the pot.

Vinayakram's tryst with the international music platform came in the early 1970s when he joined Shakti to

play along with John McLaughlin and Zakir Hussain.He has also performed at Basant Utsav, the annual fund raiser for the Banyan.

Vinayakram is Principal of Sri Jaya Ganesh Tala Vadya Vidyalaya in Chennai, India - the academy established by his late father and teacher in 1958. It continues to produce new stars of Carnatic percussion. Vinayakram's son V. Selvaganesh is a successful percussionist, especially after tours with John McLaughlin's group, Remember Shakti.

Ghatam awakens the mother earth, takes the performer and listeners to the eternal universe of spirituality through melody- is a small condensed citation about how Sri Vikku Vinayaka Ram chosen by the Lord. Vinayaka to arouse Kundalini through Ghatam.

MUSIC BECAME MY BREATH

Hailing from a musical family, I was fortunate to have had my early training from Mridangam Maestro Kalaimamani Trichy Thayumanavan from a young age, initially learning Mridangam and then switching over to Ghatam. Having Post Graduated in commerce and Materials Management, I was employed in an excellent Firm, but a moment of thought made me take up music and music alone. Music which was part of my basic career employed as Management Professional was my only objective. It is ever elating to remember Sri. M. S. Gopala Krishnan who tapped my rhythmic fervour once- he decided that I provide support on Ghatam to his very important programme at Delhi, arranged to get me there from Trichy, where I was residing. It is so excellent to have supported many more upper crust of Sangeetha Vidwans Nedunuri Krishnamurthy, Madurai T.N. Seshagopalan, Hyderabad Brothers, T.V. Sankaranarayanan, Trichur Ramachandran, A.K.C. Natarajan, Malladi Brothers, Sanjay Subramanian, Neyveli Santhanagopalan, T.M. Krishna, D.K. Pattammal, R. Vedavalli, Suguna Purushottam, Aruna Sairam, Bombay Sisters, Bombay Jaysree, Sudha Raghunathan, Nithyasree Mahadevan, to name a few. Music is perhaps every pulse in such artists. My goal is the same. It is very fulfilling to render music for performances. During practice and teaching sessions, one is able to realise the soul, be one with the Ultimate.

KANJIRA

Carnatic musicians often use multiple percussion instruments as accompaniment in a concert. While the mridangam is the most popular instrument for accompaniment, the smaller kanjira is a very versatile instrument that is used as the secondary percussion accompaniment.

The kanjira is a small handheld drum that resembles a tambourine. It consists of a circular wooden frame of jack wood, with a diameter of seven to eight inches and depth of approximately two inches. One face of the frame is stretched over with a thin layer of leather. The drum is usually held in the left hand and played by striking the leather face with the fingers of the right. A couple of

small metal discs are attached to the frame. The ganjira cannot be extensively tuned like the mridangam. Its pitch can be lowered, while playing, however, by thinly wetting the inside of the leather covering with water. The nature of this method makes it difficult to maintain the pitch of the ganjira throughout the concert, and requires judgment and expertise.

The greatest Carnatic kanjira player who ever lived. Still to this day, musicians are in awe of what G. Harishankar was capable of with one hand. His was born on June 10, 1958 and died on February 11, 2002. G. Harishankar started on kanjira at a very young age with his father Govinda Rao, started formal mridangam training with the legend Palghat T.S. Mani Iyer and then later with C.S. Murugaboopathy. He also studied with Ramanathapuram Sri C.S. Sankarasivam. He plays kanjira right handed but mridangam left handed (it is said that he did so to prove that playing mridangam was not as hard as kanjira so he switched to playing mridangam left handed). G. Harishankar is responsible for furthering the complexity of modern kanjira playing in terms of advanced techniques for speed, power, rhythmic complexity and beauty in phrasing (left hand bending of the skin). It is said in India by many of the senior percussionists that performed with him or witnessed him play that he could top any mridangam player he was matched with in a concert during the percussion solos (thani avarthanam). G. Harishankar on several occasions even topped tabla player Zakir Hussain when they shared the stage in Malaysia and Europe. He had only a few students that carried on his secrets and techniques. Some of his best recorded playing was as a member of Sruthi Laya with Karaikudi R. Mani on mridangam, T.V. Vasan on ghatam, and Srirangam S. Kannan on morsing in the 1980s-1990s. To many in India, his death was proof that he was in fact human and not a god.

Bibliography

Carnatic Music- Wikipedia

Mridangam – Wikipedia Performances of Carnatic Music- Wikipedia en.wikipedia.org/wiki/Thetakudi_Harihara_Vinayakram

www.dholak.com

www.milapfest.com/instruments-india/explore.../the-kanjira

South Indian Veena-Tradition and Individual Styles, Ph.D.

Thesis of Karaikudi. S. Subramanian (Dr. KSS- Prof. Emeritus, Department of Music, Madras University and presently Director of Brhaddhvani – International Research Centre for Music, Chennai.)

www.thehindu.com/features/friday.../article2738314.ece The Hindu Dec 22, 2011

www.uchicago.edu/features/exploring the sources of musical creativity

Music as an Art and Science

Dr. N. Padma

Dept. of Performing Arts, Sri Venkateswara University, Tirupati

Music is a divine Art. Music is a sacred science. It is a celestial boon gifted to terrestrial mankind. Music is intertwined with human life. Since times immemorial, music had quite a good role in man's life, disregard of region, race, culture and life – style. All around the globe, the inferences are common and congruent.

Music is a special art, the most natural and oldest art associated with pleasing the aural senses of human being. Music is an exclusive science of arrangement of musical notes in a scientific and systematic manner to bring about pleasure and tranquility. It is undisputedly the best choice of relaxation to the mentally and physically drained and strained and exhausted persons – be it a sport –person of any level, an academician of any status, duke or a dust –man.

Music is a special art and language to spread cultures. Music is a very special medium in expressing human emotions or feelings. It is one of the best fine arts in promoting interrelationships, human culture and progress. As a great art, music makes a man mentally "a healthier social being" and binds people together.

It is a language of "pure sound": with just seven basic alphabets, innumerous music composures are compiling. Music composition is such an art, that the science of sounds and intervals are so rightly studded and "note – arrangement" is systematically done so as to be acceptable to the ear and brain.

Just the manner, in which alphabets of languages give raise to innumerous words and sentences to convey sense, the seven music alphabets give raise to innumerous musical art pieces. Music elevates SOUL, makes one tranquil and is such a pleasing art, - so harmless.

The following verses emphasizes the excellence of singing music.

"जपकोटी गुणं ध्यानं ध्यानकोटी गुोलयाः
लकोटी गुणं गानं गानातूपरतरं नहीं"

"Dhyana is equal to a crore Japa-s;
Laya is equal to a crore Dhyana-s;
ganam is equal to crore Laya-s; there is nothing to excel Ganam."

Beethoven (1770-1827) stated that "Music is a revelation, higher than all science and philosophy." The

implication is that it is more than science and more than arts. Human beings are blessed with aural senses and with sensitive ear for music. In fact, it is Bliss!

As Thiruvalluvar wrote "sense of hearing is the fortune of fortunes and fortune of hearing is the greatest of fortunes". Good rendering is an art and enjoying music is an art too!

Music is science; study of music is science; composing music is an "art involving sciences" and rendering is art. "MUSIC IS AN AMALGAMATION OF ARTS AND SCIENCE". The skill of systematically and scientifically arranging notes is certainly a great art involving science of sounds.

Great Greek philosopher and Mathematician Pythagoras (6^{th}- 5^{th} century BC) was the father of mathematical basis of music (in western countries). He introduced octave. Other important intervals of mathematical significance like the major 3^{rd} C-E(4:5) minor 3^{rd} E-G(5:6) major 6^{th} G-E (3:5) Major tone C-D(8:9) minor tone D-E(9:10) etc bear specific ratios for principal musical intervals.

Bharata's (4^{th} century B.C.) 'Dhruva Vina' and 'Chala Vina' (fixed fretted string instrument and movable fretted string instrument) experiment on the derivation of 22 sruti-s by cycles of fourths and fifths are purely mathematical progression.

Though there are several theories on the total number of sruti-s (tonal intervals), each of them has been arrived at by a pure concept of mathematical progression.

Music involves the science of study of frequencies, the cycle of 5ths and the cycle of 4ths and the related mathematics. These are all the inferences which are mathematically arrived at and practically proven and hence make up an exclusive science. On the other hand, while rendering, the right mix of human emotions and vivid expressions make it an exemplary 'art'.

Human voice is the oldest form of music producer. The frequency of vibrations, originated in human voice (or a musical instrument) determines the pitch. Slow vibrations (low frequencies) cause low sounds and rapidly succeeding vibrations (high frequencies) cause high sounds. Music deals with pitch, which is the science of frequency of vibrations. The science of frequency of vibration, which is the pitch, is the basic part of music.

The acoustics part of music deals with pitch and frequency. $9/8^{th}$ interval called major tone; $10/9^{th}$ interval called minor tone and $16/15^{th}$ interval called the semitone make the physics belying music. The octave note making a ratio of 2: echo the science involved. The frequency relationships of the octaves proceed in geometrical progressions: 1, 2, 4, 8, 16, 32 etc. and the frequency relationships of swayambu svaras are in arithmetic progression: 1,2,3,4,5,6,7,8. These progressions together with cycle of 5^{ths} and cycle of 4^{ths} prove the

mathematics behind the principles of music. (Tone system was evolved by logically working out cycle of 5$^{ths\ and}$ cycle of 4^{ths})

Cents method and arithmetic method of determining notes make music a science of a basic branch of mathematics. In fact, the notes within octave bear simple mathematical ratios to the fundamental note.

We see laws of Homogeneity, where "laghu" retains homogeneous character within tala.

The basic speed graduation or increase and decrease of the movement of the tune in Carnatic Music system is purely based on mathematical progression for an example:

If the first speed has two akshara-s. For one beat, the 2nd speed would take four akshara-s for the same beat and the third speed would take eight akshara-s and so on, in the increasing order of speed – the same formula would apply for the decreasing movement of speed.

Also in the advanced science of percussion application apart from the change of gaits, the speed variation applied is also based on the above mentioned mathematical progression. This concept of the science of rhythm is exactly applied by the vocalists/ instrumentalists while singing svarakalpana / makutam-s (muktayi) etc.

Regarding music instruments, the construction of involves physics, like "Standing waves", "Resonances" – and mathematics through study of plane geometry" and "solid – geometry". Hemispherical resonator of Veena, cylindrical base resonator of flute, convex shaped belly of Tambura, conical drum or tube of Nagaswaram, circular resonator of guitar, Rectangular shaped resonator of Harmonium are fairest examples of application of plane geometry and solid geometry.

Frequency of vibrations depends on factors like density, size and tension of a music producing instrument. Further, human ear is sensitive to pitches between 20 to 1600 cycles per second.

The raga system of India makes it very special and unique in the world of music. "Raga-s are aesthetic facts and can be perceived by trained ears. Ragas derive their personality through notes of defined pitch entering into their formation. It is horizontal arrangement of particular tones and semitones; in conformity to "Recognized Aesthetic Laws" that establishes form of a raga. This makes it a special science that Indian music contributed to the world. Further, the classification of ragas into Janaka raga and Janya raga is a highly scientific system of classification based on genus specie system.

When it comes to the several schemes of 'mela-s' (arrangement of complete scales) that have come before the 72 melakarta scheme each of them has been arrived at through a mathematical application permutation and combination. Then again the present pattern of 72 melakarta-s the serial number of each of them indicates

the prefix of their name and this again is based on the formula – 'katapayadi'- which again is a mathematical derivation.

Time measures of music (in tala) are of scientific periodicity that facilitates accurate method of reckoning musical time. Keeping all these factors in view, the music instruments are constructed in strict compliance with science. Finally, music is science, manufacture of instrument is a scientific art, and composing music is an art of science and rendering. Music with skills and embellishments is an art, to lure the aural senses. The science of composing and art of singing could be theaurapetic with a healing touch.

The mesmerizing capability of music makes it the "Soul – part" of the performance Arts. With roots in physics, mathematics, Arithmetic, geometry etc., "Music is an Art and Science" and As Beethoven said" music is a Revelation, higher".

References:

1. Padma Bhushan, Professor Sambamurty.P, South Indian Music Book I, 18th Edition, The Indian Music Publishing House, Sripuram 1st street, Royapetah, Chennai – 600014, Year 2005
2. Padma Bhushan, Professor Sambamurty.P, South Indian Music Book II, 8th Edition, The Indian Music Publishing House, sripuram 1st street, Royapetah, Madras – 600014, Year 1976
3. Padma Bhushan, Professor Sambamurty.P, South Indian Music Book III, 13th Edition, The Indian Music Publishing House, sripuram 1st street, Royapetah, Madras – 600014, Year 2005
4. Padma Bhushan, Professor Sambamurty.P, South Indian Music Book IV, 8th Edition, The Indian Music Publishing House, sripuram 1st street, Royapetah, Madras – 600014, Year 1998
5. Padma Bhushan, Professor Sambamurty.P, South Indian Music Book V, 8th Edition, The Indian Music Publishing House, sripuram 1st street, Royapetah, Madras – 600014, Year 2002
6. Padma Bhushan, Professor Sambamurty.P, South Indian Music Book VI, 7th Edition, The Indian Music Publishing House, sripuram 1st street, Royapetah, Madras – 600014, Year 2006

भारतीय शास्त्रीय संगीत

कुमारी चारू शर्मा

भारतीय संगीत का अभिन्न अंग है भारतीय शास्त्रीय संगीत। आज से लगभग ३000 वर्ष पूर्व रचे गए वेदों को संगीत का मूल स्रोत माना जाता है। ऐसा मानना है कि ब्रह्मा जी ने नारद मुनि को संगीत वरदान में दिया था। चारों वेदों में, सामवेद के मंत्रों का उच्चारण उस समय के वैदिक सप्तक या समगान के अनुसार सातों स्वरों के प्रयोग के साथ किया जाता था। गुरू शिष्य परंपरा के अनुसार, शिष्य को गुरू से वेदों का ज्ञान मौखिक ही प्राप्त होता था व उन में किसी प्रकार के परिवर्तन की संभावना से मनाही थी। इस तरह प्राचीन समय में वेदों व संगीत का कोई लिखित रूप न होने के कारण उनका मूल स्वरूप लुप्त होता गया। भरत मुनि द्वारा रचित भरत नाट्यशास्त्र, भारतीय संगीत के इतिहास का प्रथम लिखित प्रमाण माना जाता है। इसकी रचना के समय के बारे में कई मतभेद हैं। आज के भारतीय शास्त्रीय संगीत के कई पहलुओं का उल्लेख इस प्राचीन ग्रंथ में मिलता है। भरत् नाट्य शास्त्र के बाद शारंगदेव रचित संगीत रत्नाकर, ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। बारहवीं सदी के पूर्वाद्ध में लिखे सात अध्यायों वाले इस ग्रंथ में संगीत व नृत्य का विस्तार से वर्णन है। संगीत रत्नाकर में कई तालों का उल्लेख है व इस ग्रंथ से पता चलता है कि प्राचीन भारतीय पारंपरिक संगीत में अब बदलाव आने शुरू हो चुके थे व संगीत पहले से उदार होने लगा था। १000 वीं सदी के अंत तक, उस समय प्रचलित संगीत के स्वरूप को प्रबंध कहा जाने लगा। प्रबंध दो प्रकार के हुआ करते थे... निबद्ध प्रबंध व अनिबद्ध प्रबंध। निबद्ध प्रबंध को ताल की परिधि में रह कर गाया जाता था जबकि अनिबद्ध प्रबंध बिना किसी ताल के बंधन के, मुक्त रूप में गाया जाता था। प्रबंध का एक अच्छा उदाहरण है जयदेव रचित गीत गोविंद।

युग परिवर्तन के साथ संगीत के स्वरूप में भी परिवर्तन आने लगा मगर मूल तत्व एक ही रहे। मुगल शासन काल में भारतीय संगीत फारसी व मुसलिम संस्कृति के प्रभाव से अछूता न रह सका। उत्तर भारत में मुगल राज्य ज्यादा फैला हुआ था जिस कारण उत्तर भारतीय संगीत पर मुसलिम संस्कृति व इस्लाम का प्रभाव ज्यादा महसूस किया जा सकता है। जबकि दक्षिण भारत में प्रचलित संगीत किसी प्रकार के बाहरी प्रभाव से अछूता ही रहा। इस तरह भारतीय संगीत का दो भागों में विभाजन हो गया।

१) उत्तर भारतीय संगीत या हिन्दुस्तानी संगीत

२) कर्नाटक शैली।

उत्तर भारतीय संगीत में काफी बदलाव आए। संगीत अब मंदिरों तक सीमित न रह कर शहंशाहों के दरबार की शोभा बन चुका था। इसी समय कुछ नई शैलिय० भी प्रचलन में आईं जैसे खयाल, गजल आदि और भारतीय संगीत का कई नए वाद्यों से भी परिचय हुआ जैसे सरोद, सितार इत्यादि। बाद में सूफी आंदोलन ने भी भारतीय संगीत पर अपना

प्रभाव जमाया। आगे चलकर देश के विभिन्न हिस्सों में कई नई पद्धतियों व घरानों का जन्म हुआ। ब्रिटिश शासनकाल के दौरान कई नए वाद्य प्रचलन में आए। आम जनता में भी प्रसिद्ध आज का वाद्य हारमोनियम, उसी समय प्रचलन में आया। इस तरह भारतीय संगीत के उत्थान व उसमें परिवर्तन लाने में हर युग का अपना महत्वपूर्ण योगदान रहा।भारतीय शास्त्रीय संगीत का आधार भारतीय शास्त्रीय संगीत आधारित है स्वरों व ताल के अनुशासित प्रयोग पर।सात स्वरों व बाईस श्रुतियों के प्रभावशाली प्रयोग से विभिन्न तरह के भाव उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है। सात स्वरों के समुह को सप्तक कहा जाता है। भारतीय संगीत सप्तक के ये सात स्वर इस प्रकार हैं:-

षडज (सा), ऋषभ (रे), गंधार (ग), मध्यम (म), पंचम (प), धैवत (ध), निशाद (नि)।

सप्तक को मूलतः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है...मन्द्र सप्तक, मध्य सप्तक व तार सप्तक। अर्थात सातों स्वरों को तीनों सप्तकों में गाया बजाया जा सकता है। षड्ज व पंचम स्वर अचल स्वर कहलाते हैं क्योंकि इनके स्थान में किसी तरह का परिवर्तन नहीं किया जा सकता और इन्हें इनके शुद्ध रूप में ही गाया बजाया जा सकता है जबकि अन्य स्वरों को उनके कोमल व तीव्र रूप में भी गाया जाता है। इन्हीं स्वरों को विभिन्न प्रकार से गूँथ कर रागों की रचना की जाती है। राग क्या हैं। राग संगीत की आत्मा हैं, संगीत का मूलाधार। राग शब्द का उल्लेख भरत नाट्यशास्त्र में भी मिलता है। रागों का सृजन बाईस श्रुतियों के विभिन्न प्रकार से प्रयोग कर, विभिन्न रस या भावों को दर्शाने के लिए किया जाता है। प्राचीन समय में रागों को पुरुष व स्त्री रागों में अर्थात राग व रागिनियों में विभाजित किया गया था। सिफ यही नहीं, कई रागों को पुत्र राग का भी दर्जा प्राप्त था। उदाहरणतः राग भैरव को पुरुष राग, और भैरवी, बिलावली सहित कई अन्य रागों को उसकी रागिनियां तथा राग ललित, बिलावल आदि रागों को इनके पुत्र रागों का स्थान दिया गया था। बाद में आगे चलकर पं विष्णु नारायण भातखंडे ने सभी रागों को दस थाटों में बांट दिया। अर्थात एक थाट से कई रागों की उत्पत्ति हो सकती थी। अगर थाट को एक पेड़ माना जाए व उससे उपजी रागों को उसकी शाखाओं के रूप में देखा जाए तो गलत न होगा। उदाहरणतः राग शंकरा, राग दुर्गा, राग अल्हैया बिलावल आदि राग थाट बिलावल से उत्पन्न होते हैं। थाट बिलावल में सभी स्वर शुद्ध माने गए हैं अतः तकनीकी दृष्टि से इस थाट से उपजे सभी रागों में सारे स्वर शुद्ध प्रयोग किए जाने चाहिए। मगर दस थाटों के इस सिद्धांत के बारे में कई मतांतर हैं क्योंकि कुछ राग किसी भी थाट से मेल नहीं खाते मगर उन्हें नियमरक्षाहेतु किसी न किसी थाट के अंतर्गत सम्मिलित किया जाता है। किसी भी राग में ज्यादा से ज्यादा सात व कम से कम पांच स्वरों का प्रयोग करना जरूरी है। इस तरह रागों को मूलतः ३ जातियों में विभाजित किया जा सकता है...

१) औडव जाति जहाँ राग विशेष में पाँच स्वरों का प्रयोग होता हो

२) षाडव जाति जहाँ राग में छः स्वरों का प्रयोग होता हो

३) संपूर्ण जाति जहाँ राग में सभी सात स्वरों का प्रयोग किया जाता हो।राग के स्वरूप को आरोह व अवरोह गाकर प्रदर्शित किया जाता है जिसमें राग विशेष में प्रयुक्त होने वाले स्वरों को क्रम में गाया जाता है। उदाहरण के लिए राग भूपाली का आरोह कुछ इस तरह है:सा रे ग प ध सां।

किसी भी राग में दो स्वरों को विशेष महत्व दिया जाता है। इन्हें वादी स्वर व संवादी स्वर कहते

हैं। वादी स्वर को राग का राजा भी कहा जाता है क्योंकि राग में इस स्वर का बहुतायत से प्रयोग होता है। दूसरा महत्वपूर्ण स्वर है संवादी स्वर जिसका प्रयोग वादी स्वर से कम मगर अन्य स्वरों से अधिक किया जाता है। इस तरह किन्हीं दो रागों में जिनमें एक समान स्वरों का प्रयोग होता हो, वादी और संवादी स्वरों के अलग होने से राग का स्वरूप बदल जाता है। उदाहरणतः राग भूपाली व देशकार में सभी स्वर समान हैं मगर वादी व संवादी स्वर अलग होने के कारण इन रागों में आसानी से फर्क बताया जा सकता है। हर राग में एक विशेष स्वर समुह के बार बार प्रयोग से उस राग की पहचान दर्शायी जाती है। जैसे राग हमीर में श्ग म धश का बार बार प्रयोग किया जाता है और ये स्वर समूह राग हमीर की पहचान हैं।

मुगल-कालीन शासन के दौरान ही शायद रागों के गाने बजाने का निर्धारित समय कभी प्रचलन में आया। जिन रागों को दोपहर के बारह बजे से मध्यरात्रि तक गाया बजाया जाता था उन्हें पूर्व राग कहा गया और मध्यरात्रि से दोपहर के बीच गाए बजाए जाने वाले रागों को उत्तर राग कहा गया। कुछ राग जिन्हें भोर या संध्याकालीन समय में गाया जाता था उन्हें संधि प्रकाश राग कहा गया। यही नहीं कुछ राग ऋतु प्रधान भी माने गए। जैसे राग मेघमल्हार वर्षा ऋतु में गाया जाने वाला राग है। इसी तरह राग बसंत को बसंत ऋतु में गाए जाने की प्रथा है।

हमारी संस्कृति का एक स्तंभ भारतीय शास्त्रीय संगीत, जीवन को संवारने और सुरुचिपूर्ण ढंग से जीने की कला है। यह आधार है हर तरह के संगीत का साथ ही ऐसी गरिमामयी धरोहर है जिससे लोक और लोकप्रिय संगीत की अनेक धाराएँ निकलती हैं जो न सिर्फ हमारे तीज त्योहारों में राग रंग भरती हैं बल्कि हमारे विभिन्न संस्कारों और अवसरों में भी उल्लासमय बनाते हुए अनोखी रौनक प्रदान करती हैं।

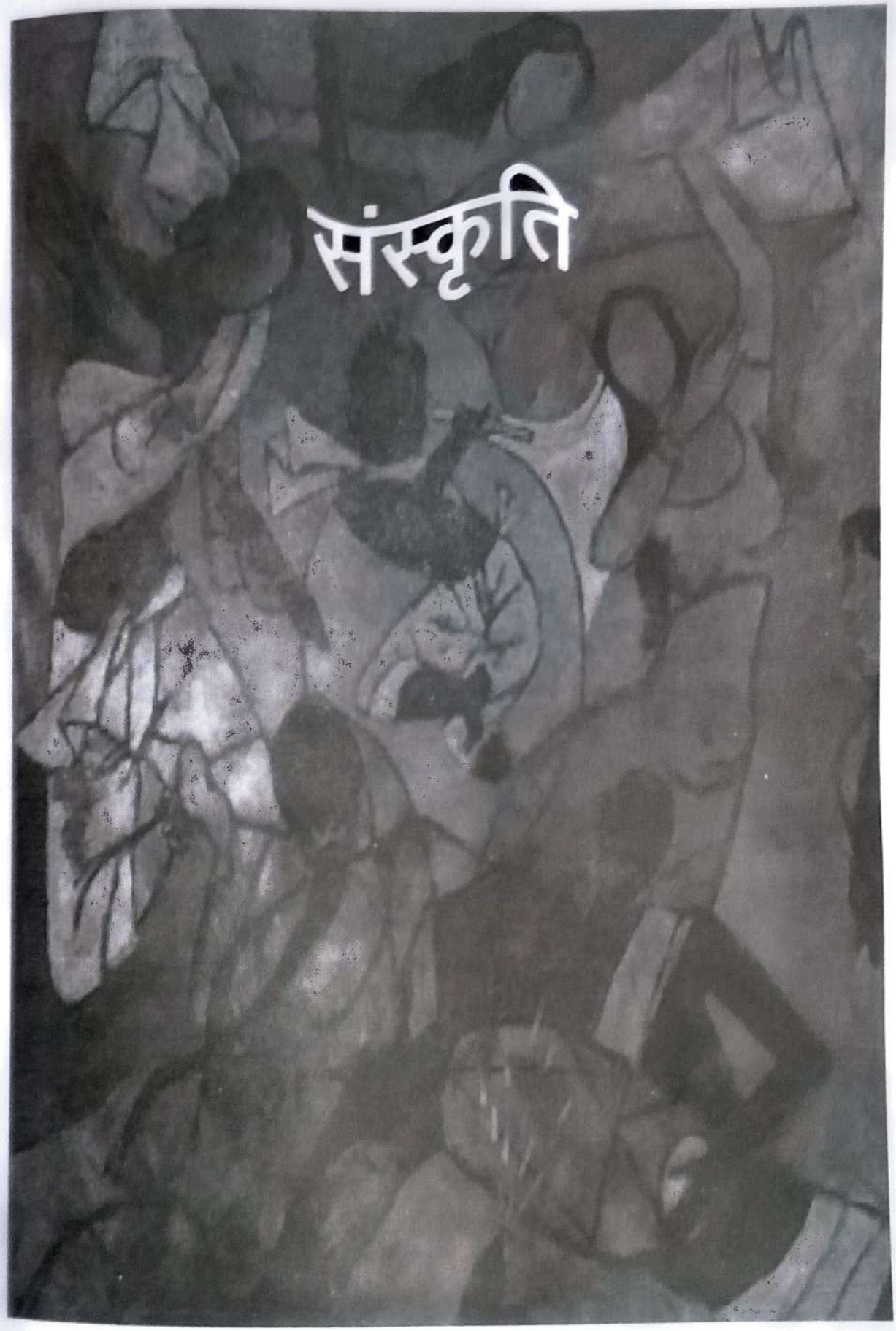
संस्कृति

भारतीय शास्त्रीय संगीत की आधारशिला रूपी सांस्कृतिक भाषा संस्कृत

डॉ. मधु भट्ट तैलंग

एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

संस्कृत को देववाणी भी कहा जाता है इस दृष्टि से उसका भारतीय सांस्कृतिक महत्व एवं योगदान स्वतः प्रत्यक्ष हो जाता है क्योंकि भारत आध्यात्मिक अथवा धर्म प्रवण देश है अतएवं भारत के प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक के संगीत पर यदि हम दृष्टिपात करें तो संगीत की उत्पत्ति, संगीत का प्रयोग, शास्त्र, रचनाएं एवं प्रस्तुतियां आदि सभी दैवीयता से ओतप्रोत हैं। हमारे देश में प्राचीनकाल से यज्ञ का प्रावधान है। यज्ञ द्वारा आधि दैनिक विभूतियों को प्रसन्न करना उद्देश्य होता था, ये देवी देवता संगीत प्रिय थे ब्रह्मा गाते थे, विष्णु शिव, गणेश मृदंग बजाते थे,शिव डमरू के प्रणेता व उत्कृष्ट नर्तक थे एवं पार्वती भी नृत्यविशारदा थीं, कृष्ण वंशी बजैया रहे आदि-आदि। आदि मानव की भावाभिव्यक्ति हेतु प्रयुक्त ध्वनियां आदि ने जब भाषा का आवरण ओढ़ा, तब सबसे पहले स्वर अथवा व्यंजन का व्याकरण गढ़ने की माध्यम जो भाषा बनी वह प्राथमिक रूप से संस्कृत भाषा के होने के ही प्रमाण प्राप्त होते हैं। दशम शती ई. उत्तर के आचार्य अभिनवगुप्त ने भी अभिनवभारती में लिखा है - इह येयं प्रथमेन संवित्स्पन्देन प्राणोल्लासनया वर्णादिरूप विशेषहीना वाग्जन्यते।" बाद में ऋग्वेद में उदात्त अनुदात्त एवं स्वरित आदि स्वरोच्चारण भेद समक्ष हुए, ये तीनों नियत एवं अवधान के अनुसार इस प्रकार व्याख्यायित किये गये कि "तीनों भावबोधक, हैं जब स्थायित्व लेते हैं, तो वही स्वर का रूप ले लेती हैं ये कथ्य एवं तथ्य संगीत और उसकी भाषा के मनोवैज्ञानिक उद्भव के मूल में कहा जा सकता है। उसी कथ्यानुसरण के कारण हमें लौकिक एवं वैदिक संस्कृत जैसे दो भेद भी प्राप्त हुए।संस्कृत के भारत में आविर्भाव का संबंध सिंधु घाटी के सभ्यता एवं आर्यों से माना जा सकता है।

उनकी व्यवहृतभाषा संस्कृत ही होने के उससे उल्लेख प्राप्त होते हैं। सामने है आर्यों की संगीतज्ञता का ज्वलन्तोदाहरण है। वे स्वयं इन्द्रसूर्य आदि के उपासक ही संबद्ध थे एवं इनके कैस्पियन सागर किनारे रहने का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका क्षेत्र वैष्टीरिया इरान जम्मू काश्मीर व पंजाब के आसपास का माना जाता है कुछ ने अज़र बैजार आदि को भी माना है। 1500 वर्षों से लेकर 2500 वर्ष ईसा पूर्व भारत पर आक्रमण में विकसित प्राप्त होते हैं। कुछ वेदों की संहिता का 1000 वर्ष ई. पूर्व से मानते हैं जब ऋग्वेद भारत का प्राचीनतम ग्रन्थ काश्मीर व

पंजाब में प्रकाशित हुआ था (भारतीय संगीत का इतिहास रामअवतार वीर, पृ. 43)। कुछ विद्वान इसे 25-50 सहस्त्र पूर्व का भी मानते हैं कुछ 10,000 वर्ष समय बताते हैं। वेदों में सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद था, वेद मंत्रों के संग्रह या संहिता के रूप में समक्ष हुए। ऋग्वेद में मंत्रों की संख्या लगभग 10589, यजुर्वेद में 1975, अथर्ववेद में (अनिश्चित) एवं सामवेद में 1873 मंत्रों की संख्या मानी गई। विद्वानों ने संस्कृत भाषा उद्भव से विकास का समय लगभग 6000 वर्ष ई.पू. माना है। इसके बाद वेद रचना का समय आया एवं संगीत स्वरों की रचना भी लगभग 6000 वर्ष ई.पू. अनुमानित है (भारतीय संगीत का इतिहास - रामअवतार वीर, पृ. 115)

'संगीत' शब्द की उत्पत्ति उसके व्याकरण, शास्त्र, प्रयोग एवं उसको उद्घाटित करने वाले ग्रंथों की रचना के विकास का सम्पूर्ण आधार एवं माध्यम आध्यात्मिकता, धर्म प्रवणता एवं संस्कृत भाषा से अनुप्राणित रहा है। भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय में कथन है कि ''भारतीय जन श्रुति के अनुसार वैवस्वत मन्वंतर में त्रेता युग लगने पर 'इन्द्रादि देवों ने भगवान ब्रह्मा से प्रार्थना की कि हम कुछ दृश्य व श्रव्य क्रीड़नीयक देखना चाहते हैं तब ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, साम से गीत, यजुर्वेद से अभिनय व अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यवेद के रूप में 'नाट्यशास्त्र' की सृष्टि की। ये नाट्यवेद 'देव एवं ऋषियों द्वारा अग्राह्य था तब ब्रह्मा ने भरत की एवं भरत ने पुत्रों कोहल एवं दत्तिल आदि को नाट्यशास्त्र (नाट्यवेद) द्वारा शिक्षित किया एवं संस्कृत भाषा में संगीत की सम्पूर्ण विशेषणों से युक्त परिभाषा बनी -

''सम्यक् प्रकारेण यद् गीयते

''यत्संगीतम्''

'संगीत रत्नाकर' में भी कहा गया ''गीतं वाद्यं तथा नृत्यत्रयं संगीतमुच्यते''। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदी' में कहा है कि ''शब्द रूप ब्रह्मा अनादि, विनाश रहित एवं अक्षर युक्त है, उसकी विवर्त प्रक्रिया से ही यह संसार अर्थात जगत भासित हुआ है ''अतएवं ब्रह्मा, द्वारा रचित वेद ही भारतीय मनीषा एवं ज्ञान के मूल स्त्रोत हैं। जो कि संस्कृतनिष्ठ हैं एवं जिसका आधार लेकर भारतीय संगीत का कलेवर बना। 'ब्रह्म' ओम् वाचक हैं, जो अकार, इकार, उकार एवं मकार के समन्वय से ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश त्रिदेव रचना है एवं ओंकार साधना से त्रिदेव की आराधना भारतीय संस्कृति का मुख्य प्रतिपाद्य है। 'मनु स्मृति' में कहा गया है ऋग्यजुः साम से ही कमश अ उ म अक्षरों से ओउम् बना है। ये छ स्वदीर्घप्लुत (1-2-3 मात्राओं) से उच्चारित होता है। संगीत का उद्गम इसी ओम से होने की आध्यात्मिक मान्यता है। ऐसा उल्लेख किया गया है कि ब्रह्मा ने शंकर, शंकर ने सरस्वती एवं सरस्वती ने स्वर्ग व भूलोक के मध्यस्थ सेतु, नारद एवं नाद से गंधर्वों को गायन, अप्सरा को नृत्य व किन्नर को वादन की विद्या प्रदान की। इस प्रकार संगीत की परिभाषा प्राप्त हुई - **गीतं, वाद्यं, नृत्यं त्रयम् संगीतमुच्यते।'**

भारतीय संगीत के व्याकरण, गान शैली, उच्चारण एवं गीत के भागों आदि की रचना पर संक्षिप्त रूप से दृष्टिपात करें तो प्रत्येक संगीत का आधार लोक एवं तदाधारित शास्त्रीय संगीत की संरचना अथवा विस्तार के रूप में समक्ष हुआ, जैसे कि लौकिक साम व ऋक गीत में वैदिक और लौकिक संस्कृत के प्रयोग का उल्लेख प्राप्त है। वैदिक साम के रूप में भी संस्कृत का लौकिक व शास्त्रीय रूप प्राप्त हुआ। वेदों एवं उसके बाद वेदों की व्याख्या एवं उसका विस्तार करने वाले ब्राह्मण आरण्यक,

उपनिषद, पुराणों, महाभारत, रामायण, जैन, बौद्ध एवं कनिष्क से लेकर मध्ययुग तक के ग्रंथों की भाषा प्रमुखरूप से संस्कृत भाषा द्वारासमक्ष हुआ।यद्यपि भारतीय संगीत के आध्यात्म व उसमें प्रयुक्त संस्कृत का प्रभाव आधुनिक संगीत एवं वर्तमान संगीत-प्रकारों में भी पूरे सम्मान व गरिमा के साथ प्राप्त होता है।

पुरातन से लेकर वर्तमान संगीत पर संस्कृत भाषा की प्रयुक्ति की दृष्टि से विचार किया जाये तो 'हमारे संगीत में गांधर्व-गान, मार्गी-देशी संगीत, ऋक, पाणिका गाथा, वृत्त गीत ''प्रकरण गीत, गाथा-नाराशंसी आदि भेदों के माध्यम से भारतीय संगीत में समानान्तर रूप से प्रवाहित लोक व शास्त्रीय संगीत का स्वरूप देखा जा सकता है। उनमें स्तोमाक्षरों हिंकार आदि का प्रयोग भी इसी का एक रूप माना जा सकता है। 14 प्रकरण गीतों के रूप में छन्दोबद्ध अथवा तालबद्धता संगीत को प्राप्त हुई। भारतीय संगीत में प्रयचुक्त 'ऊँ' का समावेश वेदों की देन है, जो भारतीय संस्कृति की द्योतक है। जो भारत में अवस्थित समस्त धर्मों का आधार भी बना। 'रूद्र डमरू भवसूत्र' एवं ''नंदिकेश्वर कारिका'' के अनुसार शंकर के डमरू से व्याकरण के 14 सूत्र प्राप्त हुए। ये मंहेश्वर सूत्र समस्त वाङ्गमय तथा इसमें प्रदर्शित स्वरवर्ण संगीत स्वरों का आधार है। स्वर वर्णों का सांगीतिक रूप भी है। छन्दबंधान के अन्तर्गत अनुष्टुप के 83 अरब चरण, त्रिष्टुप के 11, जगती 12 अक्षर के, 9 अक्षरों के चरण को बृहती, 1038 चरणों के पंक्ति चरणों के द्वारा भारतीय संगीत के छन्छों व तालों को आधार प्राप्त हुआ एवं शब्दों का अनुशासित विभाजन किया गया। हस्त, दीर्घ प्लुत से 1,2 एवं 3 मत्रिकण के द्वारा लयसंधान का मार्ग प्रशस्त हुआ। इसे व्यवहार में लाने के लिए जो ब्रह्मप्रोक्त मां स्तौमाक्षर हमें प्राप्त हुए जिसका 'संगीत रत्नाकर' में भी विवेचन प्राप्त है वे हैं - ''झण्टुं जगतिय, वलितक, कुचझल तितिझल पशुपति दिगिदिगि दिग्रे गणपति तितिधा। (संगीत रत्नाकर अडियार संस्करण तालाध्याय पृ. 426, ओंकार व हिंकार आदि व्यंजनपरक स्तोभाक्षरों का प्रयोग भी वेदों में प्राप्त है।) मतंग द्वारा निर्देशित राग-साधना के रूप में एवं संगीत रत्नाकर तक गीत-रचना शास्त्रीय रूप में पूर्णतः समक्ष हुई एवं हमें यह परिभाषा प्राप्त हुई ''भाषा, स्वर एवं गति से युक्त रचना 'ध्रुवा कहलाई एवं नियत पद समूह वाक्य, वर्ण, अलंकार, यति, पाणि एवं लय का पारस्परिक संयोग ले वह ध्रुवा कहलाया एवं वह जिस समन्वित रचना के रूप में समक्ष हुई, उसे 'पद' कहा जा सकता है। ('ध्रुव' में प्रयोज्य काव्य 'ध्रवपद' कहलाता है - संगीत चिंतामणी - आ. बृहस्पति, पृ. 75) गीत भागों के रूप में लौकिक साम के भाग प्रस्ताव, उद्गीथ, उपद्रव निधान संगीत रत्नाकर तक आते-आते उद्ग्राह, अनुद्ग्राह, ध्रुवक आभोग एवं अन्तर के रूप में विकसित हुए जो कि कालान्तर में ध्रुवपद से लेकर वर्तमान तक की शास्त्रीय, सुगम व लोक संगीत के आधार बने।

शारीरिक रूप से संस्कृत भाषा का निकास एवं विकास निम्नानुसार देखा जा सकता है। संस्कृत की वर्णमाला प्राकृतिक ध्वनि पर आधारित है यह विविध वाक इंद्रियों के स्वतंत्र एवं सम्मिलित स्पर्श से निकलती है उससे उत्पन्न ध्वनि ही स्वर कहलाती है। संस्कृत में पांच शब्द प्रमुख व्याकरण शास्त्रियों ने माने हैं - ''आ ई ऐ ओ ऊ', जिन्हें विकसित रूप में निम्नानुसार देखा जा सकता है -

कण्ठ - अआआ - क ख ग घ ड़ ह (उष्म स्वर)

जिव्हा - इ ई चक ज झ ञ य (अन्तस्थ) श (उष्म)

ओष्ठ - उ उ ऊ - प फ ब भ म्

तालू - रि ऋ - च छ ज झ अ्

दन्त - लश ली - त थ द ध न ल (अन्तरा) स (उष्म)

कण्ठ जिव्हा - ए ऐ,

कण्ठ लालव्य - ए ऐ

मूर्धा - ऋ ट ठ ड ढ ण, 2 (अन्तस्थ) ष (उष्म)

कण्ठ ओष्ठ - ओ ऑ

नासिका ऊं ई उं ड् अ् ण् न म

कण्ठ - अ इ उ

ह्रदय - अ इ उ ऋ, दीर्घ स्वर - आ ई ऊ ओ औ, प्लु वआई उ

इन व्यंजनों की खासियत यह गले से कोमलता, कठोरता एवं प्राणवायु केदवान होने एवं दबाव से ये व्यंजन पैदा होते हैं इस कारण से इन्हें अन्तस्थ उष्म, स्पर्श, घोष, अघोष, अल्पप्राण महाप्राण आदि से जाना जाता है।

स्वरों व व्यंजनों के उच्चारण भेद के आधार पर छस्व, दीर्घ लुप्त एवं उदात्त, अनुदात्त एवं त्वरित प्राप्त होते हैं। ऐसा कहा जाता है कि अ इ उ ही संगीत में षडज, ऋषभ, गंधार आदि रूप में परिणित हुए। ''रूद्रडमरूद् भव सूत्र विवरण'' स्वर का ऊंचा नीचा पन एवं छोटा बड़ा पन आदि नाद के गुणों का विस्तार इसी आधार पर प्राप्त हुआ। वेदों के काल में त्रिस्वर गायन था जो आर्चिक, गार्थिक एवं सामिक रूप में प्राप्त था, इन्हीं त्रिस्वर गायन का विस्तार 'सप्त स्वशस्तु गायन्ते सागौः बुधः कथनानुसार सप्त स्वरों के आधार पर प्राप्त हुआ जिसकी व्याख्या संस्कृत भाषा के माध्यम से निम्नानुसार है।

Depletion of Forests in Punjab and the Bangala tribe

Dr. Harinder Kaur

Senior Lect. in Sociology, Dept. of Distance Education, Punjabi University, Patiala

This paper is an attempt to focus on the plight of Bangala tribe in Punjab who are not only subjected to marginalization and increasing pauperization but bear the brunt of shrinking resource base that endangers the very means of their livelihood. Their problems are multidimensional and multifarious and their mode of expression in different parts of Punjab led me feel that we need a composite picture of these people so that their problems of life and livelihood are redressed. Such project cannot be launched without a comprehensive knowledge of the spatial, economic, socio-cultural aspects of this community. The official misrecognition of the tribe as has been made in the Punjab might prove unfortunate and dangerous even for the very existence and sustenance of this and other tribes.[1] The present state of Indian Punjab is one of the smallest states in the north-west of the country with a total geographical area of 5.036 million hectares. It is a small fraction of the area that it initially covered, and was spreading right up to the border of Afghanistan in the west, Jammu and Kashmir in the north, Uttar Pradesh in the north east. It was named after five rivers, *punj* means five and *ab* means water, hence *punj+ab, that is* Punjab. Its politico-territorial division in 1947 left larger fertile area and three rivers in the Panjab of Pakistan.[2] The Indian counterpart got further divided into two states when Haryana came into existence in 1966 while in 1971 the hilly tract of the state was merged into the state of Himachal Pradesh that got the major forest cover of the undivided Punjab.

The British Empire had declared the Bangala a criminal tribe under the Criminal Tribes Act of 1872 that was later modified in 1911. According to David Arnold, 'the Criminal Tribes Act was used against "wandering groups", nomadic petty traders and pastoralists, gypsy tribes, hill and forest dwelling tribe, in short, against a wide variety of marginal who did not conform to the colonial patterns of settled agricultural and wage labour.'[3] The Criminal Tribes Act remained enforced even after India's independence on 15 August

1947. Finally, the derogatory tag of 'criminality' was removed from all such tribes of the country on 31 August 1952. Now they are called denotified tribes or *Vimukt Jatis*. It is ironical that the tribes of Punjab along with others celebrate this day as the day of their 'independence' and not 15th August. However, in Punjab, this independence did not promise any special facility to educate these people to bring them into the mainstream and the state government has hardly any programme to rehabilitate them with the guaranty of livelihood.

Introduction to the tribe: Thus far information regarding the Bangala tribe is sparse. There are some details available in *A Glossary of the Tribes and Castes of the Punjab and North–West Frontier Provinces (Vol. II)* published in 1883 and reprinted in 1970.[4] A meager detail is also available in the *People of India (Punjab)* volume edited by the former director general of the Anthropological Survey of India, K. Suresh Singh.[5] The people of this tribe are easily identified from their long robed attire of saffron (*jogia*) colour carrying a long shoulder bag with them hence named *ik jholiwale jogi* while others who carry two such bags are named *do jholiwale jogi*. These *jholis* (bags) serve many purposes such as for carrying one or two snakes contained in a *patari* (cane box) and a *been* (a musical instrument made of gourd pipe). They collect alms and donations in the form of grain or wheat flour (*atta*) given by the viewers who may sometimes prefer giving such items to cash reward or payments especially in the rural areas while in the cities or towns they are given coins instead or other currency notes sometimes.

The people of this tribal community are distributed all over the country which is why they are known by different names at different places. K. Suresh Singh in his enumeration and identification of communities in his multi volume project mentioned above notes that these people are also known as Bangali, Sapera, Sapela, Sapado or Jogi in different parts of the country.[6] In Punjab they call themselves Jogi Naths the followers of Machhandar Das who was himself a Nath jogi. They do not like themselves to be known as Bangala though for people at large they are one and the same thing.

Population: According to the *Census of Punjab* (1981), the total population of Bangala tribe in the state was 1600, that is, 846 males and 754 females. This figure rose to 7765 in 2001 out of which 2722 persons were living in rural areas and 5043 in urban areas. Contrary to this, if we go by the estimate of these people themselves, their number is no less than 15000. They have maximum concentration in the Ropar district (3304) and lowest in the districts of Gurdaspur (47) and Amritsar (38). Otherwise they are spread all over the state. Since a large

majority of them are nomads still, it is rather difficult to know their exact population. They do not have any village or city of their own though some of them especially of the younger generation are settling down. The government too puts pressure on them for settlement as also the modern market. They have made their own settlements (*bastis*) in and around various cities and towns of the state. In the villages their population is ranging from 38 to 500 persons as per the *Census of Punjab* 2001.[7] At a few places like Dugri and Machhiwara in the Ludhiana District and Rampura Phul in the Bhatinda District they have permanent settlements comprising of nearly 60 to 70 houses each. They are also fairly distributed in the districts of Sangrur, Jalandhar, Kapurthala, Muktsar and Hoshiarpur.

Costumes:

The males of this community wear Rajasthani type turban, a long shirt (*kurta*) with jacket and *dhoti* (wrap around legs for males). They also wear *mundran* (ear rings) and *mala* (a string of beads) around their necks. When they move out on their *pheri* (rounds), they usually choose *jogia* (saffron) colour for their dress. But when they are at home they wear clothes normally worn by the Punjabi people such as a *kurta–pajama* (loose shirt and trousers as of night suit). The younger generation prefers pants–shirt. The women wear *salwar-kameez* (trousers and shirt) with a *dupatta*, a head scarf of large size.

Habitat: Their habitation is always away from the local population mainly on the deserted places, vacant plots or along the roads or railway tracks. Some of them do have concrete (*pucca*) houses as the government has also allotted them some small plots under such schemes of the government of India as the *Indra Awas Yojna* and advanced them some money too for building one room houses but most of them live in *kullis* or *jhuggis* (huts) made of bamboo. This is the low level of their poverty.

They vertically cut the bamboo sticks, mould them into half circles and ûx them in the ground. Its roof is made with pieces of split bamboos put together covered with *godri* (a quilt type cloth made out of cut pieces of cloth and used for various purposes like bed sheets, blanket, carpet, cover of *kulli* etc.) or coarse cotton cloth or sacks etc., whatever is easily available to them. To make it water-proof it is further covered with polythene or a tarpaulin. These huts are round, plastered with clay and a hearth inside. At the back of each there is a bathing place. Earlier the Bangala people used to sleep on the ûoor but nowadays many of them use folding cots as well. They have their own story to narrate as to why they are nomadic and sleep on the flour as would be clear from their history below.

History: They do not know much about their history but one thing they are sure about is their Rajput ancestry, a warrior upper caste in the hierarchical caste system. They narrate that their ancestor Gandhila Chauhan, who was murdered by the Muslim invaders from Iran, once ruled Delhi which subsequently came under the Mughal rule. Maharana Pratap of Chittor in Rajasthan an important principality of the Mughal period in Akbar the Great's regime was defeated by the latter, much before the advent of the colonial rule. Thence started the miseries of Chauhan Rajputs. In order to survive they migrated from their native place and took shelter in the jungles. A few of them came to Punjab as well. Since these people owe allegiance to Maharana Pratap, a legendry Rajput known for his bravery who gave stiff resistance to Akbar, they were chased by the royal army. They fondly narrate that when they moved out from their native place they took a vow neither to live in the concrete houses nor to sleep on the cot (as they sleep on ûoor) till they regain their lost kingdom.

This is how destiny made these people wear a yogi's (*jogi*) dress which is usually a saffron coloured long gown (*chola*) as explained above. They claim to have disguised themselves as snake charmers holding a *been* in their hands and making a snake play on its tune. They did not settle at a place because they could not, thus they became nomadic, roaming here and there in search of livelihood. These people consider themselves Kshatriya Rajputs, a warrior caste and believe that their ancestors belonged to Bikaner, Ganganagar and Jaisalmer districts in Rajasthan. Now they consider Sirsa in Haryana as their native place.

Though they call themselves Kshatriya but they do not have intra-community caste divisions. They claim the Rajput status probably because it would give them prestige. This further, shows that they have imbibed some mainstream cultural understanding of caste hierarchy and higher status of the Kshatriya. They probably feel that in the larger Punjabi society of brave and warrior men, their claim of high caste origin would enhance their social status. It is pertinent to note that during field investigation it was found that they do not have any social relations with other communities. They are a 'closed' community. One dominant feature of this tribe, as mentioned by B.P. Singh is 'that it neither has caste like hierarchy within this social structure nor does it operate within the caste system.'[9] He further mentions that 'As a matter of fact, it operates outside the mainstream caste system or on its periphery. The patron-client relation characteristic of caste is absent within and outside the tribe as well as in their relations with other communities. An old man of the tribe aptly puts the relationship of his community with other communities

as that of *mangan khan di sanjh*, literally a tie or bond of begging to eat.'[10]

Food, Occupation and the Forest: For the tribal community forest is not only a home but a storehouse of their daily routine food as well. A forest is a rich source of food for both the vegetarian and non-vegetarian. Furer-Haimendorf writes about the Indian tribes: All the tribal populations Andhra Pradesh were traditionally closely associated with forests, and there are some who even today spend the greater part of their lives in the proximity of trees. It is for this reason that aboriginals were often referred to as *jangli*, today a derogatory term standing for "uncouth" or "uncivilized" but literally meaning "forest dweller". Tribal communities living in settlements surround by forest regarded these woods as much their own as old style pastoralists considered the grass-lands over which their herds were ranging as their own preserves,... In Northeast India there are to this day tribes among whom specific forest tracts with clearly defined boundaries are claimed as clan or village property, where only members of the clan or village in question are allowed to hunt or cut firewood. Ownership over forests is there clearly defined and generally recognized.[11]

The Bangala people are predominantly non-vegetarian though food grain, pulses and cereals constitute their daily routine diet. They hunt out the prey of their choice and make good food out of that. It has been informed by the respondents that they relish *kachhu* (tortoise), *goh* (large lizard), *saha* (hare), *billa* (cat), *neola* (mongoose), *giddar* (jackal), *kukad* (chicken), *jangli sur* (wild boar) etc. that is why they still prefer to settle along the banks of ponds and canals or on the fringes of forests due to the availability of animals for hunting.

The elderly respondents informed that earlier hunting used to be a group activity and the prey was equally distributed amongst all the members of the group. But now when there is a check on their movement in the forest as well as restrictions imposed on them by the forest officials following the Punjab Forest Act, group hunting is no longer possible. Thus hunting has become a personal, at the best a family affair. Despite the government's ban on hunting it is still done illegally since these utterly poor people have no alternative for subsistence but to collect whatever they can from the forest for free. The rising prices of the staple food are sheerly prohibitive. These people who had been meat eaters till late cannot afford to buy meat from the market. It is a different matter that they relish only their own prey since they are keen hunters and are reluctant to buy meat from the market.

The important issue is that the nomadic Bangala people are highly dependent on the forest not only for their food and habitat but also for their traditional occupation which is why

their very survival is threatened as a result of shrinking resource base. This tribe depends on large and dense forests for capturing snakes to eke out their living by making public shows for collecting alms/money from people. The snake playing to the tune of *been* attracts all especially children who rally around the snake charmer. These people also help in capturing snakes from households or such places with secure hideouts for the reptiles and inaccessible to the residents there. It might be a storehouse of husk or dry fodder, a granary etc. When a snake is brought out and captured, then some payment is also obtained by them from the resident or the owner of property. So a Bangala charmer walks away with a snake and some payment in cash or kind.

Another source of income is selling medicines made of various herbs found in the forest only. These people consider themselves *hakeems* (traditional doctors or quacks in modern parlance) who make home-made or traditional (*desi*) medicines for various ailments like the bite of a snake, dog or mongoose, dental carries, arthritis, fever, tuberculosis, piles, blood sugar, indigestion and various skin and eye problems. An oil prepared from the desert lizard (*sanda*) by frying it in edible oil and sometimes roasting it alive in the fire is found useful for skin diseases, as well as for arthritis and joint pains. Clove oil is also medicated by adding a few herbs to it which are collected from the forest only for the treatment of various problems related to teeth. A special kind of *surma* (eye powder) is prepared from the snake poison which is beneficial for various eye ailments. Not only that, it also strengthens the normal vision as well. Other types of oils are also prepared by adding herbs to them that help in keeping the hair black and long. That is why it is claimed by them: 'You will not come across a Bangala person with spectacles and grey hair even up to the age of 80 years.'

They also engage in illicit selling of snake venom which is used in preparation of various *ayurvedic* (Indian system of medicine) and allopathic medicines. It gets them good income. They are aware of this offense of defying the government orders but for want of money indulge in this trade. Recently a member of this community was apprehended for the said offense by the police at the state capital, Chandigarh for keeping about two dozen poisonous snakes. The same is the case with the tortoise carcass which fetches them good price in the grey market. They eat the flesh and market the remaining part.

Three main factors are coming in the way of this community's dependence on the forest. One is the promulgation and implementation of the Forest Act that made forests a property of the state at one stroke. The other one is the project of green revolution which this state

implemented with such an aggressive manner that the Punjab peasant became a model for the rest of the country to emulate for its progressive orientation, hard work and patriotism for filling the country's godowns of grain to feed the fellow countrymen. And the last one, a consequence of the second one that led to rapid and expansive urbanization.

1. Forest as state property: The failure of the 1857 Indian struggle for independence against the British allowed them to treat the people and its resources for the benefit of the colonial empire. The Forest Department was established as early as 1864 and by the stroke of a pen the whole forest land was made the property of the government. The traditional rights of the tribal and other communities stood withdrawn. Furer-Haimendorf writes that While they were forbidden to take even enough wood to build their huts or fashion their ploughs, they saw contractors from the lowlands felling hundreds of trees and carting them off,... Where tribals were allowed access to some of the forest produce, such as grass or dead wood for fuel, this was considered as a "concession" liable to be withdrawn at any time. The traditional de facto ownership of tribal communities was now replaced by the de jure ownership of the state, which ultimately led to the exploitation of the forest resources with total disregard for the needs of the tribal economy.[12]

Commenting on the British exploitation of the Indian forests, Ramchandra Guha writes: Whereas the first century of British rule was characterized by a total indifference to forest conservancy, by 1860 Britain had emerged as the world leader in deforestation, devastating its own forests and the forests of Ireland, South Africa, northern United States, and parts of coastal India to draw timber for ship building, iron smelting and farming. In India, a generally hostile attitude to forest preservation was reinforced by the belief, widespread among colonial administrators, that forests were an impediment to the expansion of agriculture and consequently to the generation of land revenue.[13]

Guha continues: 'The edifice of colonial forestry was inherited by the government of independent India, and immediately put to work in the service of the state's primary goal of rapid industrialization. The national forest policy of 1952 underlies the continuity of colonial and post-colonial policies: upholding the "fundamental concepts" of its predecessor, the forest policy of 1894, it reinforced the claim of the state to exclusive control over forest protection and production.'[14]

The independent Indian government's policy is no less different from its colonial predecessor. The forests under state control are leased out to the contractors who let the hell loose on its produce without any regard

for the people surviving on these. Furer-Haimendorf cites the case of a south Indian tribe: For the Chenchus, the destruction of bamboo in their habitat will be catastrophic. They depend on bamboo not only for the construction of their huts and for making many of their utensils, but above all for the manufacture of baskets and mats, which they traditionally sell or barter for agricultural produce. It is no exaggeration to say that the depletion of the stocks of bamboo in the forests of the Amrabad plateau would make the area virtually uninhabitable for its original denizens. The fact that the prospect of such a development is by no means a figment of the imagination is demonstrated by the fate of other forest dwellers of Andhra Pradesh, whose life has been totally disrupted by a forest policy unmindful of the rights and needs of tribal population.[15]

The natural mixed forests provided food, fodder, fuel-wood and shelter to its inhabitants and also for many implements etc. necessary for their survival were then started to be replaced by mono-cultural plantations. Forests were denuded and pine was planted to begin with, for resin, paper pulp and timber. The programme thus launched was faithfully carried out by the Indian government as well. Furer-Haimendorf argues: 'An extreme example of such a commercialization of forests at the expense of the local tribal population is a project in Madhya Pradesh where Rs. 46,000,000 are to be spent on converting 8000 hectares of forest in Bastar Hills to pine forests to feed the paper pulp industry.'[16]

The present rules governing the forest are a result of the Punjab Forest Act of 1927 which does not allow anyone to take anything out of the forest for sale in the market since it is the property of the government. The Act defines the 'forest produce as anything found in or brought from the forest'. The forest guards keep watch on any infringement of the forest property that technically speaking is also applicable to the grass as fodder for cattle not to talk of the fuel wood or timber. There had been many protests by the activists of the rights of the tribal people against such provisions of the Act but little came out of them till 2006 when the distinction between the major and the minor produce was made and the local communities were given the right over the latter. In 2006, the Forest Rights Act (FRA) for the first time defined minor forest produce as including bamboo and tendu and many other things. It also gave tribals and other traditional forest dwellers the 'right of ownership, access to collect, use and dispose of minor forest produce, which has been traditionally collected within or outside village boundaries.'[17]

The issue is neither settled nor the problem solved with the declaration of the Forest Rights Act. Sunita Narain writes:As my colleagues found when

they traversed the country's tribal districts, the right exists only on paper. Of the 2.9 million claims settled under the FRA, only 1.6 per cent pertained to community rights. Worse, virtually no right of any community has been recognised for minor forest produce. They noted the missing right was deliberate. Governments across the tribal districts ensured no information was ever provided to people that this right was available. The technique was simple: the form issued to people to ask for rights left out this provision.[18]

2. The second issue is the intensive agriculture in the state following the green revolution in the mid 1960s which has drastically changed the overall scenario of the state by pushing it into aggressive agricultural economy which was a consequence of the Government of India's policy to meet the food requirement of the teeming millions and also to ensure the nation's future food security. It thus embarked on the programme of modernization of agriculture by granting it a prime slot in the first Five Year Plan (1951 - 56). 'In 1961, the Ford Foundation thus launched its Intensive Agriculture Development Programme (IADP) in India, intended to release Indian agriculture from the "shackles of the past" through the introduction of modern intensive chemical farming.'[19] Subsequently the Intensive Agriculture Area Programme was launched during 1964-65 to focus on area with greatest potential for improving agricultural productivity, providing a ready platform to disseminate green revolution.

This revolution meant intensive agriculture with capital and modern technology whereby land and its produce become commodities for sale and purchase in the market through the medium of exchange called money. Thus land was used for maximization of produce and profit which defied the norms and practices of traditional agriculture. Consequently modern agricultural technology included tractors, ground water harnessing pumps, HYV (High Yielding Variety) seeds, fertilizers and pesticides etc. These developments led to bringing more and more land under cultivation hence the loss of pastures and forests in this densely populated state. It has the average density of 482 persons per square kilometer according to the *Census of Punjab* 2001.[20] As a result of these four decades of intensive agriculture the forest cover is reduced to a mere 5.8 percent which is far below the minimum recommended 33 percent area of the state for a viable ecological balance. The green revolution has not only resulted in the loss of the forest it has increased tremendous pressure on the ground water aquifers resulting in the down fall of water level to the tune of about one meter in most parts of the state. According to some estimates out of the 137 blocks in the state 103 have been declared dark zones where water level has fallen down below the critical levels.

According to another estimate, in 1984 out of a total 138 development blocks 53 were dark zones. The number rose to 84 in 1995 and 108 in 2005. The ground water level has started falling at a rate much faster than assumed. Hira concluded that in 1964 the entire area of central Punjab had water table above the depth of 15 feet. With the inception of GR, the water table started declining and the area having water table below 30 feet depth increased from 3 percent in 1973 to 90 percent in 2004.[21] Thus paradoxically the very place named after water is gradually running out of this important source of life. The sacred scripture of the Sikhs *Sri Guru Granth Sahib* says: *Pehla pani jiu hai jit hariya sab koi* that water is the source of all life, and it assumes high and respectable status so prescribed by the scripture: *'Pawan guru pani pita mata dharat mahat'* literally that air is teacher, water is father and mother earth is great.

The *Statistical Abstract of Punjab* (2005) notes a spectacular development in agriculture in Punjab during the last few decades. Nearly 80 percent of the water resources of the state are used by the agriculture sector. Of the total cropped area which stands at 86 percent of the total area, 97 percent area is irrigated out of which conventional canals' share stands at mere 27 percent whereas tube wells account for 72 percent. There is phenomenal rise in the number of tube wells which increased from 1.28 lakhs (1,28,000) in 1970-71 to 11.68 lakhs (1,168,000) in 2004-05.[22] This shrinkage of natural resources at such a fast pace is affecting the socio-economic fabric of the Bangala tribe resulting in their temporary migration to other states especially the nearby hilly Himachal Pradesh to collect snakes and herbs necessary for their survival. K. Suresh Singh has also suggested the relation between tribes and forest. He says: '...forest has been associated with the early life of mankind where they domesticated plants and invoked early forms of agriculture and gradually moved from gathering and hunting to advanced and primary modes of subsistence.'[23] Bangala tribe is highly dependent upon forest and as is the wont of tribal people, they are not ready to leave their traditional occupation and accept other modes of livelihood.

Agriculture and forest have always being treated as dichotomous categories as recent studies have highlighted interdependence and continuities. Chaudhary and Band argue: ' Forest has been associated with the early life of humankind where they (tribes) used forest reserves for living, where (tribes) domesticated plants and innovated early forms of agriculture and gradually moved away from gathering and hunting to advanced and primary modes of subsistence. However, there was no marked dichotomy between forest and agriculture as perceived later.

There always existed a continuum between forest and agriculture.'[24]

Even during the pre-1947 India, as rightly elaborated by Chaudhary and Band, 'state proposed extension of cultivation which resulted in shrinkage of forest, the colonial period witnessed radical changes in the very concept of ownership of forest and its management, while all states of India, ancient and medieval, claimed ownership of all resources, they in practice left local communities largely in control of their resources. The colonial regime not only claimed but enforced its ownership of its resources; thus forest became for the first time a source controlled and regulated for the benefit of the British empire and British capital.'[25]

In the present milieu of market economy the state government, is listening to the advice of the economists and agro-scientists about the potential of the 'farm forestry for the farmers and industrialists' of Punjab.[26] In a move for forestation, the Punjab forest department has worked out a comprehensive plan to raise the forest cover to 15 per cent by the year 2011. The State Forest Minister Tikshan Sood has announced recently: 'We will be adopting a new scientific technology for mass production of seedlings required for the agro-forestry operations.' Unfortunately at present no one in the state is thinking about the programme to stop the process of rapid shrinking of natural resources especially the forests which are the storehouse of all types of resources necessary for the subsistence of the tribes in the state. Forest is their home. According to a report of the state forest survey the dense forest cover in Punjab has decreased by a whopping 80,600 hectares since 2001. It has been reported in *Punjab Newline* by G.S. Bhalla and Hema Khanna that the forest cover of the state is mere 3.14 percent which is lower than the 4.62 percent of the desert state of Rajasthan.[27] The worst affected districts in terms of forest cover depletion are Ferozpur (111 per cent), Amritsar (106 per cent), Hoshiarpur (84 per cent), Bathinda (76 per cent) and Ludhiana (55 per cent).[28] The data shows that since the depletion of forest cover in the Malwa region of Punjab (there are three socio-cultural tracts Malwa, Majha and Doaba), that is, the districts of Ropar, Sangrur, Patiala, Bathinda and Ludhiana is low, hence the concentration of Bangala community in this area is high which again proves the argument of their dependency on the forests.

3. Third factor, following the above one is the rampant urbanization which is not only eating into the forest land but also the agricultural area. Over the last few years the rise in the real estate business is fast eating up the above land uses. This is a matter of grave concern not only for the Bangala and other tribes dependent on the forest but the very Punjabi peasant

who had been thriving on this occupation of agriculture for the last couple of a few centuries. Punjab, the peasant and agriculture are virtually synonymous and for a traditional peasant ownership of land provides him all the status and prestige that he expects. A peasant family while looking for a groom for their daughter makes sure that there is some land in his name even if he is drawing good salary from a government office or a corporate house. The peasant had a value till late that selling land is equivalent to selling one's son. So it was never sold out under any circumstances.

The present day market society has changed this value and the growing real estate business is fast encroaching upon the agricultural land. The large peasant generated surplus from the subsidized agriculture as a result of the green revolution. He looked for opportunities outside it. Then there is the ever growing black market economy, a parallel one that looks for investment, and land suits them most. As a consequence of such developments in the country's economy and the flourishing business of the real estate, around each big city sprawling colonies are being developed by the builders with English names and western design, layout and outlook of the apartments, houses and malls so that it becomes a status symbol to own a residence there and be a part of the modern elite.

All these developments have resulted in the loss of the forest cover that has made the tribal people paupers. From a respectable way of earning their living, howsoever bare subsistence that might had been, either by selling herbs and medicines or even by snake charming, these people have been coerced to come to streets for begging from morning till evening. Small children and women start begging early in the morning with bins in their hand to get *lassi* (butter milk), tea or *bchi roti* (stale loaf of bread) for their breakfast. They also collect money, wheat grain or flour (*atta*). After having breakfast males wear their formal dress, that is, *chola* and *dhoti* of saffron colour. Carrying *jholis* on their shoulders with *patari* having snakes and a *been* in their hands they move out doing snake charming, selling medicines and collecting alms etc.

The plight of these people is further worsened, so far as adopting alternative means of livelihood is concerned, as a result of low literacy rate. It is virtually negligible. During field investigation it was found that in a large settlement at one place only one person from the tribe has completed high school. However, a few of them have studied up to the fourth or ûfth standards but a substantial majority is not even able to write their names. Many of them admitted during the course of fieldwork: 'It is not the fault of the government. We are not interested in the education of our children since our

main occupation is begging, snake catching and collecting herbs from the forest which do not require any formal schooling.' An old respondent supplemented: 'We do not have money to provide education to our children.' Moreover, the most important of all these reasons is the high level of corruption in the state. Another respondent remarked: 'Even if some of our children get education they will not be able to get a job under such conditions of competition and corruption.'

Thus these people are caught in a vicious circle of not getting out of their traditional occupation and begging because of lack of education and they cannot acquire education because they are nomadic and poor. Furthermore the state and the central government's various policies for their upliftment, particularly with regard to education are not reaching this community to convince them about the benefits of modern formal education. Though the Right to Education has recently been included in the list of fundamental rights of the people of India but these people are hardly aware of such rights and provisions.

The Constitution of India contains provisions to give equal rights by protecting their socio-cultural values with the help of Articles from 14 to 30 and 244 (1 & 2), 399. 275 (1), 342, 330, 334, 338, 335 and 46 basically to administer tribal areas, welfare, grant-in-aid, reservation of seats in legislative assembly, appointment of special officer under the President of India, claim for jobs and promotion of educational and their economic interests etc..

In the end I would like to submit that (i) the economic condition of this tribe is to be improved with immediate effect; (ii) the rapid urbanization and deforestation are main causes for shrinkage of their traditional source of livelihood needs to be addressed judiciously; (iii) 'rehabilitation programme' for over all development of the tribe to include them in the mainstream by introducing special education programmes in mother tongue that is, Punjabi in Gurmukhi Script is required; (iv) and there is urgent need to convince them to get jobs of whatever kind; (v) and finally their long pending demand of including them in the list of the Scheduled Tribe be accepted. It may help them to some extent.

Notes and References

1. The state of Punjab does not have the Scheduled Tribe population. This community along with others claiming higher caste status resent their clubbing with the menials, the Scheduled Castes. They have repeated asked the government to grant them tribal status.
2. The Indian Punjab is spelled with "u" while the Pakistan Panjab with "a".
3. David Arnold, "Crime and Crime Control in Madras 1858–1947", in *Crime and Criminality in British India*, ed. A. Yang,

(Tuscon: University of Arizona Press, 1985), 85.

4. Denzil Ibbetson and H.A. Rose, *A Glossary of the Tribes and Castes of the Punjab and North–West Frontier Provinces* vol. II, (Patiala: Languages Department Punjab, 1970 (1883).
5. K. Suresh Singh, ed. *People of India*, vol. XXXVII (Punjab), (Delhi: Manohar, 2003).
6. Ibid., 33.
7. *Census of India (Punjab)*, (Chandigrah: Government of Punjab, 2001).
8. Harinder Kaur, "Bangala", in *'Criminal' Tribes of Punjab: A Social-Anthropological Inquiry*, ed. Birinder Pal Singh, (New Delhi: Routledge, 2010), 51-73.
9. Birinder Pal Singh, "Introduction." In *'Criminal' Tribes of Punjab: A Social-Anthropological Inquiry*, (New Delhi: Routledge, 2010), xlv.
10. Ibid.
11. C. von Furer-Haimendorf, *The Tribes of India: The Struggle for Survival*, (Delhi: Oxford University Press, 1982), 79.
12. Ibid., 80.
13. Ramchandra Guha, "Fighting for the Forest: State Forestry and Social Change in Tribal India", in *The Rights of the Subordinated Peoples*, ed. Oliver Mendelsohn and Upendra Baxi, (Delhi: Oxford University Press, 1994), 22.
14. Ibid., 29.
15. Furer-Haimendorf, *The Tribes of India*, 84.
16. Ibid., 80.
17. Sunita Narain, "Is bamboo a tree or a grass?", in *CSE's Fortnightly News Bulletin*, December 7, 2010.
18. Ibid.
19. Vandana Shiva, *The Violence of Green Revolution: Third World Agriculture, Ecology and Politics*, (Goa: Other India Press, 1992), 2.
20. *Census of India (Punjab).*
21. G.S. Hira, "Depleting Groundwater, Causes and Remedial Measures", in *Rural Development in Punjab*, ed. Autar S. Dhesi and Gurmail Singh, (New Delhi: Routledge, 2008), 200.
22. *Statistical Abstract of Punjab*, (Chandigrah: Government of Punjab, 2005).
23. K. Suresh Singh, "Rethinking Forest, Forest Dwellers and Ecological History", in *Tribes, Forest and Social Formation in Indian History*, ed. B. B. Chaudhary and Arun Band, (New Delhi: Manohar, 2004), 46.
24. B. B. Chaudhary and Arun Band, ed. *Tribes, Forest and Social Formation in Indian History*, (New Delhi: Manohar, 2004), 41.
25. Ibid., 46.
26. Piare Lal, "Integrated Development of Farm Forestry Potential and Wood–based Industries", in *Rural Development in Punjab*, ed. Autar S. Dhesi and Gurmail Singh.
27. http://punjabpanorama. blogspot. com/ 2007/02/forest-cover-in-punjab-is- now-lowest-in.html
28. Ibid.

वैदिक युग में संगीत एवं अन्य कलाएँ
(सामवेद के सन्दर्भ में)

डॉ. गीता जोशी

विभागाध्यक्ष संगीत (गायन) विभाग, महिला महाविद्यालय, सती कुण्ड कनखल (हरिद्वार)

भारतीय परम्परा के अनुसार नटराज शिव नृत्यकला के आदि स्रोत हैं तथा देवी सरस्वती गीत तथा वाद्य कला की प्रवर्तिका हैं। नृत्य कला का ताण्डव तथा लास्य रूप भगवान् शिव पार्वती की देन माना जाता है। अन्य परम्परा के अनुसार संगीत का उद्गम पशु-पक्षियों की ध्वनियों से हुआ है। भारत में प्रायः समस्त विद्याओं के लिए कोई न कोई देवी या देवता निश्चित कर दिए गए हैं। इसी आधार पर सरस्वती को विद्या तथा संगीत की देवी माना गया है। माँ सरस्वती के हाथों में वीणा, शंकर के हाथों में डमरू तथा स्वर्ग में गन्धर्वयगायन करने वाले), किन्नर (वादन करने वाले), और अप्सरायनृत्य करने वाली स्त्रियों) आदि के उल्लेख से स्पष्ट है कि भारतीय संगीत अत्यन्त प्राचीन है।

भारत देश सदा से कला और संगीत का पुजारी रहा है। संगीत भारतीय जन-जीवन का एक अविभाज्य अंग रहा और रहेगा। यह जीवन का एक ष्अनिवार्य अंगष् कब से हैंघ् यह कहना कठिन है। संगीत आत्मिक उल्लास और आनन्द की अनुभूति को व्यक्त करने का साधन होने के कारण यदि कहा जाए कि यह परम्परा आदि युग से है, तो अनुपयुक्त नहीं होगा। संगीत का सम्बन्ध धर्म से होने के कारण भारत में इसका सम्बन्ध देवी-देवताओं से भी जोड़ा जाता है। भारतवर्ष की जनता का एक भाग गाँवों में रहता है तथा उसके जीन निर्वाह का साधन कृषि है। ग्रामीण दिनचर्या में खेतों में जाते समय, हल चलाते समय तथा खलिहान में अन्न एकत्रित करते समय विशेष प्रकार के गीत गाये जाते हैं। वर्ष के बारह महीनों में अलग-अलग गीतों का महत्त्व है। चौती उसी का एक उदारहण है। प्रत्येक अवसर पर विभिन्न प्रकार के नृत्य तथा गीत गाये जाते हैं।

वैदिक युग को भारत के सांस्कृतिक इतिहास का प्राचीनतम युग माना जा सकता है। भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों का सर्वप्रथम रूप इसी युग के वाङ्मय में उपलब्ध है। वैदिक वाङ्मय का गौरव इस बात में है कि संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक का सम्पूर्ण दिग्दर्शन करते हुए समकालीन अन्य प्राचीन संस्कृतियों के सम्बन्ध सामग्री उससे उपलब्ध होती है।

वैदिक युग से अभिप्राय उस सुदीर्घ कालखण्ड से है जिसमें चार वेद तथा उसके विविध अंगों का विस्तार हुआ है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार वेद वाङ्मय इकाई है, जिसके अन्तर्गत विनियोग भेद के कारण ऋक्ए यजु, साम तथा अथर्व का पृथक संहिता के रूप में निर्माण हुआ है।

मीमांसाकार जैमिनी के अनुसार ष्ऋक् उन छन्दो ब) मन्त्रों का नाम है जिनमें अर्थानुकूल पादों की व्यवस्था है।

तेपामृगु यत्रार्थवशेन पादव्यवस्थाप् इन्हीं ऋचाओं पर जो गान निबद्ध है, उनके लिए सामष् संज्ञा है

गीतिषु सामाख्यापू । ऋक् तथा साम के अतिरिक्त जितने मन्त्र हैं वे यजुष् के नाम से अभिहित होते हैं ष्शेषे यजुः शब्दःष्।

वेद का तात्पर्य केवल मन्त्र संहिता से नहीं। इसके अन्तर्गत ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् वाङ्मय का भी समावेश है। ब्राह्मण ग्रन्थों के तीन विभाग हैं। (1) ब्राह्मण (2) आरण्यक (3) उपनिषद्। वैदिक युग के इस विशाल कालखण्ड में संगीत साधना के अनेक उल्लेख पाए जाते है। ऋग्वेद काल में गीत वाद्य तथा नृत्य तीनों का पर्याप्त प्रचलन होता है। ऋग्वेदकाल में गीत के लिए गीर, गात्तु, गाथा, गायत्र, गीति तथा साम शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। ऋग्वेद की ऋचाएँ स्वरावलियों में निबद्ध होने पर ष्स्तोत्रषू कहलाती हैं। विनियोग-भिन्नता के अनुसार इन ऋचाओं का विविध नामकरण पाया जाता है। एक शस्त्र, दूसरा स्तोत्र। स्तोत्र मन्त्रों की विशेषता उनके गान में निहित है। सोमयागों में शस्त्र तथा स्तोत्र दोनों का प्रयोग विहित है, किन्तु प्राथम्य स्तोत्रको दिया जाता है।

भारत में आर्यों के आगमन से वैदिक युग का प्रारम्भ माना जाता है। इस काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक वर्ग स्थापित हो गए थे। ब्राह्मण ही अन्य तीन वर्गों को विद्या तथा संगीत का ज्ञान प्राप्त कराते थे। इस प्रकार संगीत की मुख्य बागडोर ब्राह्मण के हाथों में थी। स्त्रियाँ भी इसयुग में गायन, वादन तथा नृत्य तीनों में भाग लिया करती थीं। स्त्रियों द्वारा वीणा-वादन इस युग की एक विशेषता है। वे संगीत के सार्वजनिक आयोजनों में बिना किसी हिचकिचाहट के भाग लिया करती थी और समाज संगीतज्ञों को आदर की ष्टि से देखता था। एक विद्वान् का कथन है कि ष्वैदिक युग के कलाकारों का चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल और उच्च कोटि का होता था। वे सामान्य प्रलोभन में नहीं फँसते थे और कला की तपस्या बड़े संयम से किया करते थे।

वैदिक युग में नृत्य में नृत्य का कार्यक्रम खुले प्रांगण तथा उन्मुक्त में एकत्रित जनता के सम्मुख होता था। जिसमें नर-नारी दोनों ही भाग लेते थे। उस काल में समूह-नृत्यों का भी आयोजन किया जाता था। अश्वमेध यज्ञों में मनोरंजन के निमित्त गाथा गान तथा वीणा आदि वाद्यों का वादन किया जाता था।

आर्यों ने संगीत में पवित्रता लाने के लिए इसे धर्म के आवरण में लपेट दिया था। फलस्वरूप संगीत और धर्म का एकीकरण हो जाने से संगीत पवित्रतम बम गया। इसीलिए भारतीय संगीत ने मानव को कभी नैतिकता के उच्चस्तर से नीचे नहीं आने दिया, परन्तु आगे चलकर संगीत जब भी धर्म से हटा, तभी उसमें मानवता को नैतिकता से गिराना प्रारम्भ कर दिया। आर्यों के जीवन का सम्भवतः ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा था जिसमें संगीत ने प्रवेश न कर लिया हो। इन लोगों ने देवताओं को प्रसन्न करने का एकमात्र संगीतमय स्तुति एवं प्रार्थना को ही माना था। वैदिक युग में संगीत पाया जाता है तथा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद चारों वेदों में संगीत मिलता है।

ऋग्वेद में संगीत-

संगीत का मुख्य सम्बन्ध सामवेद से है, किन्तु ऋग्वेद में भी संगीत विषयक सामग्री विद्यमान है। ऋग्वेद में स्वर के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद पाये जाते हैं। ष्स्वरषू का क्या अर्थ हैघ् व्याकरण में स्वर शब्द का अर्थ है वे अकारादि वर्ण जिनका उच्चारण दूसरे वर्ण की सहायता के बिना स्वतन्त्र रूप से होता है। महाभाष्य में ष्स्वरषू शब्द की व्याख्या इस प्रकार मिलती है। ष्स्वरष्ए स्वत्रराजन्ते

ष्स्वयं राजन्त इति स्वराः ष् जो बिना किसी अन्य वर्ण की सहायता से प्रकाशमान हो, वे स्वर हैं। संगीत में ष्स्वरष् शब्द ष्नादष् अर्थात् संगीतोपयोगी ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

ऋग्वेद में यदि उदात्तादि स्वरों में थोड़ा-सा भी हेरफेर हो तो अर्थ ही बदल जाता है। इसीलिए भानु जी दीक्षित ने ष्स्वरष् की इस प्रकार व्याख्या की है- ष्स्वर्यन्तेऽर्थाः एभिः ष् (अमरकोष में ष्स्वरष् शब्द पर भानु जी दीक्षित की व्याख्या) इसका तात्पर्य यह है कि जिनसे पदों के अर्थ जाने जाये वे स्वर कहलाते हैं। वैदिक युग में स्वर या यम की सात संख्या शब्द का प्रयोग इस अर्थ में पिंगल के छन्दशास्त्र में मिलता है जैसे ष्स्वरा अर्ध चार्यार्धम्ष् अर्थात् जहाँ (प्रस्तार में) स्वर अर्थात् सात (गण) होते हैं और आदधा (अर्थात् साढ़े सात) वह आर्या छन्द का आधा भाग होता है। संगीत में स्वरो की तो सात संख्या प्रसिद्ध ही है। वैदिक काल के आदि में इन स्वरों की संज्ञाएँ इस प्रकार हुई षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद।

ऋग्वेद का स्वरांकन

वेद में उदात्त, अनुदात्त, धर्मों का इतना महत्व था कि भ्रान्ति निवारण के लिए इनके चिह्न बना लिए गए और वे मन्त्रों के वर्णों पर अंकित कर दिए गए। साथ ही उक्त स्वरों के उच्चारण के साथ हस्त चालन की प्रक्रिया भी निर्धारित कर दी गई जिससे उनके उच्चारण में कोई अशुद्धि या भ्रान्ति न होने पाए।

वेद का स्वरांकन संसार का सबसे प्राचीन स्वरांकन है। वेद के स्वरांकन के कई प्रकार थे। ऋग्वेद में ही एतद्देशीय स्वरों के कुछ और चिह्न हैं और कश्मीर की प्रति में कुछ और यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद में उक्त स्वरों के चिह्नों में भेद है। कहीं-कहीं वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन स्वरों के चिह्नों में भेद है। यहाँ तक कि एक ही वेद की भिन्न-भिन्न शाखा में इन चिह्नों में भेद दिखाई देता है। चिह्नों में एकरूपता नहीं है। किन्तु विशेषता इस बात में है कि इतिहास के धुँधले सुदूर अतीत में महर्षियों ने स्वरचिह्न बनाये और उनमें मन्त्रों को अंकित किया। वेद में मन्त्र के दो प्रकार हैं- निर्भुज और प्रतृण।

यजुर्वेद में संगीत

इस युग में वीणा का प्रचार प्रगतिपूर्ण था। वीणा के द्वारा धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार किया गया। परिवादिनी, विपंची, वल्लकी, महती, नकुली, कच्छपी आदि प्राचीन वीणाएँ प्रचार में थीं। ऋग्वेद में केवल बाण शब्द मिलता है ष्वीणाष् शब्द नहीं मिलता। ष्वीणीष् शब्द सबसे पलहे यजुर्वेद में मिलता है। यजुर्वेद में निम्नलिखित वाद्यों के नाम मिलते हैं-

1- आडम्बर
2- वीणा
3- तूणव
4- शंख
5- पाणि
6- तलब

आडम्बर भेरी वर्ग का एक अवनद्ध वाद्य था। अमरकोश ने भी इस शब्द का यही अर्थ लिया है। आङ् उपसर्ग और ष्डविष् (क्षेपे) धातु से यह शब्द बना है। चारों ओर जो ध्वनि को जोर से फेंके वह है ष्आडम्बरष्।

वीणा यह तन्त्री वाद्य था। यह कहा जा चुका है कि ऋग्वेद में केवल ष्वाणष् या ष्बाणष् शब्द मिलता है। ष्वीणाष् शब्द पहले-पहल यजुर्वेद में मिलता है जो कि ऋग्वेद से काफी बाद का है।

तूणव एक प्रकार का फूँककर बजाया जाने वाला सुषिर वाद्य था।

शंख फूँककर बजाया जाने वाला वाद्य था। यह आज भी इसी नाम से प्रचलित है।

पाणिघ्न का अर्थ है हाथ को मारने वाले अर्थात् ताली देने वाले।

तलबव यह प्तलप् से सम्बद्ध है। यह हाथ से ताल देने वाला वाद्य था। यह स्पष्ट नहीं है कि यह शब्द केवल हाथ से ताल देने वाले के लिए प्रयुक्त होता था अथवा प्मंजीराप् बजाने वाले के लिए जैसा कि आचार्य बृहस्पति शास्त्री ने वैदिक संस्थान (वृन्दावन) से प्रकाशित यजुर्वेद संहिता के भावानुवाद में इसका अर्थ लिया है।

सामवेद

जो ऋक् है वही साम है। साम में कहीं अन्यत्र से साहित्य लेकर उसका स्वरों में ग्रन्थन नहीं किया है। उसने ऋग्वेद की ऋचाओं को लेकर ही उन्हें गान में परिवर्तित किया है। ऋग्वेद की ऋचाएँ सामवेद की योनि अथवा आधार कहलाती हैं। आधुनिक गायकों की भाषा में हम उसे यूँ कह सकते हैं- प्सामवेद ने बोलष् शब्द ऋग्वेद से लिया है और उनकी स्वरों में प्बंदिशष् (निबन्धन) अपने ढंग से की है। संगीत शास्त्र के शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि सामवेद ने प्मातुष् (बोल) ऋग्वेद से लिया है और धातु (स्वर) स्वयं दिया है। अतः साम की विशेषता मन्त्रों या पदों में नहीं है, उसकी विशेष गान या स्वर में है। कहा गया है कि प्गीतिषु सामाख्याष् अर्थात् गीत को साम कहते हैं।

सामवेद अपने गान के पदों को ऋग्वेद से लेता है। सामवेद में बहुत थोड़े से गान ऐसे हैं जो अपने हैं अर्थात् जो ऋग्वेद की ऋचाओं पर आश्रित नहीं हैं। मोटे तौर पर सामवेद संहिता को आर्चिक कहते हैं। इसका अर्थ है प्जो यऋग्वेद की) ऋचाओं से सम्बद्ध है।प् इसके दो भाग हैं- पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। एक आरण्यक संहिता भी है। इनमें गेय मन्त्रों का संग्रह मात्र है।

तीन ऋचाओं के समुच्चय को प्तृचप् कहते हैं। सामगान के लिए प्रायः प्तृचष् उपयुक्त समझा गया है। आजकल के गायकों की भाषा में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक सामगीत में तीन में प्तुकेंष् होती थीं। उत्तरार्चिक में इस प्रकार के 287 तुक हैं। इनमें से केवल 226 ऋचाओं की पहली ऋचा पूर्वार्चिक में मिलती है। शेष 61 तृचों की पलही ऋचा पूर्वार्चिक में नहीं मिलतीं।

सामवेद के स्वरों का स्वरूप और स्थान वही रहा है जो भरत के समय तक शुद्ध ग्राम के स्वरों का था अर्थात् सामवेद के स्वर हिन्दुस्तानी संगीत के काफी और कर्नाटक संगीत के स्वर हर प्रिया संगीत के स्वरों से मिलते-जुलते हैं। संग्रहचूडामणि के उपोद्घात में अंग्रेजी में श्री निवास ऐयंगर ने इस विषय पर जो लिखा है वह मननीय है। इसके एक अंश का अनुवाद निम्नलिखित है-

संगीत के प्रथम शास्त्रकार भरत और शास्त्रकार शारंगदेव के स्वरों को ही शुद्ध स्वर माना है। सामवेद का गान परम्परागत रूप से आज तक वैसा ही चला आया है जैसा कि यह आदि में था। इस वेद के गान का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने से यह पता चलेगा कि ग रे स नि ध प जो तार स्थान से मध्यस्थान तक आते हैं और जिनकी संज्ञाएँ सामवेद में प्रथम, द्वितीय, तृतीयएचतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य है, अवरोही क्रम में है। कभी-कभी जब गान्धार स्वर लगाया जाता है तो मध्यम भी जिसे सामवेद क्रुष्टर कहता है, गमक के रूप में आता है। यदि ये सातों स्वर मध्यस्थान में रखे जायें तो उनके स्वरूप और स्थान इस प्रकार होंगे-

स	रे	ग	म	प	ध	नि
तृतीय	द्वितीय	प्रथम	क्रुष्ट	अतिस्वार्य	मन्द्र	चतुर्थ
1	10	9	32	27	4	3	3	2	5	3	16	9

यही भरत और शारंगदेव के शुद्ध स्वरों के स्थान थे। सम्भवतः यही सामवेद का शुद्ध ग्राम था। आधुनिक संगीत की संज्ञाओं में सामवेद का गान्धार और निषाध को मत था, शेष पाक्रच स्वर शुद्ध ते। शिक्षा- ग्रन्थों में विकृत स्वरों का स्पष्ट उल्लेख है। सायण ने भी सामवेद-भाष्य भूमिका में लिखा है- ष्साम शब्द वाच्यस्य गानस्य स्वरूपमृगक्षरेशु क्रुष्टादिभिः सप्तभिः स्वरैः अक्षरविकासादिभिश्च निष्पाद्यते। क्रुष्ट प्रथमो द्वितीयस्तृतीयश्चतुर्थः पूंचमः षष्ठश्चौते सप्तस्वरा। ते च अवान्तरभेदैर्बहुधा भिन्नाः अर्थात् साम शब्द का अर्थ गान होता है। यह ऋग्वेद के अक्षरों में कुछ हेरफेर करके क्रुष्टादि सप्त स्वरों द्वारा निष्पन्न होता है। ये सात स्वर क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, और षष्ठ हैं। ये स्वर भी अवान्तर भेदों से बहुत प्रकार के हैं। स्पष्ट है कि सामवेद का गान केवल शुद्ध सात स्वरों में परिसीमित नहीं था। उसमें विकृत स्वरों का भी प्रयोग होता था।

सामवेद में संगीत

सारा वैदिक साहित्य ष्सामष् को संगीत मानता है और भारत का सारा संगीत शास्त्र ष्सामष् को संगीत का मूल मानता है। भरत ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि ष्जग्राह सामभ्यो गीतमेव च।ष् शारंगदेव ने भी संगीत रत्नाकर में इस बात को दुहराया है- ष्सामवेदादिदं गीतं संजग्राह पितामहः।ष् दोनों का अर्थ है ब्रह्म ने सामवेद से गीत का संग्रह किया। संगीत के जितने ग्रन्थ हैं, सभी सामवेद को ही इस विद्या का मूल मानते हैं।

सामवेद की महत्ता

मूर्ति या आकृति का प्रतीक ऋक् है, गति का प्रतीक यजुष् है और महिमा मण्डल या तेज का प्रतीक साम है। सामवेद की महत्ता सभी वेदों ने स्वीकार की है। महिमा मण्डल का प्रतीक होने से इसको भगवान् की विभूति कहा गया है। भगवान् कृएण ने भगवद्गीता में कहा है ष्वेदानां सामवेदोऽस्मि।ष् प्रणव या ओंकार को सब वेदों का सार माना गया है। इस प्रणव का पर्याय सामवेद में उद्गीथ है और इस उद्गीथ को छान्दोग्य उपनिषद् ने सामवेद का सार कहा है। ष्साम्न उद्गीथो रसःष् इस प्रकार सामवेद की उपनिषदों में एक बहुत रहस्यात्मक नैरुक्तिक (व्याकरणानुसार) व्याख्या की गई है। साम शब्द का सामान्य अर्थ गीत लिया जाता है, परन्तु गीत कैसे बनता हैघ् जब स्वर और लय में संवाद हो तभी गीत बनता है। उपनिषदों की यह मान्यता है कि सारा विश्व ब्रह्म का मधुर संगीत है और इसी का नाम साम है। छान्दोग्य उपनिषद् ने ष्सामष् का निरुक्त ष्साध्अमष् द्वारा विभाजन करके बतलाया है। उसने यह दिखलाया है कि आधिदैविक और आध्यात्मिक सभी स्तर पर ष्साष् और ष्अमष् के संवाद से ही विश्व का संगीत चल रहा है। ऋक् और साम, शब्द और छन्द वाक् और प्राण, बिन्दु और नाद, केन्द्र और परिधि एक-दूसरे के पूरक हैं। इन्हीं दोनों का संवाद ष्सामत्वष् है। सारी सृष्टि इन्हीं के संवाद का मधुर गान है।

वैदिक युग में अन्य कलाओं, संगीत का अध्ययन-

भारतीय कलायचित्रकला) साहित्य के अन्तर्गत प्रागमालाष् चित्रों के द्वारा हमें संगीत की राग-रागिनियों का चित्रात्मक दर्शन मिलता है। प्राग मालाष् के चित्रों में राग-रागिनियों का सम्बन्ध वातावरण,

दृश्य, विषय, रस, काल और भाव आदि का ऐसा व्यंजक चित्र रहता है कि चित्र को देखने मात्र से ही राग अथवा रागिनि के स्वरूप, प्रकृति, रस और समय आदि का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। यहाँ संगीत कला जिन श्य-अ श्य सूक्ष्मताओं का विवेचन ध्वनि तथा लय के द्वारा करती है, उन्हें चित्र कला रंग-रेखाओं के द्वारा व्यक्त करती है। भारत में काव्य, अभिनव, नृत्य और संगीत का सह अस्तित्व देखा जाता है। ये कलाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। इनका सह अस्तित्व सौन्दर्य बोध को समृद्ध करता है।

प्रत्येक कला अपने चरम विकास के क्षणों में अन्य ललित कलाओं का आश्रय अधिकाधिक लेती है और चित्रकला, संगीत कला तथा काव्य कला में तात्विक समागमन की क्षमता बढ़ती जाती है। साथ ही स्थापत्य कला और मूर्तिकला अपनी स्थूलता के कारण तात्विक समागम के उस उच्च धरातल पर पहुँचने में पीछे रह जाती है।

अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि संगीत का मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतदेश में अधिकांश कलाएँ, विशेषतः संगीत और नृत्य राष्ट्र की आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक पूँजी का एक अविभाज्य अंग है। यही कारण है कि देश के धार्मिक जीवन में भी इन्हें आश्रय मिला और कला प्रेमी मानव ने अपने देवी और देवताओं में भी कला सम्बन्धी गुण समाविष्ट किये। संगीत से केवल आनन्दानुभूति ही नहीं होती। ध्वनियाँ मानसिक स्थितियों की भी सूचक होती हैं। साथ ही हमारे मनोभावों को भी प्रभावित करती है। संगीत हमारी आत्मा में भक्तिमय अनुभूतियाँ भर देता है। भक्ति भी एक प्रकार का आवेग है, जो हमारी आत्मा को प्रभावित करता है

संदर्भ ग्रन्थ

1. डाण् मृत्युंजय शर्मा- संगीत मैन्युल एचण्जीण, पब्विकेशन्स नई दिल्ली।
2. भगवत शरण- भारतीय संगीत का इतिहास, संगीत कार्यालय हाथरस (उण्प्रण)
3. वीर राम अवतार- भारतीय संगीत का इतिहास, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली
4. श्रीधर डाण् सरस चन्द्र- भारतीय संगीत का इतिहास राधा पब्लिकेशन नई दिल्ली।
5. लक्ष्मी नारायण गर्ग- संगीत निबन्धावली संगीत कार्यालय।

व्यक्तित्व

वहुमुखी प्रतिभा का धनी : पण्डित तुलसीराम देवांगन

डॉ. प्रकाश महाडिक

प्रोफासर वायलिन, तन्त्रीवाद्य विभाग, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़

शास्त्रीय संगीत को समर्पित कलाकार पं. तुलसीराम देवांगन ने संगीत की विभिन्न विधाओं में उल्लेखनीय कार्य किये हैं। दिनांक 17 जुलाई 2013 को समाचार मिला कि गुरुजी पं. तुलसीराम जी नहीं रहें। यह जानकर मन अत्यन्त दुःखी हुआ। होनी को कौन टाल सकता है। हाँ इतना अवश्य है कि उनका द्वारा किये गये कार्य आजीवन स्मरणीय रहेंगे। दीर्घकालीन संगीत लखेन कार्य का लिये इन्हें 'काका हाथरसी संगीत सम्मान' से अंलकृत किया गया। अहमदाबाद में दिनांक 18 अक्टूबर 1997 को आयोजित 'संकल्प' का सप्त दिवसीय संगीत समारोह में इस पुरस्कार का अन्तर्गत इन्हें सम्मान पत्र का साथ कश्मीरी शाल और पन्द्रह हजार रुपये का चेक प्रदान किया गया। उल्लेखनीय है कि अविभाजित मध्य प्रदेश का आप प्रथम संगीत विद्वान हैं जिन्हें राष्ट्रीय स्तर का इस पुरस्कार को प्राप्त करने का गौरव मिला। इस समारोह में आपने 'राग रचना में सौन्दर्यात्मक दृष्टि' विषय पर सप्रयोग व्याख्यान दिया तथा अपने वायलिन वादन से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध किया। पं. तुलसीराम देवांगन में ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा और लगन थी। साथ ही इन्हें पिताजी से सदैव प्रेरणा प्राप्त होती रही। यही कारण है कि श्री देवांगन इस कार्य में अग्रसर हुए। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा का श्री गणेश नौ-दस वर्श की आयु में अपने पिता श्री रामाधिन देवांगन का सानिध्य में हुआ। इन्होंने संगीत विशारद और संगीत अलंकार की परीक्षाएं प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। इनका जन्म 16 जुलाई 1931 में जिला बिलासपुर (छ.ग.) का पण्डरिया गांव में हुआ। पिता श्री रामाधीन देवांगन पंडरिया का राजा रघुराज सिंह का गायक का रूप में कार्यरत थे। श्री रामाधीन ने बनारस का सरयू प्रसाद मिश्र(जो अर्जुन व्यास का शिष्य थे) से गायन-वादन और नृत्य की शिक्षा ली थी। तत्पश्चात बनारस का ही पं. बड़े रामदास व श्री हनुमान प्रसाद मिश्र से संगीत की शिक्षा ग्रहण की। इस आधार पर स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध बनारस घराने से है। अतः श्री तुलसीराम देवांगन मूल छत्तीसगढ़ का होकर भी संगीत की पारम्पारिक घराना पद्धति से जुड़े हुए थे।

पं. देवांगन जी कुछ समय तक मुम्बई में रहे। सन् 1954-1955 का आसपास मुम्बई का रेडियो स्टेशन से आपका शास्त्रीय संगीत का गायन का कार्यक्रम भी प्रसारित किये जाते रहे हैं। वहाँ सिद्ध गायक एवं वायलिन वादक पं. गजानन राव जोशी जी का सम्पर्क में आये और उनसे वायलिन वादन का कुछ विशिष्ट रहस्यों का ज्ञान प्राप्त किया। बादमें आपने गायन की अपेक्षा बेला वादन पर ध्यान दिया। आप गायन और स्वतन्त्र बेला वादन का कई कार्यक्रम अनेक स्थानों पर प्रस्तुत कर चुका हैं। वर्तमान में आपका बेलावादन का कार्यक्रम आकाशवाणी रायपुर से समय-समय पर प्रसारित होते रहते हैं। इनका वायलिन वादन की विशेषता है कि उसमें मधुरता का साथ राग नियमों का

अक्षरशः निर्वाह दिखाई देता है। अनावश्यक राग विस्तार नहीं करते थे। आज का कलाकारों का भुतगति से बजाने की ओर झुकाव देखा जाता है किन्तु पं. देवांगन जी का वायलिन वादन में भुतगति से वादन करने की प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती है। पं. डी.बी. पलुस्कर, पं. विनायक राव पटवर्धन, पं. बालासाहाब पूछवाले, पं. ए.का. कोकजे, श्री सुरशे सुतवणे आदि कई कलाकारों का साथ भी आप सफलता पूर्वक संगत कर चुका हैं।

पं. देवांगन जी ने संगीत की विभि ा विधाओं का अध्ययन कर अपने ज्ञान का क्षेत्र व्यापक बनाया था। बेला(वायलिन) वादन का अतिरिक्त इन्होंने शास्त्रीय संगीत का गायन की ध्रुपद, धमार, ख्याल और ठुमरी गायकी का विशेश अध्ययन किया था। आपने लगभग 400 ख्याल को स्वरबद्ध किये साथ ही अनेक ध्रुपद, धमार तथा सुगम संगीत की रचनाओं को स्वरबद्ध किया। इतना ही नहीं प्राचीन संगीत तथा मध्य कालीन ग्रंथों में वर्णित रागों में भी आपका द्वारा अनेक बन्दिशों का निर्माण किया गया। 'संगीत पारिजात' ग्रन्थ में उल्लिखित रागों का आपने विशेष अध्ययन कर उनमें अनेक रचना की। इसका अतिरिक्त वायलिन, सितार और वाद्यवृन्द की भी बहुत सी रचनाओं की निर्मिति इनका द्वारा की गई।

संगीत जगत में पं. देवांगन जी ने लगभग 60 वर्षों तक निरन्तर लेखन का कार्य किया। संगीत क्षेत्र की प्रमुख प्रत्रिका 'संगीत' (हाथरस), 'संगीत कला विहार' (मिरज) आदि में इनका द्वारा विभि ा विषयों पर लिखे गये लगभग 100 से अधिक निबन्ध, शोधपूर्ण लेख एवं संगीत रचानएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। भारत सरकार द्वारा प्रकाशित कला और संस्कृति की प्रखुम प्रत्रिका 'संस्कृति' तथा इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ द्वारा प्रकाशित शोध पत्रिका तथा स्मारिकाओं में भी आपका अनेक लेख प्रकाशित हो चुका हैं।

भारतीय संगीत में गायन की विविध शैलियां ध्रुपद, धमार, ख्याल और ठुमरी आदि प्रचलित है। ठुमरी में शब्दों की कोमलता एवं नजाकत रहती है। इसकी कोमलता का अनुसार मुरकियों का प्रयोग किया जाता है। इसकी अदायगी कठिन होती है। सुनने में जितनी आसान होती है गाने में उतनी ही मुश्किल होती है। उससे भी अधिक दूभर कार्य है कि ठुमरी की रचना करना और उसे स्वरबद्ध करना। पं. देवांगन जी ने इस कश्ट साध्य कार्य को चुनौती का रूप में स्वीकार कर 'ठुमरी गायकी' नामक पुस्तक की रचना की। इस पुस्तक में पूरब-अंग की ठुमरियाँ ही दी गई हैं। प्रचलित और अप्रचलित रागों में ठुमरियाँ निबद्ध है। प्रायः सभी ठुमरियाँ पं. देवांगन जी द्वारा रचित है। कुछ ठुमरियाँ गायकी सहित दी है, कुछ ठुमरियों में टप्पा अंग को भी सम्मिलित किया गया है। कजरी, दादरा और चैती भी ठुमरी से सम्बन्धित हैं, इसलिये उनका भी संग्रह इस पुस्तक में किया गया है। इस पुस्तक का सन् 1960 में प्रथम संस्करण तथा सन् 1972 में द्वितीय संस्करण संगीत कार्यालय (हाथरस) द्वारा प्रकाशित किया गया। पं. देवांगन जी का मत है कि ''देखा जाता है कि कई संगीत सभाओं में उत्तम खयाल गायक भी अपना रंग नहीं जमा पाते, परंतु ठुमरी गायक कुछ-न-कुछ रंग अवश्य जमा लेते हैं। हलका गीतों का बढ़ते हुए प्रभाव को राकने का लिये व शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय बनाने का लिये ठुमरी का ही एक आधार है। यदि अपनी संकुचित मनोवृत्ति का कारण शास्त्रीय संगीतज्ञ ठुमरी की अवहेलना करते रहे, तो शास्त्रीय संगीत को जनसाधारण-प्रिय कभी नहीं बना सकांगे।'' इस विचार से स्पश्ट है कि पं. देवांगन जी में

शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय बनाने की बड़ी ललक रही है और सदा ही वे लेखन और वादन का माध्यम से इसका लिये प्रयास रत रहे हैं।

वायलिन(बेला) वादन का क्षेत्र में प्रायोगिक पक्ष पर स्तरीय पुस्तक की कमी अनुभव की जाती रही है। इसी बात को ध्यान में रखकर आपने 'बेला वादन शिक्षा' शीर्षक से एक उत्कृश्ठ पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में वायलिन(बेला) वादन की तकनीक को उत्तम ढंग से समझाया गया है। साथ ही अनेक रागों में सुन्दर एवं आकर्शक विलम्बित और मध्यलय की बन्दिशों को दिया गया है। इस पुस्तक का सम्बन्ध में पं. देवांगन जी का विचार है कि 'परीक्षाओं का अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से यह पुस्तक मार्गदर्शन करती है। वर्तमान में प्रचलित गत और गायकी दोनों शैलियों का इसमें समावेश किया गया है। गायकी का महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी गत शैली का आकर्षण और प्रभाव को आखों से ओझल नहीं किया जा सकता। इसकी वादन शैली भी नवीन ही है। इसलिये इसमें पारम्पारिक गतों की न्यूनता है। ऐसी स्थिति में नवीन रचनाओं का सिवाय और कोई उपाय ही नहीं था, प्रायः सभी गत की बंदिशे मेरी रची डुई है। ख्याल की बंदिशे परम्परा की है।' पं. देवांगन जी ने इस पुस्तक में रागों का संक्षिप्त विवरण का साथ आलाप, तान तथा झाला वादन को स्वरबद्ध किया गया है। इनकी 'बेला वादन शिक्षा' यह कृति संगीत नाटक अकादमी (नई दिल्ली) द्वारा प्रदत्त अनुदान से सन् 1967 प्रकाशित की गयी।

उपर्युक्त दोनों पुस्तकां प्रायोगिक विषय से सम्बन्धित है। प्रकाशन का क्षेत्र में पं. देवागंन जी का तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है 'भारतीय संगीत शास्त्र' शिर्षक से पुस्तक की रचना करना। नाम से ही स्पष्ट है कि यह पुस्तक शास्त्र से सम्बन्धित है। स्नातकोत्तर कक्षाओं का विद्यार्थियों की कठिनाईको ध्यान में रखकर ही इस पुस्तक को लिखा गया है। इस ग्रन्थ में उन विशयों का समावेश किया गया है जिनका सम्बन्ध में विद्यार्थी भ्रमित होते हैं या उन्हें प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाती है। इस पुस्तक में ऐतिहासिक, शास्त्रीय एवं क्रियात्मक सिद्धान्त से सम्बन्धित 27 विशयों को सम्मिलित किया गया है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता है कि अध्यायों का पश्चात् किये गये विवेचन का आधार पर महत्त्वपूर्ण निष्कर्श निकाले गये हैं, जो शोधार्थियों का लिये मार्गदर्शक का कार्य करते हैं। पं. तुलसीराम देवांगन जी की इस अमूल्य कृति को मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वारा सन् 1997 में प्रकाशित किया गया। इस ग्रन्थ लेखन का सम्बन्ध में पं. देवांगन का विचार है कि "शास्त्र तथा क्रियात्मक गायन-वादन विधाओं का अध्यापन से ऐसा अनुभव हुआ कि विद्यार्थियों को जितना पढ़ाया जाता है उसे वे पूरा का पूरा ग्रहण नहीं करते, अपने ढंग से उसे काम चलाऊ, संक्षिप्त कर लेते हैं। यदि संक्षिप्त ही पढ़ाया जाय तब उनका पास ज्ञान की दृष्टि से कुछ भी शेष नहीं रहेगा। अतः इस ग्रन्थ लेखन में मध्यम मार्ग अपनाया गया है कि जिससे अधिक विस्तार भी न हो और न आवश्यकता से अधिक संक्षिप्त।"

सन् 2007 में 'संगीत संजीवनी' भाग एक और भाग दो को संगीत सदन (इलाहाबाद) द्वारा प्रकाशित किया गया है। इन पुस्तकों में आपने बाल्य काल में विभि ा रागों में सीखी हुई रचनाओं को स्वरबद्ध किया है।

छत्तीसगढ़ में वायलिन की परम्परा को विकसित करने में पं. देवांगन जी का विशेष महत्त्व इस दृष्टि से है कि उस जमाने में छत्तीसगढ़ में इस वाद्य को सिखाने वाले कोई गुरु नहीं थे। अपनी प्रतिभा, लगन और परिश्रम से इस वाद्य को बजाने में सफलता प्राप्त की। तत्पश्चात् मधुकरी वृत्ति से

गुणियों का सत्संग लाभ लेकर, छत्तीसगढ़ में वायलिन वादक का रूप में स्थापित हुए। श्री देवांगन 'कमला देवी संगीत महाविद्यालय रायपुर में सून 1963 से 1991 तक कार्यरत रहे। गायन और वायलिन दोनों विधाओं की स्नातकोत्तर कक्षाओं में सैद्धातिक एवं क्रियात्मक विषय की शिक्षा आपका द्वारा प्रदान की गयी।

आप संगीत संकल्प शाखा रायपुर का निदेशक पद पर कार्य किया। रायपुर में इस संस्था का आप संस्थापक सदस्यों से में से एक थे। छत्तीसगढ़ नया राज्य बन जाने का पश्चात् इस संस्था का प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशेन दिनांक 22, 23 एवं 24 नवम्बर 2001 को आपका मार्गदर्शन में सफलता का साथ सम्प ा हुआ। इस अवसर पर एक स्मारिका भी प्रकाशित की गयी।

पं. तुलसीराम देवांगन जी की सांगीतिक प्रतिभा से कवर्धा जिले का महाराजा प्रभावित हुए। महाराजा का सहयोग से आपने संगीत शिक्षा का प्रचारार्थ 'शारदा संगीत महाविद्यालय' (कवर्धा) की स्थापना की। लगभग सात वर्षों तक इस संस्था में अवैतनिक एवं निःस्वार्थ भाव से वहाँ कार्य किया। इस संस्था को जीवित रखने का लिये भवन निर्माण किया गया। नगर पालिका कवर्धा इसे संचालित करती है। आपका मन में विचार आया कि आर्थिक कारण से यदि नगर पालिका इसे संचालित नहीं कर सकी तो संस्था बन्द हो जायगी। इसलिये आपने संस्था का संचालन हेतु 30 एकड़ सिंचित भूमि का प्रबन्ध किया। इस महाविद्यालय में इनका मझले भ्राता श्री ठाकुरराम देवांगन अनेक वर्शों तक प्राचार्य का पद पर कार्यरत रहें। यह महाविद्यालय इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय से संबद्ध है। इनका सबसे कनिष्ठ भ्राता डॉ. रूभमणि देवांगन श्रीराम संगीत महाविद्यालय(रायपुर) में कार्यकर सेवानिवृत हुए। इस प्रकार पं. तुलसीराम देवांगन जी ने संगीत की एक संस्था की स्थापना कर पुनित कार्य किया।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय द्वारा पं. देवांगन जी की विद्वत्ता का भरपूर लाभ उठाया गया। कई बार इन्हें विश्वविद्यालय का गायन, तन्त्रीवाद्य एवं संगीत शास्त्र विभाग में विजिटिंग फालो का रूप में आमन्त्रित किया जा चुका है। रिफ्राशर कोर्स में तथा विश्वविद्यालय का संगीत विभाग में विभि ा पदों की पूर्ति का लिये आयोजित साक्षात्कार में आप विशेषज्ञ का रूप में भी आमन्त्रित किये जाते रहे हैं। आपने अनेक विश्वविद्यालय में परीक्षक कार्य किया है। देश की कई महत्त्वपूर्ण संगीत संगोष्ठियों में शिरकत कर चुका हैं। इनका निर्देशन में कुछ विद्यार्थियों द्वारा शोध कार्य पूर्ण कर पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की है। इन्हीं का योग्य मार्गदर्शन में इन पंक्तियों का लेखक को भी शोधकार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

स्पष्ट है कि पं. देवांगन जी को संस्थागत शिक्षण प्रणाली का लम्बा अनुभव था। आज कुछ कलाकार संस्थागत शिक्षण प्रणाली की आलोचना कर गुरू शिष्य परम्परा की दुहाई देते है। इन दोनों शिक्षण पद्धतियों का सम्बन्ध में श्री देवांगन जी का विचार है कि "दोनो ही शिक्षण पद्धतियों की अपनी-अपनी उपयोगिता है। कम समय में अधिक जानकारी देने में महाविद्यालयीन शिक्षा उपयोगी सिद्ध हुई है तथा अच्छे अध्यापकों का मार्गदर्शन में देश को अच्छे संगीत शिक्षक एवं कलाकार प्रदान करने में भी। सामान्य शिक्षा से विशिष्ट शिक्षा की ओर जाना एक स्वाभाविक क्रम है। संगीत महाविद्यालयों की संगीत शिक्षा से गुरू शिष्य परम्परा की विशिष्ट शिक्षा का मार्ग प्रशस्त होता है। प्रतिभा और लगन का अभाव में गुरू शिष्य परम्परा की शिक्षा भी जबरन किसी को कलाकार बनाने में असमर्थ ही सिद्ध होगी। इस संस्थागत शिक्षण पद्धति को अपनी सीमा, साधना, अनुकूलता और

प्रतिकुलता का ज्ञान है। लगन से सीखने वाले विद्यार्थी का लिये महाविद्यालय में भी गुरू-शिष्य परम्परा का अटूट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और शिष्य का क्रम आगे भी बना रहा तो गुरू-शिष्य परम्परा की शिक्षा स्वतः कायम हो जाती है।''

जीवन का प्रत्येक क्षेत्र में पं. देवांगन जी ने अपनी स्पष्ट धारणा को व्यक्त किया है। गोल माल बात करना न तो उनकी आदत रही है और न ही वे इसे पसन्द करते थे। इनसे शिक्षा प्राप्त करने का लिये विद्यार्थी को सर्व प्रथम अनुशासन की परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक होता था। अनुशासन का अभाव में कई विद्यार्थी इनसे शिक्षा लेने से वन्चित रहे हैं। सादगी और योग्य व्यवहार से प्रस ा होने पर पं. देवांगन जी अपने ज्ञान का भण्डार से विद्यार्थी को कुछ भी देने में कमी नहीं करते थे। जीवन की सफलता पूर्वक यात्रा करने का लिये विद्यार्थी को सही सलाह देकर उस पथ की ओर अग्रसर करना आपका विशेष गुण था। झूठी शान शौकत और दिखावे से वे कोसो दूर थे। इनकी आस्था भारतीय संस्कृति और आध्यात्म में थी। नाम का अनुरूप राम का परम भक्त थे। राम चरीत्र मानस का नित्य पाठ करना इनका जीवन का मुख्य अंग है। साथ ही निःस्वार्थ भाव से संगीत का प्रचार प्रसार करना जीवन का मुख्य लक्ष्य है।

छत्तीसगढ़ शासन ने आपकी सांगीतिक सेवाओं को देखते हुए सन् 2005 'चक्रधर सम्मान' से विभूषित किया। यह सम्मान आपको तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री भैरवसिंह शेखावत जी का द्वारा प्रदान किया गया।

शास्त्रीय संगीत को समर्पित पं. तुलसीराम देवांगन जी एक उच्चकोटी का कलाकार, रचनाकार और शास्त्रकार हुए। छत्तीसगढ़ का माटी पूत्र को शत-शत प्रणाम और हार्दिक श्रद्धाजंलि।

Dr. Lalmani Misra

Prof. N. C. Boral

Prof. & H.O.D of Vocal Music, Rabindra Bharati University, Calcutta

It was a great episode when Dr. Lalmani Misra, the great maestro, was born in month of August 1924 in Kanpur on 11th. Dr. Lalmani Misra had all those qualities that made him a great musician of India which normally could not be traced in ordinary human beings. He was from middle class family of Kanyakubj Brahmins; and he had hardworking habit, talented and was always very alert of his duties to serve the country from his boyhood.

I personally witnessed his performances in the art form of vocal music in Dhrupad, Dhamar which I can never forget even though he was specially a very famous Batta-been player. He was a top-rank organizer in the field of Indian Music and his project-works undertaken at Banaras Hindu University in collaboration with Sangeet Natak Akademi, New Delhi were superb. Alap Dhrupad, which is the top-most form of Indian musical tradition, was in particular revived by his project, Dhrupad Mela programmes.

Dr. Misra was the first man who introduced this programmein India in 1975 and was later continued by a trust created for this purpose, and his followers. I had the golden opportunity to work with him and seen his particular interest in this art-form, which has been successfully revitalized through his attempt, otherwise a dying element in Cultural field of India. Within a month of Alap Dhrupad, similar national gatherings were organized by Dr. Misra for revival of Tappa as well as Thumri. These lighter forms of singing too gained impetus through these conferences.

Young generations have been very much encouraged with this plan projected by Dr. Misra. Before his project, there were only few accomplished artistes in this stream of music. After the Dhrupad Mela-s held in Tulsi Ghat and followed in other parts of India we find that a good number of accomplished Alap Dhrupad Singers have been produced. Dr. Misra took to educating the listeners from the stage itself about this art-form. Jointly with concerts in Dhrupad Mela-s the straight-from-dais teaching made Dhrupad very popular amongst the listeners who were used

to attending normal concerts (where performances went unexplained and hence partially appreciated).

Dr. Lalmani Misra due his exceptional abilities, was well suited to organize seminars on Indian music. These seminars recognized complex areas in theory and practice of classical music and solved several problems for the first time in assemblies of distinguished personalities of music in India and abroad. I had good fortune to be present in one such Seminar directed by Dr. Misra. A special seminar of U.G.C. was organized at Banaras Hindu University in 1972 on the topic, "Music Education in India at University level'. Many experts from all over India had come to discuss possibilities and resolved that music education should be collaborated in all universities of India, at par with other subjects taught in universities.This necessitated formation of an Equivalence Committee to examine and constitute the Syllabi of Music in various universities. Under directorship of Dr. Lalmani Misra the Equivalence Committee examined and based on the suggestions received, forwarded its proposal for equivalence of music education to University Grants Commission, New Delhi.

The Commission accepted the proposal and agreed with the scheme. Consequently, all Indian universities have been awarded grants to open Music faculty. It was solely the initiative of Dr. Misra, that made it possible for music to gain support to develop at universities, after the patronage of Raja – Maharajas had stopped. Had it not been for him, sustenance of Indian music might have been jeopardized. Such was the extent and fulfillment of problems solved in this seminar.

Dr. Misra previously had founded and nurtured Gandhi Sangeet Mahavidyalaya at Kanpur. In 1958, during the reign of Pt. Omkarnath Thakur, he joined B.H.U. as Reader and Head of Instrumental Music. At that time the highest course offered in university was 'Senior Diploma Course'. After Misra ji's joining the department higher degree courses were introduced in the Instrumental department at B.H.U. and gradually much development came to be visible through his sincere efforts.

He was a versatile genius. His creative works were in several directions. One can only marvel at his orchestral compositions. One such with wonderful psychological treatment of human beings was presented duringTenth anniversary celebration of Gandhi Sangeet Mahavidyalaya in 1960.

During the birth centenary celebration of Pt. Madan Mohan Malviya in 1961, he composed and presented an opera, Meera Bai. Amateur students of the university participated in this version; still, it was superb and highly appreciated.

Elevated to post of Professor in August 1967, he also took charge as

Dean, Faculty of Music, B.H.U. Dedicated to nurture and growth of Indian music and culture, he introduced courses in Karnataka music, bringing it to academics in North for the first time. Since then, Karnatak music has occupied a prestigious place in the Music faculty of the university. A practitioner himself, he invited top-notch artistes and acclaimed experts to educate students in finer aspects of art. Students could appreciate such experts as Vidushi Amala Shankar, Pandit Ravi Shankar first-hand. The recordings of such greats in Indian music as Ustad Allauddin Khan, Thakur Jaidev Singh etc. addressing the students may still be in archives of the Faculty at B.H.U.

He was invited to University of Pennsylvania in 1969 and he visited Philadelphia for two years to nourish Indian music in world academics. He helped start a department of Indian Music studies and would visit there for a semester every year or two for next several years. His teaching methodology was much appreciated by students in U.S. Unlike most musicians who learn by rote and teach the same way, he could offer rational definitions and provide connective links. This made the complex Indian compositions accessible.

Even when he returned to B.H.U. in 1971, his American students yearned to learn with him. Hestarted several new courses on his return. The U.G.C. sanctioned it and a doctoral programme in Performance and Composition was started at B.H.U. There already were short termed programmes to bridge the gap between theoretical learning and performance courses. Students from abroad joined these courses in Indian Music and some even completed doctoral award. It was his keen interest and visionary attitude that made him document the successive development of Indian musical instruments and establish an archive for recording of ancient traditional Samic singing. This alone has made the B.H.U. archive a center for study of ancient Samic studies. He directed his students in collection of various traditional chanting schools. One of these students, Pt. Omprakash Chourasiya played significant role in this. He was so inspired by this that he established a choir to present national poetry in strict classical compositions.

In fact, Lalmani Misraji was a versatile genius in the field of musical culture in India who stands beyond comparison to any other musician.

सिद्धेश्वरी देवी का व्यक्तित्व एवं उनकी गायकी का संक्षिप्त विश्लेषण

चित्रा चौरसिया

संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भगवान शिव की काशी नगरी कला संगीत एवं आध्यात्मिक क्रान्ति का प्रतीक है इस पवित्र नगर में 8 अगस्त 1908 में जन्मी ''सिद्धेश्वरी देवी जो कि ''ठुमरी की रानी'' कही जाती थी, वह इसी काशी नगरी में निवास करती थी। आप बनारस का ऐसा अनूठी पुष्प थीं जिनकी यादों की खुशबू आज भी चमन महका रही है। काशी नगरी की सुप्रतिष्ठित गायिका ने 50 वर्षों तक लोगों के हृदय में राज्य किया।

सिद्धेश्वरी जी को संगीत परम्परागत प्राप्त हुआ, डेढ़ वर्ष की अवस्था में आपके माता, पिता का देहान्त हो गया, और आपकी मॉसी राजेश्वरी देवी ने आपका लालन-पालन किया, माता-पिता का साया अल्पआयु में चले जाने से आपको वह स्नेह व वात्सल्य नहीं मिल सका जो कि उस बच्ची (गो गो) बचपन का नाम जो मिलना चाहिए था। सिद्धेश्वरी जी बचपन से ही संगीत के प्रति आकर्षित थी, लेकिन राजेश्वरी देवी जी सिद्धेश्वरी जी को संगीत न सिखा कर अपने घरेलू कार्य में उलझाये रखा। किन्तु प्रतिभाग को कोई नहीं रोक सकता। वह अपने आस-पास पड़ोस में बजते हुए रिकार्ड सुनती थी, जोकि मैनादेवी जानकी बाई, गौहर बाई वद्याधरी देवी जैसे बड़ी गायिकाओं के होते, वे उन्हे सुनती और उसी का अनुकरण कर गाती थी, फलस्वरूप 8-10 वर्ष की आयु से आपकी संगीत शिक्षा का सिलसिला आरम्भ हुआ। Greatmasters of Hindustani Music में सही लिखा है कि She once Said' We did not have luxuries like the gramophone but our neighbours had one, I used to go to them to listen to the records of popular singers the Janaki Bai, Gauhar Bai and several others. How their music used to captivate me'[1]

आपने संगीत की आरम्भिक शिक्षा पं. सिया महाराज से प्राप्त थी तत्पश्चात् काशी के गायनाचार्य पं. बड़े रामदास मिश्र से भी प्राप्त की। आपके व्यक्तित्व व गायकीं का विश्लेषण इस प्रकार है :- प्रथम दृष्टि में आपका व्यक्तित्व सरलता पूर्वक आकृट करता है, गोरा रंग, मध्यम कद, गठिला शरीर, सुन्दर मुस्कान, चमकती हुई काली आँखें और बडे बाल आपके आकर्षण का प्रमुख अंग थी। आपकी सरल, साधारण वेष भूषा थी। जब आपकी गायकी की प्रस्तुती होती तो'' बन्द आँखों से शुरू होती, बायाँ हाथ बायें कान पर रहता ऐसा लगता जैसे वो स्वर समाधि लेने जा रही हों। प्रभावशाली, अचेतन मुभा में ये उनकी कला का सिद्धान्त था।[2] सिद्धेश्वरी देवी अत्यन्त उदार, कोमल हृदय तथा मानवता की मूर्ति थीं, परोपकार, गुरू सेवा, गुप्तदान

उनके व्यक्तित्व की सरलता एवं उदारता को उजागर करती थी। उनके सरल स्वभाव का फायदा उठाकर अक्सर उन्हें लोग ठग जाते थे, यद्यपि उन्हें इस बात का ज्ञान होता था, किन्तु वह सांसारिक छल कपट से दूर रहतीं। सिद्धेश्वरी देवी को ईश्वर के प्रति अटूट आस्था थी जिस कारण वह सभी धर्मो पर विश्वास रखती थी, क्योंकि उनके पुराने घर में बने सिद्ध मौलवी की मजार पर वह प्रतिदिन अगरबत्ती जलाती थीं, काशी विश्वनाथ मन्दिर में प्रतिदिन आरती करतीं, तथा एक औघड़ बाबा पर विश्वास करके उन्होंने अग्निकुण्ड का राख खा कर काई से जमा हुआ तालाब का पानी पी लिया, जिस कारण उनकी आवाज पुनः वापस आ गई, अर्थात इतना विश्वास देखकर लगता था कि उनको ईष्वर तथा साधु-सन्तों पर भी अटल विश्वास था। सिद्धेश्वरी देवी के गायन में भी श्रृंगारिकता की अपेक्षा भक्ति की भावना ज्यादा उजागर होती है। "Heart deeply religions temperament had a great impact on her signing in the last year of her life, the pukaars in her Thumris and Bhajans were like Cries from an anguished devoter's heart (Susheela Mishra in grate Master of Indian Music)'[2]

सिद्धेश्वरी देवी ने चारों पट की गायिकी में निपुणता प्रदान की थी। ध्रुपद, धमार, टप्पा, ख्याल, ठुमरी, चैती, होली, कजली, निर्गुण भजन गायन शैली में पूर्ण पारंगत थी, लेकिन विशिष्टता उन्हें बनारसी अंग की ठुमरी में प्राप्त थी, उनकी गायकी की विशेषता का वर्णन इस प्रकार है:-

1-उपशास्त्रीय गायन अर्थात ठुमरी एवं दादरा में "कहन वाली बात" अर्थात (प्रत्येक बोल को भावपूर्ण तरीके से गाना)थी।

2- भारी, बुलन्द व लोचदार आवाज उपशास्त्रीय गायन को अत्यधिक आकृट करती थी।

3-ठुमरी में बोल बनाव तथा तान पल्टों का काम।

4-आवाज को फेक कर (Throing voice) तथा स्वरों को पुकार" के साथ गाना।

5-ठुमरी व दादरा की पूरी पंक्ति को प्रत्येक भाव के साथ गाना।

6-टप्पों में महीन-महीन दानेदार गिटकिरी आलांकारिक व वक्र तानों का सुन्दर प्रयोग।

7-मन्द्र, मध्य, तार तीनों सप्तक के स्वरों में पूर्ण वर्चस्व।

8-एक-एक स्वरों के साथ बढ़त, एरी, अरी, ए, हे, रामा, राजा जैसे भाववाचक शब्दों का प्रयोग।

9-लग्गी लड़ी में सुन्दर बोल बनाव तथा बोल बनाव की प्रत्येक लड़ी एक दूसरे में गुथी हुई।

10-मींड, खटका, मुर्की का प्रयोग तथा ठहराव के साथ बढ़त।

11-सारंगी व तबलावादक को काम दिखाने का पूर्ण समय, जैसा कि पूरब अंग की ठुमरी की विशेषता।

12-सम पर जोर देना तथा आवाज को खुले ढंग से प्रस्तुत करना।

13-ख्याल गायन में राग की शुद्धता एवं ठुमरी गायन में भाव पूर्ण गायकी।

इसके अतिरिक्त आपके द्वारा बोल-बनाव, तान, पल्टें, टप्पे में प्रयोग तानों तथा गीत के बोलों की अदायगी आपकी गायकी को आकर्षण बनाती है। सिद्धेश्वरी देवी जी जिस अंग से ठुमरी प्रस्तुत करती थीं वह अन्य लोगों के लिए सम्भव न हो पाया, "ठुमरी को क्षुभ प्रकृति की गायन शैली से उठाकर हिन्दुस्तानी संगीत में एक सम्मानित स्थान दिलाने का श्रेय उन्हीं को है।"[3] अपने परिवार की परम्परागत ठुमरी में टप्पे की छोटी-छोटी ताने एवं ख्याल एवं ध्रुपद के समान बढ़त मिलाकर उन्होंने ठुमरी की विशिष्ट

शैली को जन्म दिया। Although my Thumri is fully of the Banaras ang. I incorporate elemetns of the Khayal into it. You may say that my thumari singing is khayalanga Pradhan.[4]

सिद्धेश्वरी देवी जी ने अपनी प्रभावशाली गायकी से उपशास्त्रीय संगीत में उच्च स्थान प्राप्त किया आपकी गायकी में भाव के अनेक रंग, राग की शुद्धता तथा लयात्मक गति अत्यन्त मनमोहक थी। ठुमरी गायन हो या कजरी, आपके द्वारा बंदिश के भावानुसार राग का चयन बेजोड़ था, जिसके कारण श्रोताओं को काव्य के भाव का रस मिलता था, आप अपनी शिष्याओं को मुक्त हृदय से संगीत सिखाती थीं, और उन्हें भविष्य में आगे बढ़ने का पूर्ण अवसर भी देती थीं।आपकी प्रिय व गेय प्रसिद्ध ठुमरियाँ इस प्रकार है, जिसके रिकार्ड उपलब्ध है-

1. **राग मिश्र तिलक कामोद, (जतताल)**
   स्थाई-जाग परी मैं तो पिया के जगाए
   अन्तरा- भोर होत सैंया घर आए
   जाग परी मैं तो पिया के जगाए
2. **राग खमाज, (ताल चाँचर)**
   स्थाई- जाओ बलम नहि बोलूँ
   अन्तरा- हमसे कपट करत नित छैल, नित सौतन घर जाए।
3. **राग भैरवी**
   स्थाई- रस के भरे तोरे नैन
   एरी आजा साँवरिया तोहे गरवा लगालूँ
   अन्तरा- तोपे बलि बलि जाऊँ रे
   मोरा जिया तड़पे हो साँवरिया
4. **राम पहाड़ी, (ताल कहरवा विलम्बित)**
   स्थाई - चमकन लागी मोरी बगिया रे
   अन्तरा - वहाँ पार जमुना यहीं पार गंगा
   गोरिया के माथे बेंदिया चमकें
5. **राग पीलू (जतताल)**
   स्थाई - खेली रहे रंग होरी,
   दोऊ उनके नैना रे,
   अन्तरा - फूलन की पिचकारी चली है
   बाँधे प्रीत की डोरी हो
6. **राग मिश्र काफी (ताल कहरवा विलम्बित)**
   स्थाई - जब सुधी आवे एरी
   अन्तरा - भरी-भरी आवे नैना,
   आवे राजा नहीं भूले
   तुम्हरी सुरतिया रे।
7. **राम मिश्र तिलंग (दीपचंदी)**
   स्थाई - सूरत मोरी काहे बिसराई राम
   अन्तरा - राजा इश्क में प्राण में उठाई हमने एसाँई
   फिरऊ जंगल में मनमाला मेरी लाज गवाई।
8. **दादरा राग भैरवी (ताल दादरा)**
   स्थाई- तड़पे विन बालम मोरा जिया
   अन्तरा- उन बिन मैका नींद न आवे
   सूनी सेज मोहे बिरहा सताये रे।
9. **राम खमाज**
   स्थाई- भीग जाऊँ मैं पिया बचायेलेहूँ
   बरसन लागी बदरिया।
   अन्तरा- जग हुयी मोरी भीजे रे लाज
   लाज आवत देखत सभी जन
   विनती कर छुपा लैहों।

सिद्धेश्वरी देवी को उनकी सांगीतिक योगदान के कारण भारत सरकार ने सन् 1967 में 'पद्मश्री' पुरस्कार से सम्मानित किया, 12जनवरी 1967 को संगीत नाटक अकादमी (नई दिल्ली) पुरस्कार प्राप्त हुआ, साहित्य कला पुरस्कार 1955 में तथा संगीत

नाटक अकादमी (उ.प्र.) पुरस्कार 1976 में, 1977 में शान्ति निकेतन द्वारा दशिकोट्टम पुरस्कार प्रदान किया गया। 1973 में रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय कलकत्ता द्वारा पी.एच.डी. की उपाधि प्रदान की, सुरसिंगार परिषद मुम्बई द्वारा 1977 में सम्मानित किया गया। इसके अतिरिक्त आपने देश ही नहीं वरन् लंदन, रोम, काबुल, नेपाल आदि स्थानों पर अनेक कार्यक्रम प्रस्तुत किये तथा संगीत सम्मेलनों, आकाशवाणी में आपने प्रस्तुति दी, इतना सब कुछ होते हुए भी आपका स्वभाव, मधुर, सरल, उदार तथा विनम्र था। आपने अनेकों शिष्य शिष्याओं को सिखाया, जिसकी संख्या अनगिनत है किन्तु आपकी प्रिय शिष्याओं ने आपकी दोनों पुत्रियां, शान्ता देवी और सविता देवी के अतिरिक्त रीता कोठारी, मालिनी मेनन, उर्मिला भार्गव आदि है। 18 मार्च सन् 1977 को असाध्य बीमारी के कारण तथा अनेक चिकित्सीय प्रबन्ध के बावजूद आप सदा के लिए दुनियाँ से चली गयीं। सम्पूर्ण जीवन संगीत साधना में तल्लीन सिद्धेश्वरी देवी के गायन में एक करिश्मा था, जो कि संगीत प्रेमियों का मंत्रमुग्ध कर लेता था, आपके निधन से काशी नगरी जो अपूर्णनीय क्षति हुयी, उसे भविष्य में शायद ही भरा जा सकेगा।

संदर्भ ग्रन्थ

1. सुशीला मिश्रा, ग्रेट मास्टर ऑफ हिन्दुस्तानी म्यूजिक-पृठ सं. 163
2. ठुमरी एवं महिला कलाकार पूर्णिमा द्विवेदी पृठ सं. -269
3. ठुमरी एवं महिला कलाकार पूर्णिमा द्विवेदी पृठ सं. -270
4. बेगम अख्तर व उपशास्त्रीय संगीत (डॉ. सुधा सहगल एवं डा. मुक्ता) पृठ सं. 139
5. बेगम अख्तर व उपशास्त्रीय संगीत (डॉ. सुधा सहगल एवं डा. मुक्ता) पृठ सं. 133

अन्य पुस्तकें -

1. पुस्तक- काशी की संगीत परम्परा (पं. कामेश्वर नाथ मिश्र)
2. पुस्तक- माँ ..... सिद्धेश्वरी (सविता देवी)
3. पुस्तक- Great Master of Hindustani Music, Susheela Mishra.
4. बेगम अख्तर व उपशास्त्रीय संगीत (डा. सुधा सहगल एवं डा. शुक्ला)
5. ठुमरी एवं महिला कलाकार पूर्णिमा द्विवेदी

श्रव्य सामग्री

1. Dhingana.com
2. Siddheshwari Devi, Thumari, Tappa H.M.V. 6132
3. Siddheshwari Devi, Thumari, E.C.S.D.-252
4. w.w.w.//Raaga.com
5. Saregama, Nov 2008

कर्नाटक संगीत पितामह : पुरन्दर दास

श्वेता केशरी

गायन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

साहित्य व संगीत के क्षेत्र में भारतीय संगीत के मध्यकाल काल को भक्ति काल के नाम से भी जाना जाता है। इस युग में अनेक भक्त, सन्त, कवि व वाग्गेयकार हुए जिन्होने अपनी रचनाओं में संगीत के माध्यम से अपने आध्यात्मिक व दार्शनिक विचारों से जनसाधारण को अवगत कराया व अपनी कृतियों में सांसारिक मोह-माया के बंधन से दूर जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व रूप की कल्पना भी की। इस युग में **चैतन्य, मीरा बाई, तुलसीदास, अरूणगिरि नाथर, सूरदास, एवं अन्नम्माचार्य** जैसे अनेक सन्त, कवि हुए, जिनमें से एक नाम **पुरन्दर दास जी** का भी है। कर्नाटक संगीत के इतिहास में पुरन्दर दास जी का योगदान एक सन्त व रचनाकार के रूप में अतुलनीय रहा है जिस कारण उन्हें कर्नाटक संगीत का **पितामह** व **आदि** या **प्रथम गुरू** भी कहा जाता है। पुरन्दर दास जी का जन्म सन् **1484 ई.** में **हम्पी जिले के परन्दरगदा** (Parandaragada) नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम **वरदप्पा नायक** व माता का नाम **कमलाम्बा** था। बचपन में इनका नाम सिनप्पा था। 16 वर्ष की आयु में इनका विवाह सरस्वती बाई नाम की एक युवती से हुआ। लगभग 20 वर्ष की अवस्था में इनके माता - पिता का स्वर्गवास हो गया। तदोपरान्त इन्होने अपने पिता का व्यवसाय सम्भाला व कुछ समय पश्चात् इतने धनी हो गये कि इन्हे **नवकोटि नारायण** कहा जाने लगा किन्तु पुरन्दर दास जी के जीवन में घटी एक घटना ने इनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को परिवर्तित कर दिया जिसके फलस्वरूप ये सांसारिक मोह-माया के बन्धन से दूर हरि के परमभक्त हो गये और इन्हे हरि का दास अर्थात् पुरन्दर दास कहा जाने लगा।

संगीत के क्षेत्र में योगदान- संगीत के क्षेत्र में पुरन्दर दास जी का योगदान अतुलनीय है। पुरन्दर दास प्रथम ऐसे व्यक्ति थे जिन्होने यह विचार किया कि एक संगीत के विद्यार्थी को स्वर, ताल व राग का अच्छा ज्ञान हो सके, इसके लिए कुछ ऐसी रचनाएँ होनी चाहिए जिसके निरन्तर अभ्यास से वह उन रचनाओं को गाने के लिए पूर्णतः सक्षम हो सके, जिसका प्रस्तुतिकरण सभा गानम् में किया जाता है। इस कमी को महसूस कर उन्होने अभ्यास गानम् की रचना की और कर्नाटक संगीत को एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया। (कर्नाटक संगीत में रचनाओं को दो वर्गों में विभाजित किया गया है- 1. अभ्यास गानम् 2. सभा गानम। अभ्यास गानम् में वे रचनाएं आती है जिनका गायन केवल अभ्यास के लिए किया जाता है, प्रस्तुतीकरण के लिए नहीं। इसके विपरीत सभा गानम् में वे रचनाएं आती है जिनका अभ्यास सभा में प्रस्तुतिकरण के लिए होता है जैसे कीर्तनम्, कृति, पदम्, वर्णम्, जावली, तिल्लाना इत्यादि।)

अभ्यास गानम्-अभ्यास गानम् में उन्होने विभिन्न स्वरावलियाँ, सप्त ताल अलंकार, गीतम् व सुलादि को बताया।

क) स्वरावलियाँ[1] - अभ्यास गानम् में सबसे पहले पुरन्दर दास जी ने स्वरों के ज्ञान हेतु मायामालव गौला (हिन्दूस्तानी भैरव के समान) राग में विभिन्न स्वरावलियां (अलंकार) बताई। जिनके नाम है- सरली वरिसई, जन्टा वरिसई,दाट्टु वरिसई, मेल स्थायी वरिसई व मन्भ स्थायी वरिसई।

ख) सप्त ताल अलंकार[2] - उपरोक्त वर्णित प्रत्येक अलंकारों की स्वरावलियों को पुरन्दर दास जी ने वर्तमान में कर्नाटक संगीत में प्रचलित सप्त सुलादि तालों (ध्रुव ताल, मठ्य ताल, रूपक ताल, झम्पताल, त्रिपुट ताल, अठ ताल व एक ताल) में बद्ध करके भी बताया, जिससे कि विद्यार्थियों को स्वरों के साथ-साथ ताल का भी अच्छा ज्ञान हो सके। (कर्नाटक संगीत मे आद्य प्रचलित सप्त तालो से पूर्व 108 ताल प्रचार मे थे।)

ग) गीतम्[3]- अभ्यास गानम् के अन्तर्गत सर्वप्रथम साहित्य का प्रयोग गीतम् में सीखाया जाता है। इसमें सरल रूप में स्वर एवं साहित्य का समग्र रूप देखने को मिलता है। साथ ही पुरन्दर दास जी ने गीतम् को सरल रागों में निबद्ध किया है। जिससे प्रारम्भिक अवस्था के विद्यार्थियों को अभ्यास में कोई कठिनाई न हो व राग के स्वर, चलन और लक्षण का भी उचित ज्ञान प्राप्त कर सके। ये दो प्रकार के होते है-

1.लक्ष्य या संचारी गीतम् ;सामान्य गीतम्द्ध

2. लक्षण गीतम्।

घ) सुलादि[4] - सुलादि का अर्थ ताल मालिका से है, ये गीतम् के ही समान किन्तु गीतम् से कुछ कठिन होता है। इसमें गीत के विभिन्न विभाग जैसे- पल्लवि, अनुपल्लवि, चरणम् भिन्न-भिन्न तालों में बद्ध रहते है। (कभी-कभी इनके विभिन्न विभाग अलग-अलग तालों के साथ अलग-अलग रागों में भी निबद्ध रहते है। तब इसे **राग ताल मालिका** कहते है।) विद्यार्थियों के ताल पक्ष को और अधिक सुदृढ़ करने के लिए पुरन्दर दास जी ने सुलादि को अभ्यास गानम् के अन्तर्गत बताया। किन्तु वर्तमान में कर्नाटक संगीत में इसका प्रयोग देखने को नहीं मिलता है।पुरन्दर दास जी ने अभ्यास गानम् गायक व वादक दोनों के अभ्यास के लिए बताया है, उनका मानना था कि एक अच्छे गायक को एक अच्छा वादक भी होना चाहिए क्योंकि एक गायक गाते समय सहज ही कुछ हरकतों को ले लेता है किन्तु उस हरकत के पीछे किन स्वरों का प्रयोग हो रहा है इसका उसे भली प्रकार बोध नहीं होता है किन्तु यदि वह गायक होने के साथ एक अच्छा वादक भी होगा तो बजाते समय उसे उन स्वरों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जायेगा। आज भी कर्नाटक संगीत में कृति, कीर्तनम्, वर्णम्, पदम्, जावली व तिल्लाना इत्यादि गेय रचनाएं सीखाने से पूर्व प्रारम्भिक कक्षाओं में अभ्यास गानम् का ही अभ्यास कराया जाता है।

प्रबन्ध व कीर्तनम्- पुरन्दर दास जी ने अनेक प्रबन्धो व कीर्तनम् की भी रचना की है। **'वासुदेवाना नामवलिया'** कीर्तनम् में पुरन्दर दास ने लिखा है कि उन्होने चार लाख, पचहत्तर हजार कीर्तनम् की रचना की है।'[5]इसी सम्बन्ध में एम.बी. वेद वल्ली जी ने अपनी पुस्तक कर्नाटक संगीत में लिखा है- While Tyagaraja, Arunagirinadar, Kshetregna and others have composed thousand of songs, Purandara Dasa's Kirtanas may be counted by lakhs.'[6]

उन्होने अपने कीर्तनम् में अत्यन्त ही सरल व जन साधारण में बोली जाने वाली भाषा का प्रयोग किया है जिससे वे सर्व साधारण को समझ में आ सके व उनके कीर्तनम् का विषय पूर्ण रूप से आध्यात्म पर आधारित होता था।इसके अतिरिक्त कर्नाटक संगीत में पुरन्दर दास जी का एक और भी अत्यन्त ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अभ्यास

गानम् मे सप्त सुलादि तालों का प्रयोग कर इसे प्रचलन में लाने का श्रेय भी पुरन्दर दास जी को जाता है। जिसका प्रयोग आज भी कर्नाटक संगीत में हो रहा है। अतः उनके द्वारा उपरोक्त बताये गये कार्यों से स्पष्ट है कि पुरन्दर दास जी न केवल एक महान रचनाकार, भक्त व कवि थे, अपितु एक अच्छे गुरू भी थे, जिन्हे कर्नाटक संगीत में उनके योगदानों के फलस्वरूप सदैव याद किया जायेगा। अन्ततः 2 जनवरी 1564 को पुरन्दर दास जी का देहावसान हो गया किन्तु आदि गुरू के रूप में कर्नाटक संगीत में वे सदैव अमर रहेंगें।

संदर्भ ग्रन्थः

1. South Indian Music (book No.I&II) - by - P. Sambamoorty
2. Indian Music Series (Book No. I, II, III) - by - Dr. S. V. Leela
3. Karnataka Music System - by - M.B. Vedvalli
4. Great Composer (book-1) - by - P. Sambamoorthy
5. South Indian Music (Book No. 1) P. Sambamoorthy, Page No. 69
6. South Indian Music (Book No. 1) P. Sambamoorthy, Page No. 86
7. South Indian Music (Book No. 2) P. Sambamoorthy, Page No. 38
8. South Indian Music (Book No. 2) P. Sambamoorthy, Page No. 40
9. Karnatic Music System - M.B. Vedvalli, Page No. 172
10. Karnatic Music System - M.B. Vedvalli, Page No. 172

रवीन्द्रनाथ टैगोर - एक शिक्षाविद्

प्रीति सिंह

संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

इस चराचर जगत में जितनी भी सूक्ष्म तथा स्थूल वस्तुओं की रचना हुई है, वह सभी मानव एवं जीवों के लिए कल्याणकारी, उपयोग हेतु ही हुई है। ईश्वर ने इस जगत में सभी जीव जन्तु, चराचर, स्थल, पहाड़, नदियाँ-झरनों का निर्माण किया, उसने जिन-जिन वस्तुओं का निर्माण किया, उसकी अपनी एक महत्वता है। वह सभी को समभाव से देखता है फिर चाहे वो मनुष्य हो अथवा जीव। इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर जी ने भी ईश्वर के द्वारा बनाये गये हर वस्तु में उसकी सत्ता की मौजूदगी को माना।

रवीन्द्रनाथ टैगोर एक अद्वितीय बहुमुखी प्रतिभा के धनी महापुरूष थे। इनका जन्म सन् 1861 में बंगाल के एक अभिजात्य परिवार में हुआ, जहाँ साहित्य, कला, संगीत एवं अध्यात्म का प्रच्छन्न वातावरण था। रवीन्द्रनाथ कवि, चित्रकार, संगीतकार, उपदेशक तथा एक कुशल समाजसेवी थे। वह पूर्णतः भारतीय अस्मिता के प्रतिनिधि मानव थे। रवीन्द्रनाथ ने सूक्ष्मदृष्टि से भारतीय साहित्य को देखा और ऋषियों की प्रज्ञा के दर्शन भी किये। वह कभी भी सीमा में नही बंधे, वह पृथ्वीपुत्र तथा विश्वमानव थे। प्रगतिवादी रवीन्द्रनाथ जी का जीवन दर्शन का मूल विषय था। रवीन्द्रनाथ के मार्गदर्शक उनके बड़े भाई अयोतिरिन्द्र नाथ रहे तथा उनके जीवन में आध्यात्मिक शिक्षा उनके साधक पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर से प्राप्त हुई शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में जगत गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा शिक्षा को व्यापक अर्थ में स्वीकार किया गया। शिक्षा मनुष्य जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित करती है। रवीन्द्रनाथ के शिक्षा का संकुचित अर्थ कदापि नही रहा। उनके अनुसार शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान एवं निर्देशों तक ही नही अपितु सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया है। विश्लेषणात्मक अर्थों में सर्वप्रथम शिक्षा का अभिप्राय केवल व्यक्तिगत विकास से नही अपितु सामाजिक विकास से है क्योंकि मनुष्य स्वयं में एक सामाजिक प्राणी है। समाज में जीवन यापन करते हुए शिक्षा द्वारा वह गतिशीलता एवं जीवन प्रगति द्वारा अपने जीवन का उत्तम निर्माण करता है। जिसके अन्तर्गत शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा सामाजिक विकास अन्तर्निहित रहते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शिक्षा के क्षेत्र में समन्वयकारी अन्तर्दृष्टि से विचार किया है तथा शिक्षा दर्शन में आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और व्यवहारवाद, व्यक्तिवाद और समाजवाद, राष्ट्रवाद और अंतर्राष्ट्रवाद में समन्वयकारी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

जीवन का चरम लक्ष्यः-रवीन्द्रनाथ के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य है ''मनुष्य को मनुश्य बनाना'' । उनके विचार में मनुष्य को जो जिस रूप में देखता है, वही उसी के अनुसार शिक्षण का लक्ष्य निर्धारित करताहै और लक्ष्य के अनुरूप ही समस्त शिक्षा का आयोजन करता है। उन्होंने मनुष्य को तीन स्वरूपों में माना है - जीव, सामाजिक जीव, आत्मा। मनुष्य का अन्न संग्रह तथा अपनी रक्षा के

अतिरिक्त अपने व्यक्तिगत सुखों की तिलान्जिली देकर सामाजिक दायित्व के प्रति निष्ठा का भाव ही उसे पशु-पक्षियों से श्रेष्ठ बनाता है। रवीन्द्रनाथ मनुश्य जीवन की चरम सिद्धि आत्मानं विद्धि अर्थात आत्मा को जानो, को मानते है। क्योंकि आत्मा सदैव सच्ची मार्गदर्शक होती है। मनुष्य का समस्त जीवन उसके सच्चे आदर्शों का ही अनुगामी होता है।

व्यक्तिवाद का आदर्श :-इसके व्यक्तिवाद का तात्पर्य मनष्य की आत्मिक स्वतन्त्रता से है। प्रत्येक बालक में अपनी एक व्यक्तिगत विशेषताएं होती है जिन्हें अध्यापक को ढूढ़ना और विकसित करना है। क्योंकि व्यक्तिगत विशेषताओं और क्षमताओं के हनन से बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास न हो सकेगा। इसी कारण उन्होंने सबको समान शिक्षा के सिद्धान्त का विरोध किया है।

राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद :-उनके अनुसार मातृभूमि के प्रति विद्यार्थियों में भक्ति एवं पूजा का भाव होना चाहिए। जिस प्रकार माता-पिता के प्रति दिव्यता का भाव होता है उसी प्रकार मातृभूमि के प्रति भी दिव्यता का भाव प्रकट होना चाहिए, क्योंकि यही मातृभूमि हमारे पूर्वजों की जन्मभूमि तथा शिक्षा का केन्द्र है जब हम अपने चरित्र को राष्ट्र की प्रमुख विशष्शताओं और महानताओं के अनुकूल पूर्ण बनायेंगें तभी सच्चे अर्थों में विश्व नागरिक के कर्तव्यों का पालन करेंगें।

संगतिपूर्ण विकास :-रवीन्द्रनाथ टैगोर ऐसी शिक्षा में विश्वास रखते हैं जो मनुष्य को पूर्ण बनाये। वह जीवन के दो पक्ष आध्यात्मिक तथा सामाजिक मानते हैं। उनके अनुसार शिक्षा वह प्रक्रिया है जो मानव मन का उत्थान एवं विस्तार करती है। अतः विद्यालयों का उद्देश्य मात्र पाठ पढ़ाना नही वरन् उनकी आत्मा का निंदेश तथा आत्मिक प्रेम की प्रेरणा प्रदान करना भी है। इसके अतिरिक्त मनुष्य का सामाजिक जीवन भी नियम, संयम, क्रिया-कलाप तथा व्यवहारिक कुशलता की ओर संकेत करता है। विद्यालयों में बालकों की क्रियात्मक शक्ति को व्यवहारिक रूप देने के लिए उनकी सृजनात्मकता तथा रचनात्मकता को गतिशीलता प्रदान करके उनके चरित्र निर्माण का संवर्धन करना चाहिए।

टैगोर द्वारा सभी उद्देश्यों की प्राप्ति के दृटिकोण से ही विश्व भारती एवं शान्ति निकेतन की स्थापना वैदिक शिक्षण प्रणाली के आधार पर की गयी। वे पहले से ही एक आदर्श विद्यालय की परिकल्पना किये थे, जिसमें छात्र प्रकृति के सीधे सम्पर्क में रहकर शिक्षा प्राप्ति करे। उन पर किसी प्रकार का बन्धन या बोझ न हो। प्राकृतिक तपोवन में गुरू तथा शिष्य साथ-साथ रहे तथा आध्यात्मिक विकास करें। आदर्श विद्यालय की कल्पना अपने एक भाषण में उन्होंने इस प्रकार से किया था- " हमारा आदर्श विद्यालय, खुले मैदान में वृक्षों की छाया में स्थापित होगा, शहर के कोलाहल से बहुत दूर। शिक्षक स्वयं भी अध्ययन करेंगें। यदि सम्भव हुआ तो विद्यालय के साथ-साथ उद्यान और खेत भी रहेंगे। छात्र खेती के काम में योगदान देंगें, कक्षाएँ वृक्षों की छाया में लगेगी। इस तरह प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्पर्क भी स्थापित हो जायेगा।

टैगोर स्त्री शिक्षा के भी प्रबल समर्थक थे। इसी उद्देश्य को विचारणीय रखते हुए उन्होंने शांति निकेतन में स्त्री शिक्षा विभाग खोला जहाँ पर स्त्रियों को भी पुरुषों के समान शिक्षा प्रदान की जाती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर के समय में विश्वविद्यालय के उच्च शिक्षाक्रम तक संगीत और चित्रकला का कोई स्थान नहीं था एवं इस युग के शिक्षाविदों में ऐसा कोई नहीं था जिसने कला विद्या के अनुशीलन को विद्यालयों और विश्वविद्यालयों की शिक्षा से

सम्मानजनक स्थान दिलाने हेतु साहसिक कदम उठाया हो। कलाविद्या का अनुशीलन मनुष्य की सर्वांगीण शिक्षा का एक प्रधान अंग है। रवीन्द्रनाथ ने ही सर्व प्रथम देशवासियों का ध्यान इस विषय की ओर आकृट करने का प्रयास किया एवं बीसवीं सदी के आरम्भ में अपने इस विचार को रूप प्रदान करने के लिए उत्साह से सक्रिय हो गए। बाद में अपने लेखन, भाषणों के द्वारा उन्होंने देशवासियों को यह समझाने का प्रयत्न किया कि वे विद्यालय की साधारण शिक्षा-व्यवस्था में कला-विद्या के अनुशीलन का विषय क्यों रखना चाहते है। गुरूदेव के मतानुसार-मनुष्य के समग्र जीवन के प्रकाश, अभिव्यंजना की चेष्टा के अंगस्वरूप ही कलाविद्या की उत्पत्ति है एवं जो वर्ग संगीत एवं ललित कला की विद्या से वंचित है, वे सर्वदा मौन ही रह जाते हैं, अतः वे अपूर्ण है। गुरूदेव परिपूर्ण शिक्षा में विविध प्रकार की कलाओं के आयोजन को बहुत बड़ा मानते थे इसलिए विश्वभारती की प्रतिष्ठा की इच्छा जब उन्होंने देशवासियों के समक्ष प्रकट की तब कार्य सूची रखते समय उन्होनें कहा "हमारा यह संकल्प रहे कि यदि विश्वभारती की प्रतिष्ठा होती है तो भारतीय संगीत और चित्रकला की शिक्षा उसका प्रधान अंग रहेगा।"

विश्व चेतना के महान गुरू रवीन्द्रनाथ टैगोर जिनका समन्वयकारी दर्शन जीवन की सभी विधाओं- साहित्य, चित्रकला, अर्थशास्त्र, संगीत, राजनीति, शिक्षा, समाज-सुधार को ओत-प्रोत करने वाला था। वे सिर्फ कवि और संगीतज्ञ ही नहीं बल्कि एक, नाटककार, कहानीकार, चित्रकार, अभिनेता, शिक्षाविद् तथा दार्शनिक के रूप में काफी विख्यात रहे। रवीन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षिक योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। विश्वभारती ने सच्चे अर्थों में ज्ञान का केन्द्र बनकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। टैगोर के शैक्षिक योगदान के लिए श्री एच. बी. मुखर्जी ने लिखा है- "टैगोर वर्तमान भारत के शैक्षिक पुनरूत्थान के सबसे बड़े मसीहा थे। उन्होंने देश के सम्मुख शिक्षा के सर्वोच्च आदर्शों को स्थापित करने के लिए आजीवन संघर्श किया। उन्होंने अपनी संस्था में ऐसे प्रयोग किए जो आदर्श के प्रतीक बने।"

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा किए गए प्रयासों के फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि वे सच्चे अर्थों में एक शिक्षाविद् थे।

संदर्भ ग्रन्थ

1. उदीयमान भारतीय समाज - डॉ. उमा टण्डन, डॉ. अरूणा गुप्ता
2. भारतीय शिक्षा के प्रवर्तक - आत्मानन्द मिश्रा
3. रवीन्द्र का शिक्षा दर्शन - गोपाल प्रधान
4. रवीन्द्र संगीत - शान्ति देव घोष
5. शिक्षा की दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय

Gurudev : Through My Eyes

Priyanka Mazumdar

Researnch Scholar, Kathak Department, IKS University, Khairagarh

Gurudev Rabindranath Tagore, though primarily a poet, was also a philosopher, a true patriot and ultimate writer. He was the inventor of the revolutionary educational concepts of the 20th century. He was a genius in unique combination of diverse qualities.

About Gurude v, (1861-1941), he was the youngest son of Debendra Nath Tagore, a leader of the Brahmo Samaj, which was a sub-division of a larger religious group in 19th century in Bengal. Originally his name was Rabindranath. Once a fisher man by indicating his activities and nature named him Rabindranath Thakur (Thakur in Bengali and Tagore in hindi). He was educated at home. At the age of seventeen he was sent to England for formal schooling but he did not finish his studies there. During his maturity period with full interest in different literary activities he managed the family estates, and he came closer to common humanity and increased his interest in social reforms. His started an experimental school at Shantiniketan where he tried Upanishadic ideals of education.

From time to time he participated in the Indian nationalist movement, and Gandhi the political father of modern India became his devoted friend. "Gurudev's life was the ideal of a fully-developed personality. Indian history was yet to produce a composer who could express life in so many varied forms so very successfully.'[1]

"Gurudev had early success as a writer in his native Bengal. With his translations of some of his poems he became rapidly known in the west. His fame attained a luminous height, taking his across continence on lecture tours and tours of friendship. For the world he became the voice of India's spiritual heritage; and for India, especially for Bengal, he became a great living institution.'[2] He fulfills the requirement of a human heart in his poetry, literary genres and music. Gurudev first tried his hand at composing songs when he was a boy of thirteen or fourteen that flow of inspiration, once started, never stopped till a few months before his death. "Throughout a stretch of about 65 years, he composed more than 2000 songs.'[3] "Unke rachit geet Ravindra sangeet naam se suprasiddha hai.'[4]

'Gurudev wrote successfully in all literary genres, he was first of all a

poet. Among his fifty and odd volumes of poetry are Manasi (1890) [The Ideal One], Sonar Tari (1894) [The Golden Boat], Gitanjali (1910) [Song Offerings], Gitimalya (1914) [Wreath of Songs], and Balaka (1916) [The Flight of Cranes]. The English renderings of his poetry, which include The Gardener (1913), Fruit-Gathering (1916), and The Fugitive (1921), do not generally correspond to particular volumes in the original Bengali; and in spite of its title, Gitanjali: Song Offerings (1912), the most acclaimed of them, contains poems from other works besides its namesake. Gurudev's major plays are Raja (1910) [The King of the Dark Chamber], Dakghar (1912) [The Post Office], Achalayatan (1912) [The Immovable], Muktadhara (1922) [The Waterfall], and Raktakaravi (1926) [Red Oleanders]. He is the author of several volumes of short stories and a number of novels, among them Gora (1910), Ghare-Baire (1916) [The Home and the World], and Yogayog (1929) [Crosscurrents]. Besides these, he wrote musical dramas, dance dramas, essays of all types, travel diaries, and two autobiographies, one in his middle years and the other shortly before his death in 1941. Gurudev also left numerous drawings and paintings, and songs for which he wrote the music himself.'[5]

Gurudev as a poet as over-shadowed his contribution to dramatic literature and so he was the most versatile dramatist in Bengal. At the age of 21, Gurudev for the first time tried his hand in writing dramas. Since then, till the age of 77 he had continually written more than 50 dramas of different kind. As his nature, he tried to touch every aspects of life in his works which made him different from others. Gurudev has written three music–dramas namely- Valmiki – Pratibha, Kalmrigaya, Mayarkhela, and three dance-dramas such as Chitrangada, Syama and Chandalika. of these the first three were composed between 1881 and 1888, and the last three between 1936 and 1938. In his career as a dramatist, his first drama was the music-drama, 'Valmiki-Pratibha' and the last was the dance-drama 'Chandalika'.

Here the question arises in my mind is why he called the first three as music dramas and the last three as dance drama. It is because the first three were meant only to be sung like European Operas. These dramas were enacted in those days with movement and gestures employed in the general dramas. Hence they have been named **'Gita-Natya'.** The last three dramas of his later years were the outcome of his desire to enact the stories through dance that is why they were named **'Nritya-Natya'**. When Gurudev composed the music-dramas he belonged to the educated society of Calcutta. "At that time any sort of lesson in Indian dance was totally unknown to that society. Dance was a taboo for the boys and girls of that society. So, while composing the music-dramas, he could not conceive of using

the form of dance in his dramas. But towards the later part of his life, when the dance took a prominent place in the general education at Santiniketan and Visva-Bharati he wrote his dance-dramas to be enacted by dance. In this period of his dance –dramas, he wanted to enact Mayar-Khela, a music-drama of his early period, with the medium of dancing and then he called it a dance-drama or 'Nritya-Natya'.[6]

While writing the dramas he use to feel the feeling of the character and the situation and according to that in music-dramas he used to change the taal and rhythm into fast and slow, fast rhythm for happy feeling and slow rhythm for sorrow. Gurudev's creations are the ultimate and unique creation in the musical tradition of Bengal. As I said before he was the inventor of the revolutionary educational concepts and so he aimed at providing total education in Visva-Bharati. According to him training in religion, service to man, sports, self-reliance etc. are as a part of education as other academic subjects. "In his aim and objectives of education at Santiniketan what Gurudev repeatedly emphaised on is worth recalling. To quote three of his dictums:

1. 'In all developed countries the lower aim of education deals with national opportunities but the higher aim related to fulfillment of human life.'

2. 'How to live a complete life is according to me, the purpose of education.'3.The asram education is the education for living wholly and fully.''[7] Gurudev founded the Santiniketan school in 1901. He started his work with a few students and teachers. Since the students belong to middle class families so he followed the system entrance examination which the government of those days had introduced. He thought to cultivate all branches of culture in Santiniketan asram. According to him culture is something having variety of colours, purifies the mind, from the primitive dimness of an ore-like form, ultimately is helps the mind to listen its own values. This culture has numerous branches and a healthy normal mind wants to absorb it.

'His other works fuse lyrical flow and emotional rhythm into a tight focus on a core idea, a break from prior Bengali drama. Gurudev sought "the play of feeling and not of action'. In 1890 he released what is regarded as his finest drama: Visarjan (Sacrifice). It is an adaptation of Rajarshi, an earlier novella of his. "A forthright denunciation of a meaningless cruel superstitious rite', the Bengali originals feature intricate subplots and prolonged monologues that give play to historical events in seventeenth-century Udaipur. The devout Maharaja of Tripura is pitted against the wicked head priest Raghupati. His later dramas were more philosophical and allegorical in nature; these included Dak Ghar. Another is Gurudev's Chandalika (Untouchable Girl), which was modelled on an ancient Buddhist

legend describing how Ananda, the Gautama Buddha's disciple, asks a tribal girl for water.

In Raktakarabi ("Red' or "Blood Oleanders'), a kleptocrat rules over the residents of Yaksha puri. He and his retainers exploit his subjects—who are benumbed by alcohol and numbered like inventory—by forcing them to mine gold for him. The naive maiden-heroine Nandini rallies her subject-compatriots to defeat the greed of the realm's sardar class—with the morally roused king's belated help. Skirting the "good-vs-evil' trope, the work pits a vital and joyous lèse majesté against the monotonous fealty of the king's varletry, giving rise to an allegorical struggle akin to that found in Animal Farm or Gulliver's Travels. The original, though prized in Bengal, long failed to spawn a "free and comprehensible' translation, and its archaic and sonorous didacticism failed to attract interest from abroad. Chitrangada, Chandalika, and Shyama are other key plays that have dance-drama adaptations, which together are known as Rabindra Nritya Natya."[8]

During his last years he was physically unfit. He was not able to think for a new creation. He only used to listen some of his favourites from his students which are as follows:

- Aamar praner pore chole gail ke...
- Mori to mori...
- Tomar gopon kothati...
- Kangal aamare kangal korechhe...
- Hailaphaila sara baila...
- Aamar porane loye ki khela khelabe...
- Bodo bedonar moto bechechhe tumi hai...
- Aamar mon mane na...

He died on 7th August, 1941. He was the Viswa-Kavi. His creations contain multiple images. All these are reflected in his creation. Gurudev wanted everyone to see all the aspects and different colours of life and so he was a great philosopher. He wanted everyone to sing, to feel his/her own values with his/her heart. Through my eyes, I can only conclude that Gurudev himself is a divine beauty to Indian culture. Last but not the l east Gurudev composed **"Jana Gana Mana'** which was first sung in 1911 at a Calcutta session of the Indian National Congress and was adopted in 1950 by the Constituent Assembly of the Republic of India as its National Anthem.

Footnotes

1. Music and Dance in Rabindranath Tagore's Education Philosophy – Santidev Ghose, Pg.01
2. Internet (http://en.wikipedia.org/wiki/Rabindranath_Tagore)
3. Music and Dance in Rabindranath Tagore's Education Philosophy– Santidev Ghose, Pg.01
4. Bengal ke Navjagran ka Sangit – Lipika Das Gupta, Pg.39
5. Internet (http://tagoreweb.in/pages/rtagore.aspx)
6. Music and Dance in Rabindranath Tagore's Education Philosophy – Santidev Ghose, Pg.21-22
7. Ibid, Pg.31-32
8. Internet (http://en.wikipedia.org/wiki/Rabindranath_Tagore)

The Magical Hands of G Harishankar

Mr. S. Sankar

Ph.D Scholar, Queen Mary's college

- "The luminary enthralling millions of hearts with his incredible caresses on simple frame drum called the kanjira"
- "A legend who rewrote the concepts of emancipated yet sophisticated percussion"
- "A true artiste with humility and devotion"

It is clearly insufficient to express the sheer melodic enchantment he provided through an ideal integration with the co-artists all through.

The instrument Kanjira is synonymous with the name of G Harishankar who created a benchmark in the field of percussion.

After the invention of the Kanjira by the legendary Manpondia Pillai and its popularization by his prime disciple Dakshinamoorthy Pillai, very few artists handling the kanjira came into the limelight and not many were able to continue the legacy of these maestros. That was to change spectacularly with the arrival of G Harishankar on the horizon.

Harishankar was born on June 10, 1958 to T T Govinda Rao and Lakshmi-bai in a Maratha lineage. His father, who was employed with the Southern Railways, was an accomplished kanjira artist and was a disciple of Pudukottai Ramaiya Pillai. Ramaiya Pillai was incidentally a direct disciple of Manpondia Pillai.

When Harishankar was a small child, his father took him to all concerts in the vicinity. He was initiated by his father into playing the kanjira when he was a mere child of three years. He was also tutored to play the ghatam by Narayana Rao, and the mridangam by A Dandapani Iyya. Finally, as his father wanted him hone his skills further and have an all-round development, he put his son under the tutelage of Madras A. Kannan, a well-known mridangam vidwan then.

At the age of five, Harishankar started accompanying on the kanjira for Marathi Abhangs. His father's musical interest made Harishankar to explore more of the art. Musicians like Thodi Kannan, Pallavi Krishnan were constant guests at Harishankar's house. For such musical sessions, the percussion support was invariably by Harishankar

on the mridangam and with his father on the kanjira.

His first concert took place at Karukatthamman Temple, Chetput, when he provided accompaniment for T L Maharajan and Trichy Loganathan with mridangam by Premkumar. This proved to be a turning point in his career, clearly laying the path to carry on his journey as an exponent of the kanjira. His full-fledged music concerts began when he provided percussion to the Tiruppur Sisters Ramu and Saradha. This opened the doors for him to subsequently accompany them on numerous occasions. During that time, he also had the opportunity to accompany to Jaya Vijayan and T Neela. He was subsequently introduced to many leading mridangam artists like Madurai. T Srinivasan and Nagai Sounderarajan.

As his mind was clearly focused only on music and rhythm, he did not have much inclination to go to school; he however managed to study up to the SSLC level. His further advanced training in mridangam and kanjira continued under yet another legend Ramanathapuram Shri C S Murugabhoopathy. Tutelage under this doyen was to be his true flowering era that was to gloriously shape his superlative laya skills, dormant till then.

Identifying Harishankar's potential, which was natural, with his free flowing hand, speed, and fingering, made his Guru to impart the most intricate advanced laya systems. This helped Harishankar to open up and come out with brilliant performances on every occasion he performed with musical giants of his era. He got opportunities to play the kanjira along with Murugabhoopathy on numerous occasions accompanying the leading artists of the time.

During these concerts with his guru, Harishankar practically reproduced almost everything on the kanjira whatever the mridangist played. Around this time, renowned mridanga vidhwan Krishnamurthy Rao was introduced to Harishankar's family and the former was instrumental in introducing Harishankar to Dr. M L Vasanthakumari. The first concert where Harishankar accompanied MLV, he was offered Rs. 75/- and thereafter, he was a permanent member of MLV's team. His name was already synonymous with the kanjira and by accompanying MLV, he attained celebrity status. He was to accompanied Dr, MLV till her last concert sharing the stage with many leading mridangam vidhwans like Srimushnam Rajarao, Mannargudi A Easwaran, Thiruvarur Bhathavatsalam and many others.

In the late 1970s when MLV and the legendary Palghat Mani Iyer worked together in Rishi Valley, MLV requested Mani Iyer to listen to Harishankar playing the kanjira and express his opinion. Initially he refused, but after MLV's persuasion he acceded to her

request. After listening to him, Mani Iyer was very impressed and readily agreed to accept him as his disciple. Mani Iyer felt he should have met a person like Harishankar much earlier. During that time Harishankar was introduced to T R Rajamani and they used to spend time long hours listening to spool tapes of Mani Iyer's accompaniment to legendary musicians like Alathur Brother, Ariyakudi, MDR, GNB and Madurai Mani Iyer. Harishankar used to listen to these tapes continuously with almost no breaks, playing along with Palghat Mani Iyer's recordings and thoroughly enriching his skills in the process. Harishankar had the privilege to perform many concerts with Mani Iyer who accompanied.

As Harishankar acquired vast knowledge and experience from two great percussion giants C S Murugabhoopathy and Palakkad Mani Iyer, the expertise acquired by him enabled him to demonstrate what was played by the mridangam on the kanjira.Harishankar first toured overseas to London with M S Subbulakshmi. He was also exposed to film music as he was invited by none other than Ilayaraja to play for his movie Thai Mugambigai and subsequently, he did get other opportunities. However his father dissuaded him from pursuing the film line further. P. S. Narayanaswamy and V. Nagarajan were primarily responsible for Harishankar to procure a placement in the All India Radio. In the year 1982, he got an offer to work in the AIR Vadya Vrinda group of New Delhi.

He was also invited to accompany many North Indian musicians and also had the opportunity to play for Sonal Mansingh, Briju Maharaj, Durga prasad and many other famous dancers. On his father's advice Harishankar stopped playing for dance performances and started focusing more on playing concerts.

Eventually he was transferred to the Chennai AIR and started accompanying great doyens of Carnatic music like Semmangudi Srinivasa Iyer, M S Subbulakshmi, D K Pattammal, D K Jayaraman, K V Narayanaswamy and many musical stalwarts. Karaikudi R Mani introduced Harishankar to violin maestro Lalgudi Jayaraman with whom he performed many concerts in India and in countries like Italy, Germany, the United Kingdom, Dubai, Oman and Qatar. He toured Canada with M Chandrasekaran in the year 1984. Similarly he was in great demand for Laya Ensembles with top artists.

Harishankar was married to Jayanthi on February 11, 1987 and he was blessed with a daughter in the year 1992 and named her Hiranmayee.

Though his musical genius was appreciated by most of his co-artists, at the same time there were instances when senior vidwans were hesitant to perform along with him. In many cases, he would win applause and adulation much to the discomfort of the main percussionist. There were certain instances when some mridangists, daunted by Harishankar's

sheer talent and expertise, stopped performing with him altogether.

During his brief tenure in this world, he carved a niche for himself, as far as the kanjira was concerned. It was poignant that he had to finish his last performance at Manpondia and Dakshinamoorthy Pillai Samadhi at Pudukottai where the art of playing the kanjira actually started.

He was suffering from lung problems as early as in 2000 before he finally breathed his last on February 11, 2002. In spite of the serious illness he suffered and endured, he continued to perform till his end. He was passionate about the kanjira and passionate about the art that he knew he belonged to. With his passing away, one of the brightest chapters in the history of kanjira playing and Carnatic music came to an abrupt end. His untimely passing away brought shock and dismay to the entire fraternity. Another extremely poignant fact is that Harishankar passed away on his wedding anniversary.

It really did seem that Harishankar was born for the kanjira alone and through this seemingly small instrument he would forever be remembered and carve himself on the walls of the Carnatic music world. It is said that by listening to Harishankar, one could get a glimpse of the genius of Dhakshinamurthy Pillai. Harishankar himself would dazzle with his amazing speed, seemingly effortless, combined with the mathematical wizardry that would leave connoisseurs wonderstruck. Clearly the kanjira was the medium for him and using the dexterity of his hand, he was able to lift it up to Himalayan heights.

With all his prowess, intelligence, imagination and brilliance, Harishankar was very humble. This shy and withdrawing personality always was true to what the proverb states "Vidhya Thathathi Vinayam" and he was verily the embodiment of his special quality. The encomiums he received and the praised showered on him meant little to him personally, but all of that is directly mapped to the actual fact that he truly deserved them all.

समीक्षा

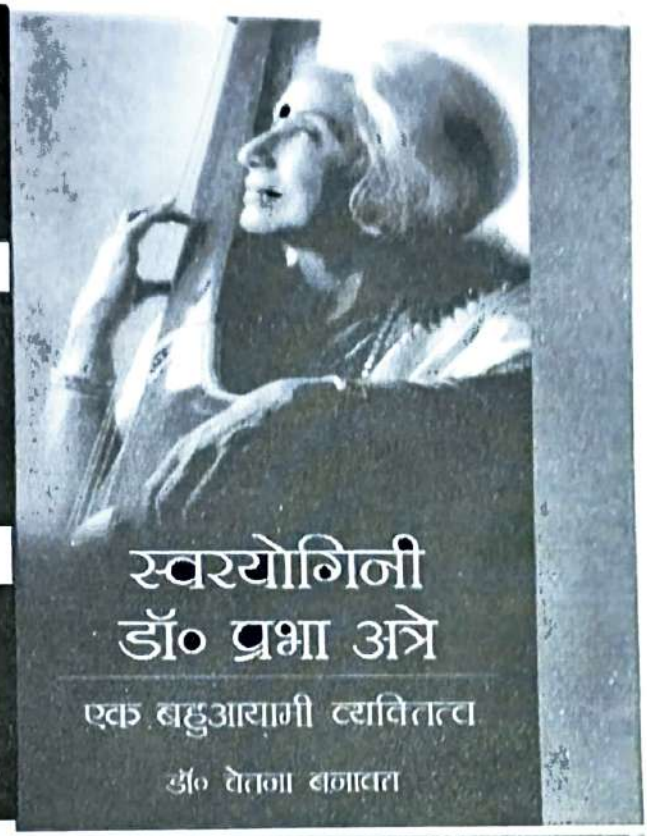

स्वरयोगिनी डॉ० प्रभा अत्रे

एक बहुआयामी व्यक्तित्व

डॉ० चेतना बनावत

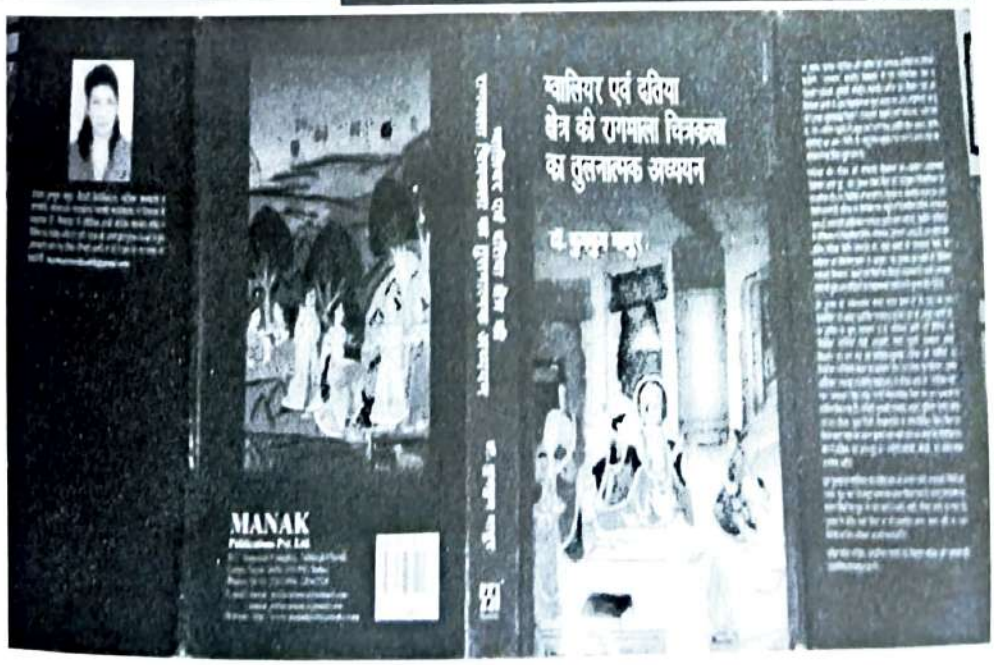

रागमाला चित्रकला का रागात्मक विश्लेषण रूप एक युग के संरक्षण का साहसिक प्रयास

डॉ. मनीषकुमार सी. मिश्रा

यूजीसी रिसर्च अवार्डी, हिन्दी विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डा. कुमकुम माथुर की शोधपरक पुस्तक " ग्वालियर और दतिया क्षेत्र की रागमाला चित्रकला का तुलनात्मक अध्ययन " एक उपयोगी,महत्वपूर्ण, सार्थक और संग्रहणीय पुस्तक है । यह पुस्तक ग्वालियर और दतिया की रागमाला कृतियों से न केवल आपका परिचय कराती है अपितु एक लुप्त प्रायरू विधा से जुड़े दस्तावेज़ों को उनकी प्रामाणिकता के साथ अध्ययन- अध्यापन के लिए भी उपलब्ध करा रही है ।

रागमाला चित्रकला का रागात्मक विश्लेषण करते हुए उसके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों को भी बखूबी इस पुस्तक के अंतर्गत प्रस्तुत किया गया है । कई अप्रकाशित और अघोषित रागमाला कृतियों की विशद विवेचना इस पुस्तक की महत्वपूर्ण उपलब्धि है । कला, साहित्य और समाज का अंतः संबंध एक ऐसे ताने बाने से जुड़ा है जहां संवेदनायें अभिव्यक्ति के द्वार पर लगातार दस्तक देती हैं । कला का मानवीय पक्ष यही है कि वह मानवीय संवेदनाओं को विस्तार देता है । इस तरह इस पुस्तक का संवेदनात्मक महत्व मैं इस रूप में समझता हूँ कि लुप्त प्रायरू कलाओं की खोज और उनके दस्तावेजीकरण का यह प्रयास मूल रूप में मानवीय संवेदनाओं के एक युग को सहेजने जैसा ही है ।

कला के माध्यम से काल विशेष के संरक्षण का यह प्रयास साहसिक है । इस तरह के कार्यों में अपार धैर्य, निष्ठा और समर्पण की आवश्यकता होती है, लेखिका द्वारा किए गए इस कार्य को देखकर उनके श्रम और सूक्ष्म विवेचनात्मक दृष्टि का अनुमान सहजता से लगाया जा सकता है । 394 पृश्ष्ठों की यह पुस्तक मानक पब्लीकेशन प्रा. लि.,नई दिल्ली से प्रकाशित है । पुस्तक की सामाग्री 06 महत्वपूर्ण अध्यायों में विभक्त है । इन अध्यायों के माध्यम से बड़े ही क्रमबद्ध तरीके से सारी जानकारी प्रस्तुत की गयी है । अनेकानेक दुर्लभ चित्रों को भी पुस्तक में छापा गया है ।

लेखिका ने ग्वालियर और दतिया क्षेत्र की रागमाला चित्रकला का ही चयन तुलनात्मक अध्ययन के लिए किया, इसके पीछे तर्कसंगत ऐतिहासिक तथ्य छिपे हुए हैं । दरअसल भारत की प्राचीनतम रागमाला कृति होने का गौरव 1610 ई. की दतिया के वीर सिंह महल स्थित रागमाला ति को ही है । इसी तरह ग्वालियर के मोती महल में चित्रित 1872 ई. की भित्ति रागमाला, इस शैली की अंतिम मौलिक धरोहर है । स्पष्ट है की लेखिका ने रागमाला ति के प्राचीनतम उपलब्ध प्रमाण से लेकर उसके आखरी प्रामाणिक छोर तक अपने

अध्ययन को सुनिश्चित किया । एक कुशल शोधार्थी की यही पहचान होती है कि वह विवेच्य विषय की सीमाएँ तथ्य गत प्रमाणों के आधार पर सुनिश्चित करे, लेखिका ने वही किया ।

भाषा के इतिहास से जुड़े लोग जानते हैं कि चित्र लिपियों और चित्रों के माध्यम से मानव ने अपने आप को बहुत पहले ही अभिव्यक्त करना शुरू कर दिया था । मानवीय विचारों का परिमल विमल प्रवाह चित्रों के माध्यम से ही पहले सामने आया । महाराष्ट्र के अजंता की गुफाओं का चित्र सौंदर्य किसका मन नहीं मोह लेती ? यह वही चित्रशैली परंपरा है जो आगे गुजरात और राजस्थान अधिक विकसित हुई ।चित्रकला में धीरे-धीरे भक्ति, रीति, प्रेम, सोलह श्रृंगार, बारहमासा और रागमाला जैसी नई प्रवित्तियाँ उभर कर सामने आने लगीं । ये कला पे कला के प्रयोग का दौर था । हम जानते हैं कि ग्वालियर और दतिया में संगीत कला को काफी संरक्षण और प्रोत्साहन मिला । इसी संगीत के राग- रागिनियों ने रागात्मक चित्रकला को जन्म दिया । चित्रकार रागों के आधार पर चित्रों का क्रमबद्ध संयोजन करता है । उसका यही क्रमबद्ध संयोजन ही रागमाला चित्रकला है । संगीत,चित्रकला और इतिहास का यह अनुपम संयोग रहा । ये कलाओं के अंतर्विषयी समायोजन,संयोजन और संक्षेपण का प्रतीक रहा । संगतार्थ संगति का यह अनुपम उदाहरण है । संगीत की मधुर ध्वनियों को सुनकर मंत्रमुग्ध श्रोता के मानस में चित्रित भावों को अपनी अभिव्यक्ति का हिस्सा बनाकर, कल्पना के आधार पर रागमाला चित्रों का निर्माण अपने आप में बेजोड़ है । नारद,हनुमान,हरिवल्लभ एवं क्षेमकरण जैसे ग्रंथों का प्रयोग चित्रकारों ने प्रतिमानों,प्रतीकों,स्थितियों आदि के संदर्भ में सजगरूप से किया है ।

कलानाम प्रवरं चित्रं ,धर्म कामार्थः मोक्षदमू द्य माङ्गल्यं प्रथमं ह्येतद्, गृहे यत्र प्रतिष्ठतमू द्यद्य

अर्थात सब कलाओं में चित्रकला उत्तम है तथा चित्रकला की साधना से धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष की प्राप्ति होती है और घरों में चित्र रचना मंगलकारी है द्यकला का भंडार सागर के समान विशाल है द्य प्राध्यापिका ज्योति शर्मा लिखती हैं कि, "तारानाथ ऐसा यात्री था जिसने भारत की कला तिओं को केंद्र बिंदु मान कर बहुत कुछ लिखा है और इस के चलते हमारे कलाकार आत्म-प्रचार से बहुत दूर रहे द्यप्रथम बार मुगल साम्राज्य में ही कला- तिओं को नामांकित करने की प्रथा आरम्भ हुई जिस का अल्पाधिक प्रभाव पहाड़ी एवं दक्षिणी कला पर भी दिखाई देता है द्यकई लोग इसे केवल मनोरंजन का विषय मानते हैं -एक ऐसी वस्तु जो जीवन से अलग हो द्यवास्तव में वह नहीं जानते कि कला सीधे जीवन के तले में घुसकर देखती है और उस के रहस्य की परतें उखाड़ फैंकती है द्य" कला के महत्व को ज्योति जी की बातों से आसानी से समझा जा सकता है । प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम अध्याय ऐतिहासिक,सामाजिक एवं सांस्तिक विवेचन रागमाला चित्रों में संगीत का महत्व शीर्षक से है जो मूलतः परिचयात्मक अध्याय है । इस अध्याय के अंतर्गत रागमाला चित्रों में संगीत के महत्व का प्रतिपादन मनीषियों एवं देवी-देवताओं से जुड़े मंतव्यों के माध्यम से भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । दूसरा अध्याय रागमाला से तात्पर्य और भारतीय परंपरा शीर्षक से है । इस अध्याय में लेखिका ने रागमाला चित्रों की विशेषताओं का विस्तृत वर्णन किया है । उनके उदभव और विकास की क्रमबद्धता को तथ्यों और प्रमाणो के आधार पर कसा है । इन तथ्यों से प्रामाणिकता का रूप अधिक व्यापक हो जाता है जो कि इसतरह के

शोधपरक अध्ययन की एक अनिवार्य शर्त सी होती है ।

पुस्तक का तीसरा अध्याय ग्वालियर एवं दतिया शैली में रागमाला का प्रारम्भ ग्वालियर एवं दतिया के रागमाला कलाकार रागमाला चित्राधार शीर्षक से है । जैसा कि शीर्षक से ही पता चलता है यह भी एक तरह से परिचयात्मक अध्याय ही है जो कला विशेष के प्रारंभ, इससे जुड़े मंतव्यों, इस कला विशेष के कलाकारों के परिचय के साथ ही चित्रधारा जैसे बिन्दुओं पर भी विश्लेषण प्रस्तुत करता है । इस अध्याय की सबसे बड़ी विशेषता मुझे जो लगी वह है इसकी तथ्यपरखता । अपनी बात के परिप्रेक्ष्य में तथ्यों को सुंदर तरीके से प्रस्तुत किया गया है । तथ्यों को प्रस्तुत करने की जगह और शैली दोनों का सुंदर समन्वय है । चौथा अध्याय ग्वालियर एवं दतिया रागमाला चित्रों की प्राचीनता का निर्धारण शैलीगत समानताएँ तथा विभिन्नताएँ शीर्षक से है । यह अध्याय अपने आप में बेजोड़ है । यह एक तरह से तथ्यात्मक विश्लेषण,नियोजन,संयोजन एवं तुलनात्मक ष्टि से भरा हुआ गंभीर अध्याय है । अध्याय पाँच रागमाला चित्र अभिव्यक्ति के माध्यम शीर्षक से है । इस अध्याय के अंतर्गत उन माध्यमों की चर्चा है जिनके आधार पर इन रागमाला चित्रों को अभिव्यक्त किया गया । प्र ति चित्रण, राधा- ष्ण ,ऋतु चित्रण, दैनिक जीवन, पशु-पक्षी, धार्मिक एवं पारंपरिक चित्रण इत्यादि । लेखिका के ने अन्य प्रचलित शैलियों के साथ विवेच्य शैली की तुलना करके इसके महत्व एवं विशेषता को बड़े ही तर्कसंगत तरीके से विवेचित किया है । षष्ठम अध्याय चित्रण स्थल एवं चित्रण विवरण नामक शीर्षक से है । यह पुस्तक का अंतिम अध्याय भी है । इस अध्याय में भी विवेच्य कलाओं का तुलनात्मक अध्ययन , उनके स्थान विशेष की जानकारी, रागमाला शैलियों की विस्तृत विवेचना इस अध्याय में है । जो बात इस अध्याय को अधिक महत्वपूर्ण बनाती है वो है कतिपय अप्रकाशित, अघोषित रागमाला तियों के प्रकाशन एवं विवेचन के साथ अभिव्यक्ति के खतरे को उठाने के साहस की । जैसे कि रागिनी बसंत,रागिनी बिलावल,रागिनी गूजरी,रागिनी देशकाल,रागिनी भैरवी इत्यादि । ये एक साहसिक और चुनौतीपूर्ण कार्य है जिसके लिए लेखिका बधाई की पात्र हैं । परिशिष्ट, छायाचित्र,उपसंहार और संदर्भसूची पुस्तक के महत्वपूर्ण अंग के रूप में संलग्न हैं ।

आज के उपभोगतावादी और इस बाजारीकरण के युग में ऐसी प्राचीन कलाओं का संरक्षण एवं उनका शोधपरक प्रकाशन चुनौतीपूर्ण लेकिन आवश्यक है । लेखिका को उनके इस साहसिक कार्य के लिए बधाई । विश्वास है कि जो लोग अध्ययन अध्यापन के लिये रागमाला चित्रों के बारे में जानकारी चाहते हैं उनके लिये यह पुस्तक सदैव एक महत्वपूर्ण उपलब्धि रहेगी ।

The journey from struggle to success

Ashmita Mishra

Dr. prabha atre had been an important part of the kairana gharana. She has not limited herself till being a classical vocalist but is also known for her sugam sangeet, upshastriya sangeet & also Marathi natya sangeet. Dr. Prabha Atre had interest in music since her childhood but never thought of pursuing it as a career, while at the age of 8 when her mother, Indirabai was not very well which led her to follow a friend's suggestion to listen to classical music & that's what insisted her to start learning music. She has proved her talent by being a skilled writer, a capable teacher & a programme sponsor. A lot of ragas & compositions had been made by her which is nowadays sung by several artists on various stages. But the dilemma lies in that in a vast country like India how musicians can be introduced about each other's conceptions. How can a hindi speaking north Indian understand Marathi musical operas or read any other regional book. Dr. chetna banavat has bought solution to such complexities in her book, released in April titled as 'Swaryogini Dr. Prabha atrey: Ek bahuayaami vyaktitva,' which describes Dr. prabha Atrey as a multi faceted personality. This is a research work done by the writer published in a book format.

There had been a description of Prabha Atrey's vocal style, her khyal presentations slow & fast tempos(vilambit & drut laya), taranas, sargams, taan had been emphasized with a good research. The book which has also used various presentations as a reference also has mentioned about prabha ji's book as an author & several other author's books in hindi, English & Marathi. Few contradictory questions has also been raised, one of which was for prabha ji's not singing khayal's antara at times as that of late Amir khan. There had not been only the author's opinion about prabha atrey but several singers, writers & thinkers have also presented their own views. The specifications of collection of her self composed

compositions which includes darbari kaus, patdeep malhar, shivakali, jansammohini has enhanced the value of the book. There had been also mention of Ms. Atre's working as a music officer at several posts & also as an actor & singer in several Marathi serials. This book also revolves around the struggle & success period of Prabha's life.One major speciality of this book is that it doesn't only spins around prabha's life but reveals interesting incidents related to their guru Suresh babu mane & Hirabai badodkar also Amir khan, Bade ghulam ali khan, Begum akhtar & Noor jahan.

Dr. chetna banavat is one of the disciples of Padma Bhushan Prabha Atre. Following the foot impressions of Prabha ji Chetna is working as a singer, writer & a teacher & trying to improve each aspects day by day. On one side the language of book is easy & understandable whereas on the other beautification will attract.

अनुभूति

राधा मोहन प्यारी

पंडित विजयशंकर मिश्र

संगीत सेवी, नई दिल्ली

इस रचना में वर्णित तथ्यों, घटनाओं की प्रामाणिकता का दावा लेखक कदापि नहीं करता। इस रचना का आशय किसी की भावना को ठेस पहुंचाना भी नहीं है। लेखक का आग्रह है कि इसे सिर्फ एक काल्पनिक और मनोरंजक कथा की तरह पढ़कर आनन्द लें। अच्छा लगे तो आभार बुरा लगे तो क्षमा।

मेरो भव बाधा हरो। राधा नागरी सोई।
जा तन की झाई परत। याम हरित दुति होई।
राधा...शाश्वत प्रेम की शाश्वत प्रतीक राधा...

जो हजारों वर्षों से एकनिष्ठ और निःस्वार्थ प्रेम, त्याग, तपस्या और समर्पण की अद्वितीय प्रतीक और मूक साक्षी बनी हुई है। राधा कृष्ण के साथ देवी के रूप में देवी की तरह हजारों वर्षों से पूजी जा रहीं हैं।

राधा- जो काली या दुर्गा की तरह वीरांगना और असुर संहारिणी नहीं हैं

राधा- जो लक्ष्मी की तरह धन, सम्पदा और ऐश्वर्य की देवी भी नहीं हैं

राधा- जो सरस्वती की तरह विद्या और संगीत की भी देवी भी नहीं हैं

राधा- जो पार्वती की तरह पतिव्रता पत्नी भी नहीं हैं, जो सात जन्मों तक शिव से व्याह करती रहीं, और, तो और राधा तो मीरा की तरह प्रेम दीवानी भी नहीं हैं जो अपने प्रियतम को पाने के लिये राना ने भेजा जहर का प्याला पीवत मीरा हांसी। लोग कहें मीरा भाई बाबरी, सास कहें कुलनासी। और, साधु संग बैठी-बैठी लोक-लाज खोई' के ताने सुनकर भी यही गाती रहीं-मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई। जाके सिर मोरमुकुट मेरो पति सोई।' और, 'मैं तो गिरिधर आगे नाचूंगी'। और, तरह-तरह कष्ट सहती रही, दर-दर भटकती रही। लेकिन, राधा ने तो यह भी नहीं किया। और सच कहें तो अपने प्रेम को पाने के लिये कुछ भी नहीं किया। फिर, वे सच्चे प्रेम की प्रतीक कैसे बन गयीं। प्रेम की देवी कैसे बन गयीं?

कृष्ण-राधा और उनके प्रेम के प्रति बहुत गंभीर थे। उन्होंने अपनी प्रिय माँ यशोदा के सामने अपनी यह इच्छा प्रकट भी की थी-कि राधा मुझे बहुत अच्छी लगती है, और मैं उसे अपनी दुल्हन बनाना चाहता हूं। यह सुनकर यशोदा पहले तो उनकी बात हंसी में टालने की कोशिश करती हुई हंसकर बोली 'नहीं उसकी सामाजिक हैसियत हमसे बहुत कम है। वह इस घर की बहू बनने योग्य नहीं है। फिर, उसका ब्याह तय भी हो गया है। और वह उम्र में भी तुम से बड़ी है।'

लेकिन, कृष्ण की प्रबल इच्छा शक्ति, ज़िद और अनुनय-विनय के आगे अन्ततोगत्वा यशोदा को झुकना ही पड़ा और वे कृष्ण से बोलीं 'ठीक है। मैं उचित समय देखकर तुम्हारे बाबा से इस विषय में बात करूंगी।'

लेकिन, आतुर प्रेमी कृष्ण को उचित समय की प्रतीक्षा करना स्वीकार नहीं था। अतः उन्होंने स्वयं एक दिन नंदराय जी से कह दिया 'राधा मुझे बहुत अच्छी लगती है। मैं उससे प्रेम करता हूं, और विवाह करना चाहता हूं। राधा भी इस विवाह के पक्ष में है।' यशोदा की तरह नंद ने भी कृष्ण को तरह-तरह से समझाने की कोशिश की थी। लेकिन, कृष्ण नहीं मानें, तब नंद ने यह कहकर बात को आगे के लिये टाला कि इस विषय में फिर कभी बात करेंगे। अगले दिन गर्ग ऋषि नंदराय के यहां पधारे। यह भी संभव है कि वे नंद के अनुरोध पर ही आये हों। नंद ने कृष्ण के इच्छा की चर्चा गर्ग ऋषि से की। उस समय कृष्ण वहीं उपस्थित थे। कृष्ण ने भी अपने मन की बात उनसे कही। तब गर्ग ऋषि ने कृष्ण के जन्म का भेद उन पर खोलते हुए कहा-'कृष्ण! तुम कोई साधारण मनुष्य नहीं हो। तुम सिर्फ जन्म लेने, विवाह करने और मर जाने के लिए इस धरती पर नहीं आये हो। तुम्हें अपने घर-परिवार, समाज, देश और दुनिया के लिये बहुत कुछ करना है। इसलिये तुम केवल अपने लिये, अपने सुख के लिये नहीं सोच सकते।'

यह सुनकर कृष्ण सकते में आ गये। गर्ग ऋषि ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा- 'तुम नन्द और यशोदा के नहीं-मथुरा-नरेश कंस की बहन देवकी और उनके पति वसुदेव की आठवीं संतान-वासुदेव-हो। एक आकाशवाणी के अनुसार तुम इस धरती पर कंस का वध करके उसके अत्याचार से लोगों को मुक्ति दिलाने के लिये अवतरित हुए हो। तुम नर के रूप में नारायण हो। कंस ने तुम्हारे माता-पिता को जेल में बन्द कर रखा है। उसने तुम्हारे सात भाइयों की भी हत्या-उनके जन्म लेते ही करवा दी है। यहां तक कि उसने अपने पिता महाराज उग्रसेन को भी बंदी बना रखा है। इसलिये यह तुम्हारा कर्तव्य भी है और धर्म भी कि तुम अपने विवाह से पहले अपने माता-पिता और नाना की मुक्ति के विषय में सोचो। महर्षि व्यास की भविष्यवाणी के अनुसार तुम यदुवंशियों के नायक और धर्म तथा मानवता के रक्षक बनोगे। तुम अपने धर्म और कर्त्तव्य का पूरी तरह पालन कर सको, इसलिये और अत्याचारी कंस से सुरक्षित रह सको- इसलिये जन्म लेते ही- उफनती यमुना पार करके गुपचुप तरीके से काली अंधेरी रात में वसुदेव तुम्हें यहां-नंदराय के घर छोड़ गये थे। और नंद-यशोदा ने अत्यन्त गोपनीयता के साथ अपने पुत्र के रूप में तुम्हारा पालन पोषण किया है। कृष्ण! तुम एक महान् उद्देश्य के लिए इस धरती पर आये हो। इसलिए राधा जैसी एक साधारण, गरीब, अनपढ़ और ग्रामीण लड़की तुम्हारी पत्नी बनने योग्य नहीं है। तुम राजा बनोगे इसलिए तुम्हें किसी राजकुमारी के साथ विवाह करना ही शोभा देगा-जो राजनीति भी जानती हो- और राजमहलों के तौर-तरीके भी जानती समझती हो।'

सोलहो कला संपन्न श्रीकृष्ण विष्णु के पूर्णावतार थे। वे समझ गये कि उन्हें क्या करना है? उन्होंने अपने कर्त्तव्य की दिशा भी इसी समय तय कर ली थी। किन्तु उन्हें राधा का दिल दुखाना स्वीकार नहीं था-दिल तोड़ना तो दूर की बात है। धर्म की रक्षा का काम वे अधर्म से नहीं शुरू करना चाहते थे। और, किसी के मासूम, निष्कलुष मन को तोड़ना दुनिया का सबसे बड़ा अधर्म, सबसे बड़ा पाप है। इसी बात को बाद में बुल्ले शाह ने भी कहा-'बेशक मंदिर-मस्जिद तोड़ो बुल्लेशाह यह कहता। पर प्यार भरा दिल कभी न तोड़ो इस दिल में ईश्वर रहता।'

इसके बाद कृष्ण राधा से मिलते हैं, और एक दिन उचित समय देखकर अपनी वास्तविकता राधा को बता देते हैं। कृष्ण राजवंशी हैं, वे गोपाल नहीं, भावी मथुरा नरेश हैं और वृंदावन से जल्द ही जाने वाले हैं अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये। यह सुनकर राधा-हतप्रभ-जड़वत हो गयीं-उनकी समझ में नहीं आया कि वे खुश हों या दुखी? हंसे या रोयें? उनका प्रेमी, प्रियतम उनसे बिछुड़ने वाला है सदा के लिये-यह जानकर वे शोक मनायें? या जिसे वे गोपाल नंदलाल- समझ रही थीं, वह मथुरा का भावी सम्राट बनने वाला है-यह जानकर उत्सव मनायें?

राधा के सागर रूपी विशाल हृदय में भिन्न-भिन्न भावनाओं की उत्ताल तरंगें हिलोरें ले रही थीं। विचारों का ज्वार भाटा उमड़ रहा था। प्रेम और कर्तव्य के दोराहे पर खड़ी वह भावनाओं के भंवर में डूबी जा रही थी। उधर उनके मन और मस्तिष्क में चल रहे द्वन्द्वयुद्ध से अनभिज्ञ सर्वज्ञ-सर्वव्यापी-श्रीकृष्ण उनसे कह रहे थे,-'तुम मेरे लिये बिलकुल भी चिन्ता मत करो। मैं कर्त्तव्य और धर्म के मार्ग पर अडिग रहनेवाला इन्सान हूं। मुझे मेरे मार्ग से कोई भी डिगा नहीं सकता है। विधाता ने अगर मुझे इसी कर्म के लिए धरती पर भेजा है, तो यह काम तो मुझे करना ही होगा। फिर तो कंस या उनके योद्धा मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। क्या तुम भूल गयी कि अब तक पूतना सहित मैं ने कितने ही राक्षसों को मार गिराया है। कालिया नाग का आतंक समाप्त किया है। कनिष्ठा अंगुली पर गोवर्धन पर्वत धारण कर इन्द्र के अहंकार को चूर किया है। और यह सब मैंने केवल अपने शौर्य और शक्ति के बल पर नहीं किया है। इन सबके पीछे ईश्वर, विधाता का आशीर्वाद, उनकी कृपा, उनका समर्थन भी शामिल है।'कृष्ण एक क्षण के लिये रूकते हैं। राधा की सागर सी गहरी आँखों में झांकते हैं-आँखों के उस सागर के गहरे जल में कृष्ण को -सिर्फ कृष्ण ही कृष्ण-अनगिनत असंख्य कृष्ण दिखाई दिये। घबराकर कृष्ण ने अपने अधरों को राधा की आँख पर रख दिया। कृष्ण के अधर चंदन की तरह शीतल थे। उस शीतलता को अनुभव कर राधा की आँखें बन्द हो गयीं। कृष्ण के अधरों में हल्का सा कंपन हुआ। वे धीमें स्वरों में राधा से कह रहे थे-'तुम नाहक परेशान न हो। कुछ दिनों की तो बात है। मथुरा में सब कुछ ठीक होते ही मैं तुम्हें बुला लूंगा। फिर हम दोनों धूम-धाम से विवाह करेंगें। मैं मथुरा का राजा बनूंगा और तुम मथुरा की रानी। जबकि, मेरे हृदय के सिंहासन पर तो तुम अभी से महारानी के रूप में विराजमान हो।'

राधा को अपने कानों में पड़ती कृष्ण की वह धीमी आवाज कहीं दूर से-बहुत दूर से आती हुई सी लग रही थी। वह भी मद्धिम स्वर में बोलीं,-'कृष्ण तुम मेरे मन मंदिर के देवता हो। मेरे आराध्य हो तुम और देवता को भोगा नहीं जाता-पूजा जाता है। ईश्वर ने तुम्हें पृथ्वी पर कई महान् कार्य करने के लिये चुनकर भेजा है- इसलिये तुम भी महान् हो। तुम्हें मथुरा जाने से मैं नहीं रोकूंगी मैंने तुम्हें प्यार किया है इसलिये तुम्हारे राह में कभी रूकावटें नहीं डालूंगी। मेरा नाम राधा है इसलिये तुम्हें तुम्हारे लक्ष्य तक पहुंचने देने में कभी बाधा नहीं बनूंगी। लेकिन' -राधा एक क्षण के लिये रूकती हैं। अपनी आँखें खोलकर कृष्ण को देखती हैं। कृष्ण की आंखों में उन्हें हलचल सी दिखाई दी। लेकिन, कृष्ण को अब राधा की आँखों में गहरा आत्मविश्वास दिखाई दे रहा था। भावनाओं का द्वन्द्व समाप्त प्राय हो गया था। राधा ने अपना वाक्य पूरा किया-'मैं मथुरा नहीं जाऊंगी। मैं ने सुना है राजमहलों में रहने के ढ़ेर सारे नियम अनुशासन होते हैं मैं गाँव में रहने वाली गाँव की एक साधारण लड़की हूं। शायद मैं वहां के तौरतरीकों के साथ तालमेल न बैठा सकूं। और, मैं कभी नहीं चाहूंगी कि मेरी किसी भूल,

किसी गलती के कारण तुम्हारे मान सम्मान को ठेस पहुंचे तुम्हारा अपमान हो। इसलिये मैं यहीं गोकुल में-तुम्हारे प्रेम के सहारे तुम्हारी यादों के सहारे जी लूंगी। तुम्हारी यादों के चिराग मेरे मन मंदिर को सदैव प्रकाशित रखेंगे तुम्हारी स्मृतियों का दिया कभी नहीं बुझेगा। तुम मेरे प्राणेश्वर थे प्राणेश्वर हो और प्राणेश्वर रहोगे हो सके तो तुम भी अपने विशाल हृदय के किसी कोने में मेरी यादों को सुरक्षित रखना मेरे कृष्ण।' कृष्ण ने स्वीकृति और सहमति में कुछ कहा नहीं बस हौले से गर्दन हिलाते हुए राधा के कन्धे पर हाथ रख दिया। राधा कृष्ण की भाषा समझती थीं, इसलिये संतुष्ट हो गयीं। इसके बाद कृष्ण ने राधा के माथे पर एक गहरा चुम्बन अंकित किया। कृष्ण शब्द संस्कृत के कृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है खींच लेना या आकर्षित करना। इसलिये कृष्ण सबके आकर्षण के केन्द्र थे और हैं। एक दिन देवर्षि नारद कृष्ण की लीलाओं का अवलोकन करके उनके आकर्षणपाश में बंधे चले जा रहे थे कि उनकी मुलाकात कामदेव से हो गयी। नारद मुनि ने कामदेव द्वारा उनकी प्रसन्नता का कारण पूछे जाने पर जब कृष्ण की लीलाओं का वर्णन भाव विभोर होकर करना शुरू किया तो कुपित कामदेव ने कृष्ण को पराजित करने का निश्चय किया। इस निश्चय के साथ ही वे ब्रजभूमि की ओर चल पड़े। दूसरी ओर लीलाधाम श्रीकृष्ण ने भी कामदेव का दर्प दमन करने के उद्देश्य से रासलीला के आयोजन का मन बनाया। वैसे भी, मथुरा जाने के पूर्व श्रीकृष्ण राधा सहित अपनी समस्त गोपियों के संग एक ऐसी लीला करना चाहते थे।

वह शरद ऋतु की पूर्णिमा की सुहानी निशा थी। जब श्रीकृष्ण ने राधा एवं अन्य गोपियों के साथ इस दिव्य, अपार्थिव व मनोमुग्धकारी नृत्य कला का प्रदर्शन किया। रासमंडल का अध्यक्ष नटराज भगवान शंकर को बनाया गया। चूंकि, रास मंडल ब्रजगोपियों से शोभायमान था और एक मात्र कृष्ण के अलावा गोपियां ही प्रधान रूप से इसमें सम्मिलित हुई थीं। अतः अध्यक्षता कर रहे नटराज शंकर को गोपेश्वर भी कहा गया। कामदेव कुछ देर तक तो श्रीकृष्ण पर अपने वाण छोड़ते रहे किन्तु बाद में वे भी रास के रस में खो गये। मदन को भी मोह लेने के कारण कृष्ण का एक नाम मदन मोहन भी पड़ा। श्रीकृष्ण के आकर्षण पाश में बंधी राधा सहित सभी गोपियां यही चाहती थीं कि कृष्ण सिर्फ उनके साथ रहें-सिर्फ उनके साथ। इसलिये उन्होंने गोपियों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से स्वयं को एक से अनेक में परिणत करके दो गोपियों के मध्य में एक कृष्ण को स्थित कर दिया। भाव विभोर हर गोपी यही समझती थी कि कृष्ण उसे सबसे ज्यादा प्यार करते हैं, इसलिये उसी के साथ हैं। जबकि वे सबके साथ थे। मध्य में राधा कृष्ण की युगल जोड़ी थी। इस रास का वर्णन करते हुए सूरदास जी ने लिखा है-

अंगहि कोटि काम छवि लज्जित/मधि नायक गिरधारी
नश्त्य करत रस बस भये दोऊ/मोहन राधा प्यारी।
ब्रज बनिता मंडली बनी यों/शोभा अधिक विराजे
नूपुर कटि किंकनी चलत गति/अरस परस पर बाजै।
मोर चन्द्रिका सिर पर सोहे/जब हरि रूनझुन नाचै।
अंग-अंग प्रति और गति/कोटि मदन छवि राचै।
जमुना जल उलटी भई धारा/चंदा रथ न चलावे।
वानक अति ही वन्यो मनमोहन/मन्मथ पकर नचावें।
नश्त्य करत रीझत मनमोहन/राधा कंठ लगाई।
रास विलास करत सुख उपज्यो/ सब बस किये कन्हाई।
अंतरध्यान करत सुख बाढ़ैं/ राधा वर सुखकारी।
सूरदास प्रभु भक्त वत्सलता/ प्रकट करी गिरधारी।

राधा-कृष्ण और गोपियों के प्रेम तथा रासलीला की कई लोगों ने सतही तौर पर व्याख्या करते हुए अपनी नासमझी और अज्ञानता का परिचय दिया है। लेकिन राधा एवं अन्य गोपियों के संबंध में यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि वे साधना के उच्चस्तर में परम आदर्श थीं। इसीलिये तो उन्होंने देह-गेह, पति-पुत्र, लोक-परलोक, धर्म-कर्त्तव्य, सबका उल्लंघन एवं परित्याग करके एकमात्र परम धर्म स्वरूप श्रीकृष्ण को ही पाने के लिये अभिसार किया था। उनका पति-पुत्रें और अन्य सभी कर्त्तव्यों-धर्मों का त्याग ही-स्वर्धम है। इस सर्वधर्म त्याग स्वरूप स्वधर्म का पालन राधा एवं अन्य गोपियों जैसे महान साधकों से ही संभव है। क्योंकि, सर्वधर्मों का त्याग उन्हीं के लिये संभव है, जो इसका यथाविधि पूरी तरह पालन कर चुकने के पश्चात् इसके परमफल, अनन्य और अचिंत्य देव दुर्लभ भगवत प्रेम को प्राप्त कर चुके होते हैं। देवर्षि नारद के एक सूक्त के अनुसार-'जो वेदों का, वेद मूलक समस्त धर्म मर्यादाओं का भली भांति त्याग कर देता है, वही अखंड, असीम भगवत्प्रेम को प्राप्त करता है।' प्रेम की पूर्णता ही वैराग्य है। ब्रह्मा, शंकर, उद्धव और अर्जुन आदि ने जिन गोपियों की उपासना करके ईश्वर के श्रीचरणों में वैसे ही प्रेम का वरदान पाया, राधा सहित उन गोपियों के दिव्य भाव को सामान्य नर-नारी के भाव जैसा मानना गोपियों, राधा, ईश्वर और परमसत्य के प्रति अन्याय ही नहीं अपराध भी है। भागवत में शुकदेवजी ने परीक्षित को संबोधित करते हुए कहा है कि-'हे परीक्षित! जो धीर पुरूष ब्रज युवतियों के साथ भगवान श्रीकृष्ण के इस चिन्मय रास विलास का श्रद्धा के साथ बार-बार श्रवण और वर्णन करता है, उसे भगवान के श्री चरणों में पराभक्ति की प्राप्ति होती है। और, वह अतिशीघ्र अपने हृदय के रोग-काम विकार-आदि से मुक्त हो जाता है।' अन्ततः वह दिन भी आ ही गया, जिस दिन की कल्पना करके ही राधा कांप जाती थी नन्द और यशोदा जिस दिन के विषय में सोचना भी नहीं चाहते थे-और जिस दिन की याद किसी भयावह सपने की तरह बार-बार उन्हें सताती थी। और, जिस दिन की-कृष्ण को उत्सुकता से प्रतीक्षा थी- क्योंकि, वे अपने दायित्वों का निर्वाह शीघ्र-अति शीघ्र करना चाहते थे।

कंस का निमंत्रण लेकर अक्रूरजी वृंदावन आ पहुंचे थे। कृष्ण ने रोते माता-पिता और विलखते संगी-साथियों को दिलासा दिया, समझाया और बलरामजी के साथ मथुरा जाने को तैयार हो गये। आगे जाने पर उन्हें भाव विहवल गोपियां मिलीं। नंद-यशोदा -गोप-ग्वालों और स्वर्ग को चुनौति देनेवाली ब्रज भूमि से बिछुड़ते हुए कृष्ण का कलेजा भी जैसे फट रहा था। लेकिन, वे ऊपर से शान्त और संयत दिखने की पूरी चेष्टा कर रहे थे। किन्तु गोपियों की दशा देखकर वे अपने आंसुओं को नहीं रोक पाये। गोपियों की भीड़ सामने देखकर रथ के पहिये स्वतः रूक गये थे घोड़ों ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया था। कृष्ण अपने पीताम्बर से आंसुओं को पोंछते हुए रथ से नीचे उतरे। गोपियों की व्याकुलता उन्हें भी व्याकुल कर रही थी। उन्होंने उन्हें उनके कर्त्तव्य का, फिर अपने कर्त्तव्य का वास्ता दिया। बताया कि,- 'मेरा धर्म मुझे पुकार रहा है।' कृष्ण ने कहा कि-'इस समय मैं एक ऐसे दोराहे पर खड़ा हूं जिसका एक रास्ता मेरे व्यक्तिगत सुख की ओर जाता है, और, दूसरा धर्म के उत्थान की ओर, समूची मानवता की भलाई की ओर। क्या तुमलोग यह चाहती हो कि मैं अपने निजि स्वार्थ के दलदल में फंसकर, सिर्फ अपने सुख और भलाई की बात सोचकर यहां रूक जाऊं, और जीवन भर आत्मग्लानि से पीड़ित रहूं? और, आनेवाला समय मुझे कोसता रहे? क्या तुमलोग स्वयं कंस के अत्याचारों से मुक्त होना नहीं चाहती? अपनी ज्ञान की आँखों को

खोलकर देखो। तुमलोग एक झूठी परछाई के पीछे भाग रही हो- जबकि तुम्हें सच का सामना करना चाहिये। स्त्रियों का परम धर्म यही है कि वे पति और उसके भाई बंधुओं की निष्कपट भाव से सेवा करें। कुलीन स्त्रियों के लिये पराये पुरूष की सेवा सब तरह से निंदनीय है। मोक्ष आदि की बात तो दूर यह नर्क का द्वार है। अतः हे गोपियों। मेरी लीला और गुणों की प्राप्ति पास रहने से नहीं होती। इसलिये तुमलोग अपने -अपने घर लौट जाओ और श्रद्धा पूर्वक अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करो।'

गोपियां रोना भूल गईं। उन्होंने चकित होकर, आंखें फाड़कर कृष्ण की ओर देखा। उन्हें लगा कि अरे! मेरा कृष्ण तो अचानक बहुत बड़ा हो गया है! यह ज्ञान की कैसी बड़ी-बड़ी बातें करने लगा है! क्या यह वही है जो मेरे मक्खन चुरा लेता था मटकी फोड़ देता था और कपड़े छुपा देता था? इस बार जब उन्होंने कृष्ण को देखा तो उन्हें कृष्ण में, नर में, जैसे नारायण के दर्शन हुए। वे समझ गईं कि यह कोई साधारण पुरूष नहीं है जो गौवें चराने के लिये, दूध-दही बेचने के लिये पैदा हुआ है। बचपन में ही कितने असुरों को मार गिराने वाला, कालिय नाग का मान-मर्दन करनेवाला और गोवर्धन पर्वत को अपनी अंगुलियों पर उठाकर ब्रज की रक्षा करनेवाला साधारण इंसान हो भी कैसे सकता है? उनका मस्तिष्क जरूर यह कह रहा था, लेकिन मन मानने को तैयार नही था। फिर भी, आज कृष्ण की वाणी में उन्हें एक आदेशात्मक स्वर सुनाई दे रहा था। यह कृष्ण वह कृष्ण तो कदापि नहीं था- जो उनसे छोटी-छोटी बातों के लिये मान मनुहार करता था रीझता-रिझाता था डरता भी था और डराता भी था। आज कृष्ण जिस स्वर में उन्हें आदेश दे रहे थे-उससे इनकार करना-उसकी अवहेलना करना कठिन ही नहीं असंभव भी था। वे कृष्ण के आदेश को मानने के लिये बाध्य थीं।

कृष्ण ने देखा उन गोपियों में राधा नहीं है। वे समझ गये कि वह कदम्ब के वृक्ष के नीचे एकान्त में उनकी प्रतीक्षा कर रही होगी। कृष्ण ने गोपियों को उनके घर की ओर विदा किया। और, रथ को वृंदावन के उस सघन कुंज की ओर मोड़ने का आदेश दिया, जहां एकान्त के क्षणों में राधा के साथ उनकी मुलाकातें होती थीं।

कृष्ण का अनुमान सही था। कदम्ब के वृक्ष के नीचे राधा घुटनों पर सिर टेके बैठी थी। आज वह सुर्ख लाल जोड़े में नख से शिख तक किसी दुल्हन की तरह सजी संवरी थी। कृष्ण की पदचाप सुनकर उसने गर्दन उठाकर उनकी ओर देखा और हौले से एक दर्द भरी मुस्कान के साथ बोली-'जा रहे हो कृष्ण?' वह उठकर खड़ी हो गयी थी। कृष्ण उसके पास पहुंचकर बोले-'हां राधा! मैं जा रहा हूं। लेकिन, जाने से पहले तुमसे यह कहने आया हूं कि तुम मेरे प्रस्ताव पर एक बार और गंभीरता से विचार करो। मैं ने सदैव तुम्हें अपनी सहधर्मिणि के रूप में देखा है जीवन संगिनी के रूप में देखा है। और, मैं अपना जीवन तुम्हारे साथ ही बिताना चाहता हूं। तुम एक बार बस हां कह दो। मैं सब कुछ संभाल लूंगा ठीक कर दूंगा। मुझे बस तुम्हारे एक 'हाँ' की, स्वीकृति की प्रतीक्षा है।'

राधा मुस्कुराई फिर बोली-'नहीं कृष्ण। यहां से हमारे रास्ते अलग होते हैं। लेकिन मैं तुम्हारी जीवन संगिनी और सहधर्मिणी जरूर बनी रहूंगी। तुम जिस रास्ते पर चल पड़े हो उसकी सफलता के लिये मैं शुभकामनायें देती हूं। याद रखना कृष्ण मैं राधा हूं। राधा-धारा का उलटा होता है। धारा चाहे कोई भी हो-सदैव ऊपर से नीचे की ओर जाती है। जबकि, राधा-उर्ध्वगामी-नीचे से ऊपर की और जाती भी है, और अपने साथी को भी अपने साथ ले जाती है। इसलिये मैं तुम्हारे राह में बाधा कभी नहीं

बनूंगी। मेरा प्रेम तुम्हारे राह की रूकावट कभी नहीं बनेगा। मैं कभी तुम्हारे रास्ते में नहीं पडूंगी।'

'फिर मुझे भूल जाना राधा किसी बुरे सपने की तरह इन यादों को भुला देना।' कृष्ण बोले।

'क्या कहते हो कृष्ण! क्या तुम मुझे भूल पाओगे?'राधा ने पूछा। उनकी आवाज कांप रही थी।

'नहीं -कभी नहीं।' कृष्ण धीमें स्वर में बोले।

'फिर मैं कैसे भूल सकती हूं?' राधा ने चुभते स्वर में पूछा,-'तुम इतनी जल्दी कैसे भूल गये कि हम दोनों ने एक दूसरे को सदैव याद रखने का एक-दूसरे की स्मृतियों को सुरक्षित रखने का वचन दिया था?'

'मैं कुछ भी नहीं भूला हूं राधा मुझे सब कुछ याद है। लेकिन मैं यह सोचकर चिन्तित हूं कि मेरे जाने के बाद तुम अकेले कैसे रहोगी?' कृष्ण की आवाज कांप रही थी।

'तुम्हारी यादों के सहारे। मैं विवाह करूंगी-जो तय हो चुका है। अपने कर्त्तव्यों का पूरी श्रद्धा और निष्ठा से पालन करूंगी। अपने धर्म का दृढ़ता से पालन करूंगी। और, याद रखना-मेरा धर्म मुझे तुमसे जोड़ता है। हां! किसी पराये पुरूष की कामना कभी नहीं करूंगी।' राधा के स्वरों की दृढ़ता ने कृष्ण को चौंका दिया।

कृष्ण ने चौंककर राधा की ओर देखा। क्योंकि राधा वही शब्द, वही भाषा बोल रही थी, जो अभी-अभी गोपियों से वे बोलकर आये थे। राधा कृष्ण की यह स्थिति देखकर मुस्कुरा पड़ी। फिर बोली-' क्यों? यह सोचकर चकित हो कि तुम्हारे शब्द मुझ तक कैसे पहुंच गये?' कृष्ण ने स्वीकृति में गर्दन हिलाया।

'मत भूलो कृष्ण कि तुम मुझमें हो। मैं तुमसे अलग नहीं हूं। हो भी नहीं सकती। इसलिये तुम जो सोचते हो, जो करते हो-जो सोचेगे-जो करोगे-मुझे पता होता है-मुझे पता होगा। भले ही मैं तुम्हारी पत्नी नहीं बन पायी। लेकिन जीवन संगिनी और सहधर्मिणी होने की स्वीकृति तो दी है न्।'

कृष्ण बोले,-'राधा तुम्हें श्वेत वस्त्र बहुत पसंद हैं। तुम्हें प्रायः मैं ने श्वेत वस्त्रें में ही देखा भी है। लेकिन, आज इस तरह लाल वस्त्रें में, लाल बिन्दी और लाल चूड़ियों सहित सजी-संवरी देखकर कारण पूछे बिना रह नही पा रहा हूं।'

'कृष्ण'-राधा बोली,-'आज मैं अभिसारिका नायिका बनकर विदा की इस वेला में तुम्हारे साथ अभिसार की इच्छा लेकर उपस्थित हुई हूँ।'

कृष्ण विषय परिवर्त्तन करते हुए बोले,-'राधा, अक्रूर जी और दाऊ भैया मेरी प्रतीक्षा कर रहें हैं। लेकिन, जाने के पहले अपनी एक निशानी तुम्हें देकर जाना चाहता हूं एक अमानत तुम्हें सौंपकर जाना चाहता हूं। जिसमें तुम मुझे देख पाओगी, स्पर्श कर पाओगी, अनुभव कर पाओगी।'

राधा ने कृष्ण की ओर देखा। कृष्ण बोले-'मैंने बांसुरी सिर्फ ब्रज, ब्रजवासियों और तुम्हारे लिये बजाई है। मेरी बांसुरी में गूंजनेवाली स्वर लहरियां तुम थी राधा मेरी प्रेरणा तुम हो। अब, जब तुम्हीं मेरे साथ नहीं रहोगी, तो फिर मैं यह बांसुरी किसलिये, और किसके लिये बजाऊंगा? किसे हंसाऊंगा? किसे रूलाऊंगा? किसे मनाऊंगा? किसे रिझाऊंगा? इसलिये यह तुम्हें सौंप रहा हूं।' कृष्ण ने कमर से बांसुरी निकालकर राधा की ओर बढ़ाया। राधा ने दोनों हाथों से बांसुरी थामकर पहले अधरों से लगाया, फिर माथे से और फिर कमर में खोंस लिया।

'मैं चलूं?' कृष्ण ने लरजते स्वर में पूछा।

'मेरे 'नहीं' कहने पर क्या रूक जाओगे?' राधा ने प्रश्न का उत्तर प्रश्न में ही दिया।

निरूत्तर कृष्ण ने 'नही' के संकेत में हल्के से गर्दन हिलाया। राधा दर्द भरी मुस्कुराहट के साथ बोली-'तो मथुरा के भावी नरेश आप अपनी यात्र आरंभ करें। भविष्य आपकी प्रतीक्षा कर रहा है। कृष्ण जाने को मुड़ने ही वाले थे कि राधा की आवाज ने उनके पैरों को रोक दिया। उन्होंने प्रश्नवाचक दृष्टि से राधा की ओर देखा। राधा गर्दन झुकाकर संकोच भरे स्वर में बोली-'क्या तुम कुछ भूल नहीं रहे हो कृष्ण? जाने की आतुरता में?', वह अपने पैर की अंगुलियों से धरती को कुरेद रही थीं, और हाथ की अंगुलियों में चुनरी के छोर को लपेट रही थी। कृष्ण ने संकेत से ही पूछाः-'क्या?', राधा के चेहरे पर लाज की लालिमा फैल गयी थी। ढ़लते हुए सूरज की आभा थी उनके चेहरे पर। वह कृष्ण की ओर देखे बिना बोली-'तुम हर दिन विदा होते समय मेरी ठोढ़ी पर, अधरों पर, कपोलों पर, आँखों पर और माथे पर चुम्बनों की रिमझिम बारिश कर दिया करते थे। उस क्षण तुम्हारे घने केश से आच्छादित तुम्हारा श्यामवर्णी मुख मंडल और उस मुखमण्डल पर चमकती दो ज्योतिमान आँखें ऐसे लगती थीं जैसे काले मेघमंडल में बिजलियां चमक रहीं हों। फिर, आज तो हम सदा के लिये-जीवन भर के लिये एक दूसरे को विदा कह रहें हैं फिर भी तुम ' राधा ने वाक्य अधूरा छोड़ दिया। उसका कण्ठ अवरूद्ध हो गया था।

'नहीं राधा! मैं कुछ भी भूला नहीं हूं। बल्कि तुम भूल रही हो। मैं ने तुमसे कई बार कहा है कि मैं तुममें अपनी पत्नी की छवि देखता हूं पत्नी समझता हूं। उसी अधिकार से मैं तुम्हें स्पर्श करता था, प्यार करता था। लेकिन, अब जबकि हमारे रास्ते बदल गये हैं। हम दोनों अलग-अलग राहों पर चलने का मन बना चुके हैं। तुम किसी अन्य से विवाह के लिये सहमति दे चुकी हो तब आखिर किस अधिकार से मैं तुम्हें स्पर्श कर सकता हूं बाहों में भर सकता हूं प्यार कर सकता हूं?' कृष्ण एक क्षण के लिये रूके फिर बोले-'राधा मैं तुमसे सच्चा प्यार करता हूं। इसलिये यह कभी नहीं चाहूंगा कि मेरे किसी कृत्य के कारण भविष्य में तुम्हें ग्लानिबोध हो। स्वयं तुम्हारी आँखों में तुम्हारी गरिमा घट जाये।'

राधा ने झटके से गर्दन उठाकर कृष्ण की ओर देखा। राधा की छलकती आँखों में खुशियों की चमक थी। वह बोली-'खुश रहो कृष्ण तुम्हारे चरित्र की यह दृढ़ता, यह ऊँचाई तुम्हें महान् बनायेगी। तुम खुशी-खुशी जाओ मेरी शुभकामनायें ही नहीं, मैं भी तुम्हारे साथ रहूंगी पास रहूंगी।'

कृष्ण मुड़कर रथ की ओर चल दिये जहां अक्रूर जी, बलराम जी और दूसरे लोग उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। कृष्ण रथ में बैठे. सारथी ने लगाम खींची और घोड़े दौड़ पड़े द्रुत गति से सरपट। राधा अपलक देखती रही पहले रथ को और फिर धूल के उड़ते अम्बार को। जब धूल के बादल छंट गये राधा भारी कदमों से अपने घर की ओर चल दी। कृष्ण नंद यशोदा ग्वाल-बाल और गोपियों सहित राधा को भांति-भांति से समझाकर ज्ञान का उपदेश देकर मथुरा चले तो गये। किन्तु वे स्वयं भी ब्रज और ब्रजवासियों को भूल नहीं पाये थे। उन्होने अपनी व्याकुलता उद्धव पर यह कहकर प्रकट भी की थी।

उधो मोहिं ब्रज विसरत ना हीं।

हंससुता की सुंदर कलरव, अरू तरूवन की छाही

वे सुरभि वे वच्छ दोहनी, खिरक दुहावन जाहीं

ग्वाल बाल सब करत कोलाहल, नाचत गह-गह-बाहीं

यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ता जिहि माहीं

जबहि सुरत आवत वा सुख की, जिया उमगत सुध नाहीं।

अनगिन भांति करी बहु लीला, जसुदा नंद निवाही।

सूरदास प्रभु रहे मौन मह-यह कह कह पछिताहिं।

कृष्ण को यह भी पता था कि नंद, यशोदा, राधा एवं अन्य गोपियों की दशा तो उनसे भी खराब है। क्योंकि कृष्ण तो मथुरा आकर विभिन्न क्रियाकलापों में घिरकर काफी व्यस्त हो गये थे। बावजूद, इसके वे ब्रज और ब्रजवासियों को नहीं भूल पाये थे। जबकि, राधा एवं गोपियों के पास तो ऐसा कुछ करने को भी नहीं था। इसलिये, उन्होंने उद्धव को वृंदावन भेजा ताकि वे गोपियों एवं राधा को निर्गुण ज्ञान का उपदेश दे सकें। उद्धव गये भी। उन्होंने राधा एवं अन्य गोपियों को ज्ञान का उपदेश इन शब्दों में दिया भी-

सुनहूं गोपी हरि को संदेश

करि समाधि अंतरगति ध्यावहु। यह उनको संदेश

वह अविगत अविनाशी पूरन। सब घट रह्यो समाई।

निर्गुन ज्ञान बिनु मुक्ति नाहीं। वेद पुरानन गाई।

सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावो। इक चित इक मन लाई।

यह उपाय करी विरह तरो तुम। मिले ब्रह्म तब आई।

दुसह संदेश सुनत माधो की। गोपीजन बिलखानी।

सूर, विरह की कौन चलावे। बूड़त मम बिनु पानी।

लेकिन गोपियों की विरह वेदना सुनकर, कृष्ण के वियोग में उनकी व्याकुलता, उनकी दुर्दशा देखकर उद्धव अपना ज्ञान और उपदेश भूल गये। गोपियों ने उनसे दो-टूक लहजे में कह दिया-

उधो मन नाहीं दस-बीस

एक हुते सो गयो श्याम संग, कौन अराधे ईश

इंद्रिय शिथिल भये केशव बिन, ज्यों देही बिन शीश

आस लगी रहत तनु खासा, जीवो कोटि बरीस

तुम तो सखा श्याम सुंदर के, सकल जोग के ईश।

सूरदास वा रस की महिमा, जो पूछे जगदीश।

कहते हैं कि उद्धव जब मथुरा लौटे तो वे भी प्रेम के रंग में रंग गये थे। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि गोपियों ने तो अपनी विरह-वेदना का वर्णन करके, अपना दुख दूसरों को बताकर कम करने की, बांटने की कोशिश की थी। लेकिन राधा ने कभी किसी के सामने मुंह नहीं खोला।

उधर मथुरा में कृष्ण के मुंह से राधा और बृज गोपियों की प्रशंसा सुनकर कृष्ण की रानियां सौतिया डाह से जलने लगी थीं। तब लीला धाम कृष्ण ने एक और लीला की। वे सिर दर्द से पीड़ित हो गये। तरह-तरह के उपचार हुए, लेकिन दर्द ठीक होने का नाम नहीं ले रहा था। ऐसे में देवर्षि नारद ने आकर बताया कि-'कृष्ण को सच्चे मन से प्रेम करनेवाला कोई व्यक्ति अगर अपने पैर की धूल श्रीकृष्ण के माथे पर लगाने के लिये दे दे तो इनका दर्द ठीक हो जायेगा। सबसे पूछा गया, रूक्मिणी, सत्यभामा से भी-लेकिन-कृष्ण के माथे पर अपने पैरों की धूल लगाकर कोई भी नर्क में जाने को तैयार नहीं था। सब यही कहते कि अरे! कृष्ण के सिर पर अपने पैर की धूली लगाकर अपने लिये नर्क का द्वार भला कौन खोलेगा?

चरण रज की खोज में नारद राधा के पास भी पहुंचे। उसके कृष्ण सिर दर्द से पीड़ित हैं-यह सुनते ही राधा बावरी हो गयी। उसने नारद से उनके ठीक होने का उपाय पूछा। कहा-'वहां तो कितने ही बड़े-बड़े वैद्य होंगे। वे सब मिलकर भी मेरे कृष्ण का सिर दर्द नहीं ठीक कर पाये? कैसे चिकित्सक हैं वे?'

नारद बोले, 'इस रोग का निदान वैद्य के पास नहीं है। इसे तो कृष्ण को स्वयं से भी ज्यादा प्यार करनेवाला कोई व्यक्ति ही ठीक कर सकता है।'

'लेकिन, यह तो कोई बड़ी समस्या नहीं है। कितने ही लोग हैं जो कृष्ण से प्रेम करते हैं। उनसे भला कौन नहीं प्रेम करता?' राधा बोली!

'राधा, बात सिर्फ प्रेम करने की नहीं है। स्वयं से भी ज्यादा प्रेम करने की है। और, ऐसा कोई प्रेमी अभी तक तो नहीं मिला।'

'आश्चर्य है।' आश्चर्य व्यक्त करती हुई राधा बोली-'मुनिराज आप मुझे बतायें कि मैं क्या कर सकती हूं अपने कृष्ण के लिये? उनके सिर दर्द की बात सुनकर मेरा कलेजा फटा जा रहा है दिल की धड़कनें रूकती सी लग रहीं हैं। बताइये, मुझे क्या करना है?'

'वृषभानु नंदिनी राधिके।' नारद मुनि रहस्य भरे स्वर में बोले-'अगर कोई अपने पैर की धूली कृष्ण के मस्तक पर लगाने के लिये दे दे तो उनका सिर दर्द ठीक हो जायेगा।'

'बस!' राधा चौंककर बोली-'इतने छोटे से काम के लिये आपको मथुरा से वृंदावन आना पड़ा? मैं देती हूं अपने पैरों की धूली आपको कृष्ण के मस्तक पर लगाने के लिये। आपको जो कष्ट हुआ मुनिराज, उसके लिये क्षमा चाहती हूं। अगर आप पहले ही यहां आ गये होते तो आपको इतना भटकना नहीं पड़ता। 'कृष्ण को इतनी पीड़ा नहीं सहनी पड़ती।'

'सौभाग्यवती राधिके।' मुनिवर नारद बोले-'इस काम को तुम जितना आसान समझ रही हो, उतना आसान है नहीं। श्रीकृष्ण ईश्वर के अवतार हैं। उनके मस्तक पर जिसके पैरों की धूल लगेगी वह निश्चय ही नर्क में जायेगा। उसकी मुक्ति असंभव है।'

'मुनिराज'-राधा हंसकर बोली-'आप ठहरे मुनि-सन्यासी-वैरागी। आप भला क्या जानें कि प्रेम क्या होता है! मैं अपने कृष्ण पर अपने एक नहीं-सैकड़ों-हजारों जन्मों को हंसकर न्योक्षावर कर सकती हूं। आप मेरा विश्वास कीजिये। मुझे नर्क की आग में जलकर उतना कष्ट नहीं होगा, जितना कष्ट इस समय यह जानकर हो रहा है कि मेरा कृष्ण कष्ट में है।'

देवर्षि नारद जब राधा के पैरों की धूल लेकर वृंदावन से मथुरा पहुंचे, और सबके सामने लाकर कृष्ण को देते हुए कृष्ण के प्रति राधा की भावनाओं, उद्गारों का भाव विभोर होकर वर्णन किया तो कृष्ण की रानियों-पटरानियों को राधा के उदात्त प्रेम और उज्ज्वल चरित्र के समक्ष नत मस्तक होना ही पड़ा। वह प्यार ही क्या-जिसमें मर मिटने का उमंग न हो।

राधा कृष्ण के उदात्त चरित्र और उज्ज्वल प्रेम का गायन हजारों वर्षों से भक्तजन करते आ रहें हैं। इन दोनों को केंद्र में रखकर सैकड़ों भक्तों ने अगर हजारों भजनों को लिखकर और गाकर इनके श्रीचरणों में मुक्ति पाई तो शास्त्रीय गायकों ने भी इनकी उज्ज्वल लीलाओं को अपने संगीत का आधार बनाया। ध्रुवपद गायन में अगर कुंजन में रच्यो रास। अद्भुत गति लियो गोपाल। कुंडल की चमक देख मेरो मन अटक्यों। जैसी रचनायें हैं तो

खयाल में भी-मधुबन में राधिका नाचे रे। गिरिधर की मुरलिया बाजे रे।

फिल्मकारों ने भी राधा कृष्ण के विभिन्न जीवन प्रसंगों से प्रेरणा ली है-

राधा ना बोले-ना बोले-ना बोले रे। घूंघट के पट ना खोले रे।

राधे कि तू ने बंसरी चुराई?

जसुमति मैया से बोले नंदलाला। राधा क्यों गोरी मैं क्यों काला?

और लोक संगीत का तो लोक ही सूना है-राधा-कृष्ण के बिना

कहें राधिका सुन कन्हैया, मत शेखी बतियाव। कैसे तू गोकुल में अईल।

हमके आज बताव। मरलिन बज्जर जैसन तनवा। राधा गूजरी।

गायन की एक प्रमुख विधा ठुमरी की तो उत्पति ही राधा कृष्ण के संयोग रूप-स्वरूप-मानी जाती है। आचार्य वृहस्पति के मतानुसार ठुम-ठुमकने का प्रतीक है, और री-अंतरंग सखि से अपने मन की बात कहने का। स्व. गिरिजा शंकर चक्रवर्ती के अनुसार ठुमरी शब्द की व्युत्पत्ति ठुमक और रिझाना से हुई है। स्व. चंद्रशेखर पंत मानते थे कि ठुमरी शब्द नश्त्य के पद संचालन और ठसक भरी गर्वीली चाल को व्यक्त करता है। इन विद्वानों ने जिस बात को परोक्ष रूप से-निराकार-भाव से कहा है-उसे साकार और प्रत्यक्ष करते हुए श्री सुनील कुमार बोस ने लिखा है कि ठुम शब्द ठुमकत चाल अर्थात् राधाजी की चाल और री शब्द रिझावत-अर्थात् भगवान श्रीकश्ष्ण के मन को रिझाने का संकेत करता है। अतः ठुमरी शब्द में राधा के ठुमक कर चलते हुए श्रीकश्ष्ण के मन को रिझाने की अभिव्यंजना है। ठुमरी के दोनों प्रकारों-बोल बनाव और बोल बॉट अथवा बंदिशी ठुमरी, तथा तीनों शैलियों-लखनऊ, बनारस और पंजाब में मुख्यतः राधा कश्ष्ण के प्रसंग ही पिरोये गये हैं।

गायन के एक अन्य प्रकार झूला में राधा कश्ष्ण के निष्कलुष प्रेम को आधार बनाकर लिखे हुए गीत ही प्रायः गाये जाते हैं-

झूलत राधे नवल किशोर झूला लगी कदम की डारी। झूलें राधा प्यारी रे

राधा झूलें-कश्ष्ण झुलावें। सब सखियां मिल मंगल गावें।

मात्र गीत संगीत ही नहीं नश्त्य के क्षेत्र में भी

राधाकश्ष्ण की लीलाओं का महान् योगदान रहा है। उत्तर भारत का सुप्रसिद्ध शास्त्रीय नश्त्य कथक-वस्तुतः रास नश्त्य का ही आभिजात्य और परिष्कश्त-एकल रूप है। लखनऊ घरानें के महान् नश्त्याचार्य महाराज बिंदादीन से लेकर अच्छन महाराज, शंभु महाराज, लच्छू महाराज और विक्रम सिंहें जैसे लोग इसे नटवरी नश्त्य कहना-इसीलिये अधिक पसंद करते थे, क्योंकि इसके अधिष्ठाता नटवर श्रीकश्ष्ण हैं, और इसमें मुख्यतः उन्हीं की लीलाओं, प्रसंगों का गायन नर्तन और प्रस्तुतिकरण होता है। असम के सत्रिय नश्त्य में भी राधा कश्ष्ण, गोप-ग्वालों और वैष्णव कथाओं की प्रस्तुतिकरण होती है। सुदूर मणिपुर के मणिपुरी नश्त्य में भी रास और महारास की विशिष्ट भूमिका है। वहां किसी एक गोपी अथवा राधा के साथ किये गये कश्ष्ण के किसी भी नश्त्य को रास कहते हैं, जबकि, सामूहिक रूप से किये गये नश्त्य को महारास।

राधा-कश्ष्ण और गोपियों की दिव्य और अलौकिक क्रीड़ाओं का भक्तों ने अपने-अपने अनुरूप प्रयोग किया। जिससे देश-देशान्तर में उनके अनेक रूप प्रचलित हो गये। रास के भी कई प्रकार अलग-अगल क्षेत्रें में प्रचलित हुए-जैसे ताल रासक, दंड रासक और मंडल रासक जिसे ताली रासक भी कहा जाता है। हल्लीसक भी रासनश्त्य का ही एक प्रकार है। सप्त क्षेत्रि रास और लकुट रास, गर्वी, नाट्य रासक, चर्चरी रासक आदि भी रास के ही विविध प्रकार हैं। ध्यातव्य है कि विभिन्न रास नश्त्यों के प्रभाव को ग्रहण करके अनेक अन्य नश्त्य शैलियां पल्लवित-पुष्पित-सुगंधित हुई हैं।

जैसे कुमायूं की चॉचरी अथवा झोड़ा नश्त्य, मध्यप्रदेश के आदिवासियों द्वारा किया जानेवाला करमा और जोड़ी नश्त्य, राजस्थान के डांडिया और घूमर, गुजरात के गरवा और गौफा, छत्तीसगढ़ के डंडा नश्त्य, सिक्किम के शापदोह नश्त्य, कश्मीर के हिरक, हिमाचल प्रदेश के मालका, मणिपुर के लाईहरोबा और आंध्र प्रदेश के कौलाट्टम् नश्त्य में भी रास के कुछ अंशों, प्रभावों को देखा जा सकता है। युगोस्लाविया के लिंजो, कोलो और चाचक, ग्रीस के सर्किल डांस और अमेरिका के स्क्वायर डांस भी रास के काफी निकट हैं। आम धारणा यह है कि कश्ष्ण बश्ज से जब मथुरा गये तो फिर वापस नहीं आये। लेकिन कुछ ऐसे भी उल्लेख और प्रमाण मिलते हैं कि बहुत दिन बीत जाने के बाद एक बार श्रीकश्ष्ण देवकी और वसुदेव के साथ वंश्दावन आये थे। वस्तुतः देवकी और वसुदेव भी नन्द, यशोदा से मिलकर उनके प्रति अपनी कश्तज्ञता प्रकट करना चाहते थे। इस आशय का सूरदास का एक पद भी मिलता है, जिसमें उन्होंने उद्धव से कहलवाया है कि मैं एक बार वंश्दावन जरूर आऊंगा।

उधौ इतनो कहियो जाई।

हम आवेंगे दोऊ भैया, मैया जनि अकुलाई।

या को विलग बहुत हम मान्यो, जो कहि पठयो धाई।

वह गुन हमको कहां बिसरिहें, बड़े किये पय प्याई।

औ जो मिल्यो नंद बाबा सो, तो कहियो समुझाई।

तो लौं दुखी होन नहीं पावे, धवरी घूमरि गाई।

यद्पि यहां अनेक भांति सुख, तदपि रहयो न जाई।

सूरदास देखौं ब्रजवासिन, तबहि हियो हरखाई।

कहते हैं कि बहुत दिनों के बाद, जब कश्ष्ण मथुरा से द्वारिका चले गये थे द्वारिकाधीश बन गये थे। देवकी और वसुदेव के संग वश्दावन गये थे। यह वही समय था जब महाभारत की लड़ाई शुरू होने ही वाली थी। देवकी और वसुदेव ने नंद और यशोदा से मिलकर अपने पुत्र का पुत्रवत् लालन, पालन और रक्षा करने के लिये आभार प्रकट किया। कश्ष्ण के आगमन का समाचार सुनकर बहुत से लोग उनसे मिलने आये। नंद-यशोदा के यहां भीड़ लग गई थी, किन्तु उस भीड़ में वह राधा नहीं थी, जिसे कश्ष्ण की आँखें बार-बार ढूँढ़ रहीं थीं। कश्ष्ण सबसे यथोचित भाव से मिले। उन सबसे कहा कि वे अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करें, और धर्माचरण करें। फिर, वे राधा से मिलने के लिये उनके घर की ओर चल दिये। कैसी होगी राधा? इतने वर्ष बीत गये हैं। इन वर्षो में क्या बदलाव आया होगा उसमे? कश्ष्ण को लग रहा था कि राधा दौड़ती हुई आयेगी और उनकी विशाल भुजाओं में समा जायेगी। अपने आंसुओं से उनके वक्षस्थल को भिंगो देगी। उन्हें ताने-उलाहने देगी। इन्हीं विचारों में निमग्न कश्ष्ण राधा के द्वार तक कब पहुँच गये उन्हें पता ही नहीं चला।

श्री कश्ष्ण के वश्दावन आगमन की सूचना जंगल के आग की तरह चारो तरफ फैल गई थी। राधा तक भी यह समाचार पहुंच चुका था। लेकिन वह संयत और संयमित रूप से अपने घर के क्रिया-कलापों में लगी रही। क्योंकि उन्हें पता था कि जो पास हैं, पास रहें/वे क्या जाने जीवन में/उन सब से मैं कहीं पास हूं तेरे अंतरमन में ष्ण का आदेश भी तो यही था। राधा को कश्ष्ण से मिलने की कोई अकुलाहट नहीं थी- क्योंकि ष्ण तो उससे कभी बिछुड़े ही नही। वह तो उसके अंतर्मन में, मनमंदिर में सदैव विराजमान रहे। तभी किसी ने आकर सूचना दी कि कश्ष्ण उससे मिलने आ रहें हैं, और घर के समीप पहुँच गये हैं। यह सुनकर राधा से रहा नहीं गया। वह उस समय घर के जूठे बर्तन मांज रही थी। बर्त्तन छोड़कर उसने जल्दी से आँचल से अपना हाथ पोछा और तेजी से घर से बाहर की ओर चलने को उद्धत हुई। तभी बेध्यानी

में उसका पाँव पास में ही रखे उस हंसिये पर जा पड़ा, जिससे कुछ देर पहले वह साग काट रही थी। उसका पैर लहूलुहान हो गया। लेकिन राधा को तो पता ही नहीं चला। वह दौड़ती हुई बाहर आई। जहां-जहां उसके पैर पड़ते गये लहू से उसके पदचिन्ह अंकित होते गये। राधा ने देखा कश्ण उसके द्वार के समीप खड़े हैं। दोनों की आँखें एक दूसरे से मिली।

राधा ने अपनी भावनाओं को अनियंत्रित होने से रोका। वह न तो दौड़कर अपने कश्ण के सीने से लगी न तो उनकी भुजाओं में समाई और न तो उन्हे स्पर्श ही किया। किन्तु वह अपने अनियंत्रित होते आंसुओं को नहीं रोक पाई। उसके आँसू भावनाओं का बांध तोड़कर बह चले। ये आँसू या तो उस दिन बहे थे जिस दिन कश्ण वंश्दावन से मथुरा गये थे और या तो आज बह रहे थे। राधा की दोनों आँखें सावन-भादों की तरह बरस रहीं थीं-तभी श्रीकश्ण ने सुना-उनका कोई भक्त भाव विह्वल होकर राधा की दशा का शब्दांकन, स्वरांकन कर रहा था-

निस दिन बरसत नैन हमारे। सदा रहत

पावस ऋतु हम पे जबते श्याम सिधारे।

कश्ण ने देखा कि चंदा से चमकते राधा के गोरे गालों पर कुछ काला सा दाग लग गया है। उस दाग को देखकर कश्ण चौंक से गये। क्योंकि, पहले यह दाग नहीं था। इन गोरे गालों को चूमकर कितने ही बार कश्ण ने कहा था 'प्राणप्रिये राधे। तुम्हारे इस दमकते मुख की तुलना तो चंदा से भी नहीं की जा सकती। क्योंकि चाँद में भी कालिमा है, जबकि तुम कालिमा रहित, बेदाग हो।' तभी, भक्त के गायन की स्वरलहरियों ने कश्ण की शंका का समाधान कर दिया-अंजन थिर न रहत अंखियन में।कर कपोल भये कारे।

कंचुकि पट सूखत नहीं कबहुं। उर बिच बहत पनारे।

अश्रु सलिल भये पग थाके। बहै जात सित तारे।

सूरदास अब डूबत है ब्रज। काहे न लेत उबारे।

राधा की आंखों से निरंतर बहते अश्रुधारा को देखकर ष्ण को लगा कि राधा को उनकी सहायता की आवश्यकता है। यही सोचकर राधा को समझाने के उद्देश्य से वे राधा की ओर बढ़े। लेकिन, तभी राधा पीछे मुड़ी और अपने घर के अंदर जाकर उसने दरवाजे का मजबूत कपाट मजबूती से बंद कर दिया। लौकिक दश्ष्टि से राधा और कश्ण एक-दूसरे से सदा-सदा के लिये अलग हो गये। इसके बाद वे फिर कभी नहीं मिले। लेकिन, क्या यही सच है? हिंदुओं में अगर ष्ण जन्माष्टमी मनाया जाता है तो राधा अष्टमी का पर्व भी धूमधाम से मनाया जाता है। ष्ण के उपासक तो कश्ण के भी पहले राधा का नाम लेते हैं-राधा कश्ण या राधे श्याम। लेकिन सिर्फ राधा की उपासना करने वालों का भी एक बड़ा वर्ग है। ब्रजक्षेत्र में राधा का नाम अभिवादन की तरह भी प्रयुक्त होता है-राधे-राधे या जै श्री राधे।

श्रीकश्ण के साथ उनकी पटरानियों रूक्मिणी या सत्यभागा का नाम न लेकर राधा का नाम इसीलिये लिया जाता है-क्योंकि अगर नारायण के अवतार श्रीकश्ण हैं, तो लक्ष्मी की अवतार राधाजी ही हैं। इसलिये राधाकश्ण एक हैं-एक नाम-एक शब्द-एक आत्मा एक रूप-अद्वैत।

बसो मोरे नैनन में दोऊ चंद।

गौर बदन वश्षभानु नंदिनी, श्याम बरन नद नंद।

गोकुल रहे लुभाय रूप में, निरखत आनन्द कंद।

जै श्री भट्ट प्रेमरस बंधन, क्यों छूटे दश्ढ़ फंद।

संवाद

अध्यात्म से जुड़ी है संगीत की उत्पत्ति

डॉ. देवदत्त शर्मा

संगीत सेवी, जयपुर राजस्थान

संतूर-सम्राट पंडित शिवकुमार शर्मा किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं। अपनी अथक स्वर-साधना से इन्होंने इस लोकवाद्य को शास्त्रीय वाद्य के रूप में प्रतिष्ठित किया वहीं अध्यात्म में इनकी गहरी रुचि ने संतूरवादन को नये आयाम प्रदान किये। अध्यात्म और संगीत के अन्तर्सम्बन्धों तथा इनके संगीत चिंतन को लेकर प्रस्तुत है इनसे हुई डॉ. देवदत्त शर्मा की बातचीत के प्रमुख अंश-

संगीत का उत्स कहां से है तथा उसका योग अथवा ध्यान से क्या संबंध है?

संगीत की उत्पत्ति हमारे अध्यात्म से जुड़ी हुई है। ऋषि-मुनियों ने भी नाद की साधना आत्मा को पहचानने, अन्तर्मुखी होने और ध्यान लगाने के लिए की है। संगीत के जरिए ध्यान जल्दी लग जाता है और योग में भी हम ध्यान लगाते हैं। संगीत की साधना भी योग का ही एक तरीका है। बाद में इसका शास्त्र बन गया। संगीत शास्त्रीय हो गया और राग-रागनियां आ गई। ध्यान अथवा मेडिटेशन से जुड़ा संगीत दरबारों में और फिर जनता में आ गया।

ध्यान और योग से जुड़ा संगीत जब जनता में आया तो उसमें क्या बदलाव आया?

पिछले पचास वर्षों में आये क्रमिक बदलाव के कारण संगीत को मनोरंजन के नजरिये से देखा जा रहा है जबकि हमारे यहां संगीत मनोरंजन के लिए नहीं बल्कि साधना की ओर ङ्कवश्त करने की चीज थी। हम भूल रहे हैं कि संगीत का उत्स और उसकी असलियत कहां से है? संगीत की अपूर्व शक्ति से हम दूर होते जा रहे हैं। आजकल तालीपीट संगीत को गया है। लोगों का तालीपीट कर एङ्कीशिएट करने का तरीका मेरे हिसाब से शास्त्रीय संगीत से मेल नहीं खाता। जब हम सुर और राग का स्वरूप वहां लाने की कोशिश कर रहे होते हैं और वहां ताली बजती है तो जो स्वराकार बन रहा है वह सब भंग हो जाता है। कई बार तबले के साथ लड़ंत होती है, उसे सुनकर लोग हंसते हैं, लोगों का मनोरंजन होता है। लेकिन शुरू से आखिर तक मैं लड़ंत ही करता रहूं और लोगों को हंसाता रहूँ तो हम संगीत के मूल स्वरूप से दूर हो रहे हैं। अतः जब आप संगीत सुनें तो उसकी मूल ङ्ककृत्ति को ध्यान में रखकर सुनें। इससे आपका मनोरंजन भी होगा और मानसिक शांति भी मिलेगी। इसे तालीपीट संगीत न बनायें।

संगीत की शक्ति और रोगोपचार में उसकी उपादेयता के संदर्भ में आप क्या सोचते हैं?

मैंने पूर्व में भी कहा है कि संगीत अध्यात्म से जुड़ा है। जब किसी की अध्यात्मिक साधना सघन होती है तो देवी शक्ति भी इसमें मदद कर सकती है और वह संगीत के जरिए चमत्कार कर सकता है। चूंकि संगीत आपको साधना, ध्यान और अपने में झांकने की तरफ ङ्कवृत्त करता है तो इसमें मानसिक शांति के अलावा कई ङ्ककार की बीमारियों को दूर करने की भी शक्ति है। आजकल बहुत सारे लोग साइकिक बीमारियों का संगीत के जरिए

इलाज कर रहे हैं। बहुत सारे ऐसे मेडिटेशन सेंटर हैं जो मेरे संतूर के म्यूजिक का इस्तेमाल कर रहे हैं। मैंने भी अमेरिका में यह ङ्कयोग किया कि जिन्होंने पहले कभी शास्त्रीय संगीत नहीं सुना था उन्हें पहले ङ्काणायाम करवाया और उसके बाद आलाप सुनाया तथा उन्हें आंखें बन्द कर स्वर पर ध्यान केंद्रित करने को कहा। उन्हें बड़ा अच्छा लगा। मैंने भी इस दिशा में कुछ काम किया है और ऐसी सांगीतिक रचना तैयार की है जिसे मेडिटेशन के समय पार्श्वसंगीत के रूप में बजाया जा सके। यह ध्यान में बहुत सहायक होगी।

किस रोग के उपचार में कुनसा राग सहायक हो सकता है?

कुनसे रोग में कुनसा राग फायदा करेगा यह तो रिसर्च करने की जरूरत है। इस संदर्भ में कई डाक्टरों से भी मेरी चर्चा हुई है। अध्ययन, अनुसंधान और परीक्षण से यह निश्चय किया जा सकता है कि किस ङ्कार के स्वर, किस ङ्कार का राग सुनने से कुनसी बीमारी में फायदा हो सकता है। इसमें कोई संशय नहीं कि संगीत के जरिए फायदा होता है। जब पशु-पक्षियों को संगीत से फायदा होता है तो इंसान पर तो होगा ही, किन्तु इस पर काम करने की जरूरत है।

समय के अनुसार रागों के विभाजन को आप कितना उचित मानते हैं?

रागों का समयानुसार विभाजन उत्तरी भारत में तो माना जाता है किन्तु कर्नाटक संगीत में नहीं माना जाता है। उसके पीछे जो सोच है वह यह है कि जो पंच तत्व हैं उनका असर हमारे दिल-दिमाग पर पड़ता है।सूर्योदय के समय जो भावना होती है, शरीर और मानसिकता पर जो असर पड़ता है, वह असर दोपहर अथवा आधी रात के समय अलग होता है। सूर्यास्त के समय अलग और वर्षा के समय अलग पड़ता है। यह तव की बात है जब संगीत नेचर के साथ खुले में होता था। ऑडिटोरियम में संगीत का जो ङ्कदर्शन होता है वहां तो हर समय अंधेरा है और विद्युत रोशनी होती है और एकसा वातावरण रहता है। लेकिन उत्तरी भारत के संगीतकारों के मन में एक चीज पीढ़ी-पर-पीढ़ी धर कर गई कि सुबह के समय मालकुंस नहीं बजा-गा सकते। अब आप फिल्म संगीत को लें-हमें भूल गये सांवरिया(भैरव), उसे रात को भी सुनें तो अच्छा लगता है। लेकिन पीढ़ियों से जो हमारेमन में यह बैठ गया है कि अमुक समय अमुक राग गाया-बजाया जाए, उसे तोड़ने को मन नहीं करता।

आज के संदर्भ में इस समय विभाजन का क्या कोई विपरीत ङ्कभाव भी पड़ रहा है?

इसका एक ङ्कभाव तो यह पड़ रहा है कि इसकी वजह से लिमीटेशन पैदा हो रही है। आजकल ङ्कायः संगीत सभाएं छः बजे शुरू होकर ११ बजे समाप्त हो जाती हैं। ङ्कातः, दोपहर एवं आधी रात की संगीत सभाएं लगभग नहीं होती। उसका नतीजा यह हो रहा है कि इतने सारे राग जो इन ङ्कहरों से सम्बंधित हैं वे कलाकारों के रियाज से भी छूटते जा रहे हैं और सुनने वालों को भी सुनने को नहीं मिलते।

इस दिशा में क्या संभावनाएं तलाशी जा सकती है?

अगर इसमें कुछ सोच-विचार करके कुछ छूट ली जाए और उसका असर देखा जाए कि यह राग जमता है या नहीं तो उसका नतीजा यह हो सकता है कि इतने सारे और राग लोगों को सुनने को मिलेंगे। यह परीक्षण भी दो तरीके से किया जाए। एक तो उसी समय गायन-वादन का कार्यक्रम रखा जाए जिस समय का राग है और दूसरा यह हो कि परम्परा को छोड़कर समय विभाजन न मानकर किया जाए। फिर दोनों की तुलना की जाए कि

ऐसा करने पर कलाकार को कैसा लगा और सुनने वालों को कैसा लगा।

प्रातःकालीन रागों का साहित्य प्रासंगिक है अथवा उन्हें बदला जाना चाहिए?

मैं समझता हूँ कि हमारे बहुत सारे रागों की जो बंदिशें है उनके बोल कुछ कर रहे हैं और राग का मूड कुछ अलग है। जैसे राग पूरिया। पूरिया एक गंभीर राग है, करुण भी है, अजीब किस्म का दर्द भी है उसमें। किन्तु उसकी बंदिश है 'मैं कर आई पिया संग रंगरलियां'। अब जिसने बंदिश की है उसने या तो राग के मूड के बारे में सोचा ही नहीं या यही राग का मूड है। वस्तुतः हमारा गाना-बजाना दरबारों में होता था, तो राजा का मूड कैसा है, उसे क्या पसंद आये अथवा कुनसे शब्द पसंद आयेंगे उसे देखकर बंदिशों की रचना की होगी। लेकिन इस पर काम किया जा सकता है।

राग के स्वर और मूड के अनुसार यदि उसका साहित्य भी हो तो वह अधिक असरकारी नहीं होगा?

यदि राग के स्वर जो कह रहे हैं, उसी किस्म की कविता भी उसमें आ जाए तो वह निश्चय ही अधिक प्रभावशाली बन पड़ेगा और आम आदमी पर भी उसका असर अधिक होगा। दरअसल क्या होता था कि हमारी ख्याल गायकी में राग के विस्तार की ज्यादा अहमियत हुई। शब्द तो एक जरिया थे राग की बढत एवं तानों को दिखाने का। शब्द पर खास जोर नहीं दिया जाता था। लेकिन मैं समझता हूँ कि यदि राग के मूड के साथ सही शब्द आ जायें तो वे बहुत असरकारी हो सकते हैं।

संगीत अध्यात्म से जुड़ा है और ईश्वर के निकट जाने का माध्यम है। आपको ऐसी कोई अनुभूति हुई?

मुझे कई मर्तबा कई तरह की अनुभूति हुई। एक चीज मैंने कॉमन देखी है कि जो आध्यात्मिक संत हुए हैं, चाहे वे किसी भी मत के रहे हों, उन्हें संगीत से बड़ा प्रेम था। स्वामी मुक्तानन्द भी बहुत सिद्धपुरुष थे। एक बार मैं उनके आश्रम में बजा रहा था। इस दरान वे दो-तीन बार उठकर गये फिर वापस आ गये। जब कार्यक्रम समाप्त हुआ तो वे बोले कि मैं दो-तीन बार संगीत छोड़कर नहीं गया था बल्कि संगीत में ऐसा प्रभाव था कि अगर मैं उठकर नहीं जाता और बैठा रहता तो समाधिस्थ हो जाता और फिर पता नहीं मैं कितनी देर उस अवस्था में रहता। तो उस चीज को ब्रेक करने के लिए मैं बीच-बीच में उठता रहा। मुझे भी कई मर्तबा ऐसी अनुभूति होती है कि ऐसा संगीत बज जाता है कि कार्यक्रम समाप्ति पर स्टेज पर बैठा हुआ भी अंदर से कहीं और होता हूँ। उस समय किसी से बातचीज करने की भी इच्छा नहीं होती। उस समय ऐसी अनुभूति होती है कि शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। उसके बाद इतनी एनर्जी मिलती है कि सारी थकान दूर हो जाती है। उस समय एक अजीब सा नशा हो जाता है और सामान्य होने में दो-तीन घंटे लग जाते हैं। लेकिन यह बहुत रेयर होता है।

स्टेज पर आपका मूड बनाने अथवा खराब करने वाली स्थितियां ?

सबसे पहली बात तो यह है कि मैं जब स्टेज पर जाता हूँ तो मेडिटेशन करके जाता हूँ और यह सोचकर जाता हूँ कि मैं तो एक माध्यम हूँ और कोई शक्ति है जो मुझसे बजवा रही है। जैसे आराधना करने के लिए उचित वातावरण की जरूरत होती है ठीक उसी तरह मेरे लिए उचित वातावरण यह है कि मेरा वाद्य प्रोपरली ट्यूंड हो, यदि श्रुतिभर भी इधर-उधर हो गया तो उससे एकाग्रता भंग होती है। साउण्ड सिस्टम अच्छा हो और श्रोताओं की तरफ से कोई डिस्ट्रेक्शन न हो। कम श्रोताओं का असर दिमाग पर जरूर पड़ता है किन्तु जब मैं

बजाना शुरू करता हूँ तो सब कुछ भूल जाता हूँ। फिर मुझे यह भी पता नहीं चलता कि कौन कहां बैठा हैं। मैं अपने संगीत का स्वयं आनन्द लेता हूँ और उसे इसी आनन्द के साथ बजाता हूँ कि श्रोताओं को भी यही आनन्द मिल रहा होगा।

संतूर को शास्त्रीय वाद्य का दर्जा दिलाने में आपको लम्बा संघर्ष करना पड़ा। वह अभी भी है या किसी अन्य रूप में परिवर्तित हो गया?

देखिये संतूर को शास्त्रीय वाद्य के रूप में मान्यता दिलाने का संघर्ष तो समाप्त हो गया। लेकिन संगीत एक ऐसा समुद्र है जिसकी कोई तह नहीं है। जितना इसमें ढूंढिये और चीजें मिलती चली जाती हैं। तो वो जो यात्र है, सोच है, उसमें तो बहुत कुछ करना बाकी है। मैं कई बार हैरान होता हूँ कि वही सात स्वर हैं लेकिन कितने राग हैं उसमें, कितने किस्म के ताल हैं हमारे पास। इतना बड़ा फील्ड है कि लगता है हमने कुछ नहीं किया। अब तो कुछ समझ में आने लगा है और अभी बहुत कुछ बाकी है। हर कार्यक्रम बहुत कुछ सिखाता है, शिष्य को जब समझाते हैं, रियाज करते हैं, हर बार कुछ नया सीखने को मिलता है। तो उसका कोई अंत नहीं है और यह यात्र अभी जारी है।

हमारे पास रागों का इतना बड़ा समुद्र होते हुए भी नये रागों के रचने का औचित्य क्या है?

पहली बात तो यह कि जब कोई कलाकार यह शब्द काम में लेता है कि मैंने यह राग क्रियेट किया है यह ठीक नहीं है। क्रियेट हम कुछ नहीं करते, हम उसे डिस्कवर करते हैं। वह तो पहले से है, हमको नहीं मालूम। हमको मालूम पड़ा तो हमने सोचा कि हमने क्रियेट कर दिया। ऐसा कुछ भी नहीं- कि जो क्रियेट करना बाकी है। यह अलग बात है कि मेरी जानकारी उतनी नहीं है, उतनी समझ नहीं है। जब मुझे कुछ बात समझ नहीं आती तो मुझे लगता है कि यह मैंने क्रियेट किया, डिस्कवर किया। मैं व्यक्तिशः राग क्रियेट करने का विरोधी नहीं हूँ। नये-नये राग डिस्कवर हुए तभी तो इतने सारे राग बने। लेकिन जब हमारे पास इतने राग हैं तो क्या हमको उन सब रागों पर महारत हासिल है, नहीं। उसकी मैकेनिकल-टैक्नीकल जानकारी हो सकती है लेकिन सभी रागों पर एकसी महारत नहीं हो सकती है। तो फिर नया राग क्रियेट करके मैं या करूंगा? अगर मैंने क्रियेट किया भी, जो सही अर्थ नहीं है, तो कई बार ऐसा भी होता है कि हमने उसे नया नाम तो दे दिया लेकिन बाद में पता चला कि वही राग अलग नाम से कर्नाटक में है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि किसी ने नया राग बनाया भी तो उसकी कसौटी क्या है? उसकी कसौटी यह है कि उसकी सिर्फ उस कलाकार तक मान्यता न रहे, उसे उस समय के तथा उसके बाद की पीढ़ी भी उसे अपनाये और पीढ़ी दर पीढ़ी वह चलता रहे, तब तो यह माना जायेगा कि यह राग अमुक शख्स ने बनाया था अन्यथा यह होगा कि मैं नया राग बनालूं, उसे मैं ही बजाता-गाता रहूं, बाकी के कलाकार उसे न अपनायें तो वह स्थापित नहीं हो पायेगा। उसे हमारे विद्यमान रागों में सम्मिलित नहीं किया जायेगा।

आप संतूर बजाते समय कलम के स्थान पर हाथ का प्रयोग करते हैं। वह शास्त्र सम्मत है या रंजकता पैदा करने के लिए?

देखिये शास्त्र क्या है इसका तो निर्णय करना पड़ेगा, किन्तु नई चीज के अन्वेषण करने पर कोई रोक नहीं होनी चाहिए। अब रही बात हाथ से काम करने की तो इसमें हम झाले को म्यूट करते हैं। लेकिन यह हुआ कैसे इसके पीछे भी एक घटना है। कई बार ऐसा होता है कि टेम्प्रेचर अथवा किसी अन्य कारण से बजाते-समय कोई तार स्वर में चढ़ जाता है तो उसकी ध्वनि अखरने लगती है। यदि

बजाना रोकर कर उसे ट्यून करे तो स्वर-ताल का रस भंग हो जाता है। मेरी कोशिश यह रहती है कि ऐसी स्थिति में एक हाथ चलता रहे और दूसरे हाथ के नाखून से खींचता हूँ तो चढ़ा हुआ तार ढीला पड़ कर बराबर आ जाता है। एक बार मैं कोलकाता में बजा रहा था तो ऐसी ही स्थिति हो गयी और जब उसे नाखून से खींचने की कोशिश की तो मेरा नाखून वहां नहीं लगा और सीधा हाथ लग गया। तो मैंने देखा कि उसकी साउण्ड ही चेंज हो गई, झाले से एकदम अलग और चमत्कृत कर देने वाली। तो एक्सीडेंटली हुई इस चीज पर मैंने काम किया और अब झाला बजाते समय एक हाथ से कलम और दूसरे हाथ से तारों पर आघात करता हूँ।

इस कार्य को कोई नाम दिया?

शास्त्र में एक शब्द है काकू। हम कलम से स्ट्राइक कर अलग-अलग भाव पैदा करते हैं। ब्रिज के पास अलग टोन, सेंटर में बजाते समय अलग टोन और बजाने के बाद जब उसकी साउण्ड को रोक देते हैं तो उसकी साउण्ड और भी अलग हो जाती हैं। एक ही स्वर को आप कितने अलग-अलग एक्सङ्क्लेशन दे सकते हैं, यह काकू भेद कहलाता है। जिस संगीत में काकू भेद नहीं है, वह मैकेनिकल और मोनोटोनस हो जाता है। तो हाथ से तारों पर आघात कर टोन बदलने को मैंने काकू भेद का ही एक हिस्सा बना लिया है।

रीमिक्स के संदर्भ में आपके विचार?

रीमिक्स संगीत की तोहीन है। इतनी अच्छी पोयट्री को जिस ढंग से पेश किया जा रहा है और उसके पीछे भी उनका तर्क यह है कि युवा पीढ़ी ने जिन गानों को नहीं सुना उन्हें लोकङ्क्रिय बनाने के लिए ऐसा किया जा रहा है, यह बहुत ही गलत है। इसमें कोई क्रियटीविटी नहीं है।

फ्यूजन के बारे में आपके विचार?

फ्यूजन कोई नहीं चीज नहीं है। फिल्म संगीत में तो वर्षो से यह हो रहा है और बहुत अच्छा हुआ है। गानों में सितार, सारंगी जैसे अनेक वाद्य बजते रहे हैं। जो फ्यूजन उद्देश्यपूर्ण, माधुर्य से युक्त और अर्थवान होगा वह स्वीकार्य भी होगा और जो नहीं होगा उसे लोग भुला देंगे।

संतूर पर किस तरह के राग सजते है?

हर साज का अपना एक स्वभाव होता है। संतूर के स्वभाव में मेडिटेटिव और रोमांटिक मूड के राग बहुत अच्छे सजते हैं।

संगीत अनन्त की यात्रा है : पद्मश्री पं. सुरिन्दर सिंह

पं. विजयशंकर मिश्र

संगीत सेवी, नई दिल्ली

? आप एक कंठ सिद्ध गायक होने के साथ-साथ संगीत समीक्षक भी रहे हैं। आपके कार्यक्रमों की समीक्षाएँ भी प्रायः अच्छी ही छपती हैं, फिर भी आप समीक्षकों से नाराज रहते हैं। क्यों?

हिन्दी में एक संगीत समीक्षक थे। चूंकि अब वह नहीं रहे इसलिए नाम लेने का कोई लाभ नहीं है। उन्होंने लगातार हमारे खिलाफ लिखा। अगर किसी कार्यक्रम में और कमी नहीं मिली तो यह लिख दिया कि 'दोनों भाई बहुत मोटे हैं'। एक बार गलती से उन्होंने हमारी तारीफ लिख दी, क्योंकि उनके ऊपर यह आरोप लगने लगा था कि किन्हीं कारणों से वह हमारे खिलाफ ही लिखते हैं। जिस दिन उनकी समीक्षा प्रकाशित हुई उसी दिन शाम को जब वह एक कार्यक्रम में पहुँचे तो लोगों ने उन्हें घेर लिया कि 'अरे भाई आज यह चमत्कार कैसे हो गया? आप तो कभी उनकी तारीफ लिखते नहीं, फिर यह कैसे हो गया? 'इसी प्रकार मुम्बई में एक समीक्षक थे जो बाकायदा लोगों से पैसे लेते थे अच्छी समीक्षा के लिए।

दिल्ली के कई समीक्षकों ने कार्यक्रमों के कैसेट घर में मंगाकर समीक्षा लिखनी शुरू कर दी है। वे कार्यक्रमों में जाते नहीं हैं। यहाँ दो बातें हैं। पहली तो यह कि जो आदमी आलस्य के कारण कार्यक्रम में नहीं जाता है, वह घर पर भी उस कार्यक्रम की पूरी रिकार्डिंग ध्यानपूर्वक नहीं सुनेगा। दूसरी बात यह कि सभागार में सम्पन्न किसी कार्यक्रम की ऑडियो रिकॉर्डिंग सुनकर उसके साथ पूरा न्याय नहीं किया जा सकता। सभागार में क्या माहौल था? कैसेट और कैसेट प्लेयर की क्या स्थिति है? फिर, मंचीय कार्यक्रम के ढेरों आयाम होते हैं जो कैसेट में नहीं दिखते। मैं अपनी बात कहूं तो मंच पर मैं भिन्न तरीके से गाता हूँ और रिकॉर्डिंग के लिये भिन्न तरीके से। इसलिए मंचीय कार्यक्रमों की रिकॉर्डिंग सुनकर उनकी समीक्षाएँ करना मैं उचित नहीं समझता।

कोलकाता के एक संगीत समीक्षक सितार भी बजाते हैं। मुम्बई के एक कार्यक्रम में उन्होंने बहुत ही बुरा बजाया, इसलिए मैंने उनकी आलोचना कर दी। कुछ दिनों बाद मैं जब कार्यक्रम देने कोलकाता पहुँचा तो कार्यक्रम के पहले ही उन्होंने मुझे कहला भेजा कि 'अब तुम अपनी समीक्षा भी पढ़ना।' वे कार्यक्रम में आये भी नहीं और दूसरे ही दिन स्टेट्समेन में मेरे खिलाफ 200 शब्दों की समीक्षा छाप दी। इसलिए एक कलाकार के नाते नहीं, एक संगीत-समीक्षक के नाते भी मुझे समीक्षा की इस स्थिति पर दुख होता है। मैंने दिल्ली और मुम्बई में अनेक वर्षों तक संगीत समीक्षाएँ की हैं। अगर कार्यक्रम रात के डेढ़ बजे तक चलते थे तो मैं डेढ़ बजे तक रुका रहता था। अगर किसी कलाकार की प्रस्तुति बहुत खराब होती थी तब भी मैं रुका रहता था, क्योंकि मुझे गाना सुनने के पैसे मिलते थे।

लेकिन, देखते ही देखते पूरी स्थिति बदल गई। दिल्ली में लोग टेप सुनने लगे और मुम्बई में टैक्सी का किराया माँगने लगे।

?क्या आप अपनी बात को कुछ और स्पष्ट करेंगे?

आप चाहते हैं तो मैं नाम ले लेता हूँ। टाइम्स ऑफ इंडिया (दिल्ली) में श्री राघव मेनन लिखते थे। एक बार उन्होंने अपने कॉलम में एक ही समय में दो भिन्न सभागारों में आयोजित कार्यक्रमों की समीक्षा की। लेकिन, जहाँ वह उपस्थित थे वहाँ की समीक्षा तो ठीक थी-किन्तु जिस दूसरे जिस कार्यक्रम की समीक्षा उन्होंने की थी-वह कार्यक्रम ही नहीं हो पाया था क्योंकि कलाकार किसी कारणवश नहीं पहुँच पाये थे। यह कार्यक्रम संगीत नाटक अकादमी का था। इसी प्रकार प्रकाश बढ़ेरा ने अपने कॉलम में एक बार कुमार गंधर्व की तो एक बार बिस्मिल्लाह खाँ की खूब तारीफ कर दी थी जबकि कुछ कारणोंवश ये दोनों ही कलाकार अपने-अपने कार्यक्रमों में नहीं पहुँच पाये थे। अब अगर इस स्थिति पर मैं दुःख न व्यक्त करूं तो क्या करूं?

मैं यह भी बता दूं कि राघव मेनन ने कभी मेरी बुराई नहीं की। मैंने बुरा गाया तब भी उन्होंने अच्छा ही लिखा। फिर भी मैंने उनकी प्रशंसाओं को गम्भीरता से कभी नहीं लिया क्योंकि वह पूरा कार्यक्रम सुनते ही नहीं थे। आज वह हमारे बीच नहीं हैं। मेरे मन में उनके प्रति कटुता का कोई भाव नहीं है लेकिन दुख जरूर है। इसी प्रकार पकाश बढ़ेरा ने हमारे खिलाफ जिन्दगी भर एक प्रकार का कैम्पेन चलाया-फिर भी अगर वह 10 बार हमारी आलोचना करते थे तो उसमें से 4 बार उनकी आलोचना सही भी होती थी क्योंकि उन्हें संगीत की समझ थी।

? समीक्षकों पर सम्पादकों और प्रकाशकों का कितना दबाव रहता है किसी कलाकार के पक्ष या विपक्ष में लिखने के लिये?

यह दबाव कुछ हद तक तो रहता है किन्तु उसे मानना या न मानना समीक्षकों पर निर्भर करता है। मैं अपना अनुभव बताऊं। मैं जब मुम्बई में टाइम्स ऑफ इण्डिया में संगीत समीक्षाएँ करता था तो एक बार मेरे पास एक वरिष्ठ अधिकारी का फोन आया कि आज शाम किशोरी अमोनकर का कार्यक्रम है, लेकिन आप इसका ध्यान रखियेगा कि हमलोग उनकी प्रशंसा नहीं छापते हैं। लेकिन, अगले दिन किशोरी अमोनकर की प्रशंसा 3 कॉलम में प्रकाशित हुई जिसे मैंने लिखा था क्योंकि, किसी कार्यक्रम में किसी पूर्वाग्रह के साथ जाने को मैं उचित नहीं मानता हूँ।

इसी प्रकार एक बार मध्य प्रदेश के कुछ लोगों ने यह ठान लिया था कि भीमसेन जोशी का जहाँ भी जैसा भी कार्यक्रम हो उनकी शिकायत ही करनी है। कारण सिर्फ यह था कि भीमसेन जोशी की शिकायत करके वे लोग मल्लिकार्जुन मंसूर को आगे बढ़ाना चाहते थे। इसके बाद इसी गुट के एक बड़े व्यक्ति को जब मध्य प्रदेश शासन ने कुछ रुपये दे दिये तो उन्होंने भीमसेन जोशी की प्रशंसाओं के पुल बाँधते हुए उनके ऊपर एक पूरी किताब ही लिख दी। अब आप ही बतायें कि संगीत के इन स्वयंभू मठाधीशों का क्या चरित्र है?

?आप पं. कुमार गंधर्व के गायन को अरण्य संगीत कहते हैं, इससे आपका क्या तात्पर्य है?

पहली बात तो यह है कि ऐसा मैंने उनकी बुराई करने के उद्देश्य से नहीं कहा था। जंगल कोई खराब चीज नहीं है। उसकी अपनी अहमियत है। लेकिन जंगल और बगीचे के फर्क को आप समझिये। जंगल प्राकृतिक रूप से बढ़ता है। अपनी दिशा स्वयं निर्धारित करता है। इसका अपना सौन्दर्य होता है। लेकिन बाग में सब कुछ सुव्यवस्थित, सुनियोजित होता है। आवश्यकतानुसार उसकी काट-छांट भी की जाती है। इसकी अपनी खूबसूरती होती है।

? मैं जंगल और बगीचे के अन्तर को समझ रहा हूँ। आप तो मुझे यह समझाइये कि कुमार गंधर्व का गाना जंगली किस अर्थ में है?

मेरी दृष्टि में कुमार जी का गाना बाग की तरह नहीं जंगल की तरह इस अर्थ में था कि भारतीय शास्त्रीय संगीत में जो अनुशासनात्मक प्रतिबंध है, उनके गाने में उनका निर्वाह नहीं होता था। जैसे शंकरा में उनकी एक प्रसिद्ध रचना है शोभे हर गंगे। लेकिन शंकरा में जिस तरह वे ऋषभ स्वर पर खड़े हो जाते थे वह शास्त्रीयता की दृष्टि से महापाप है। उनका गायन किसी बिगड़ैल बच्चे की तरह था जो अपने मन की करता है। किसी की नहीं सुनता। जबकि वे बहुत बेहतरीन गायक थे। लेकिन, वह सिर्फ अपने मन की सुनते थे। उनके एक कार्यक्रम की समीक्षा करते हुए मैंने लिखा था कि आप कुमार के राग की बुराई कर सकते हैं, शास्त्रीय अनुशासन की बुराई कर सकते हैं। लेकिन गाते-गाते जब वह गांधार लगाते हैं तो लोगों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मेरा यह मानना है कि अगर कुमार जी अपनी इस ऊर्जा को संयमित रख पाते तो निश्चय ही वह बहुत बड़े गवैये होते। मेरे कथन को आप उनकी बुराई के रूप में न लें क्योंकि मैं उनका बहुत बड़ा प्रशंसक हूँ। लेकिन मुझे इसका दुःख है कि उन्होंने अपनी रचनात्मक ऊर्जा को संयमित कर एक अनुशासित दिशा देने का प्रयास नहीं किया। यही कारण है कि उनके जाने के बाद उनकी गायकी खत्म होने लगी। आज उनकी शैली में कौन गा रहा है सिवाय उस लड़की के जो अब पॉप सोंग गाने लगी है?

?क्या आपका संकेत शुभा मुद्गल की तरफ है?

हाँ, लेकिन यहाँ कुमार जी की बात हो रही है। उनकी गायकी सिर्फ इसलिये नहीं टिक पाई कि उन्होंने गायन धर्म का पालन नहीं किया। अतः उनकी आजादी ने उच्छृंखलता का रूप धारण कर लिया। शास्त्रीय संगीत और पॉप संगीत में यही तो अन्तर है कि हम राग, स्वर, लय और परम्परा आदि के गुण धर्म का पूरी तरह पालन करते हैं। मैं बिना सोचे तानें गाता हूँ लेकिन शंकरा के ऋषभ पर नहीं रुकता, क्योंकि संगीत के अनुशासन और सिद्धान्त को आत्मसात् किया है मैंने। 'जूनूने इश्क बहुत बाशऊर होता है। उठा जो हाथ तो पहुँचा तेरे ही दामन तक।' मैं मानता हूँ कि कुमार जी बहुत बड़े गायक थे। मैं उनके जैसा बिल्कुल नहीं हूँ। लेकिन, फिर भी मेरी अपनी सोच है जिसे मैं बदल नहीं सकता। अगर कुमारजी अपने गायन को अनुशासित कर लेते तो वह भी अमीर खाँ जैसे बड़े गायक बन जाते। हालाँकि वह स्वयं अमीर खाँ को पसंद नहीं करते थे और अमीर खाँ को उनका गाना पसंद नहीं था। लेकिन, यह तो सच है कि आज लगभग पूरा हिन्दुस्तान अमीर खाँ की गायकी को अपनाने के प्रयास में है, थोड़े से लोग बड़े गुलाम अली खाँ की नकल कर रहे हैं। लेकिन कुमार जी का गाना कौन गा रहा है? अगर कुमार जी अपने गायन को संयमित रखते तो आज वह भी इसी स्तर के गायक होते। मैं यह भी स्पष्ट कर दूँ कि कुमार जी अज्ञानतावश ऐसा नहीं करते थे। उन्हें सब कुछ पता था। किन्तु उन्होंने कभी किसी की परवाह नहीं की। यही गुण किशोरी (अमोनकर) दीदी में है। जिस दिन उनका मूड़ होगा शास्त्रीयता का निर्वाह करेंगी नहीं तो बागेश्री में पंचम पर अड़ जायेंगी।

?कुमार जी भजन गायन के लिये बहुत प्रसिद्ध रहे हैं। उनके भजन आपको कैसे लगते हैं?

एक बार मैं कुमार जी के घर में बैठा उनसे बातें कर रहा था। भजनों की बात चली तो मैंने उनसे कहा कि मेरे बचपन में मेरे यहाँ बाबा मछंदर नाथ और बाबा गोरखनाथ के अनुयायी आकर भजन गाया करते थे। मैं जब आपके भजन सुनता हूँ तो मुझे उनकी याद आ जाती है। यह सुनकर

कुमार जी बाल सुलभ चंचलता के साथ उठे और मेरा हाथ पकड़कर मुझे छत पर ले जाकर बोले, "ध्यान से सुनिये कोई आवाज आ रही है?

मैंने कहा कि 'हाँ! गाने की आवाज है। शब्द स्पष्ट नहीं है। लेकिन, ऐसा लगता है कि भजन हो रहा है।'

इस पर कुमार जी बोले-'यह बालनाथ योगियों द्वारा भजन गायन चल रहा है। भजन गायन की प्रेरणा मैंने यहीं से ली है।' कुमार जी ने उन भजनों के साथ अपने संगीत का सम्मिश्रण कर भजन गायकी को एक नया आयाम दिया है जिससे कोई इनकार नहीं कर सकता। लेकिन, यहाँ भी मैं यह कहने से पीछे नहीं हटूंगा कि इन भजनों में भी मुझे उन्हीं जंगलों और पहाड़ों की गूँज सुनाई देती है जिसे आप अनुशासित नहीं कर सकते, जो कायदे-कानूनों से परे है और जो इतना विशाल है कि आप उसकी सीमाएँ नहीं निर्धारित कर सकते, और यह उनकी शिकायत नहीं प्रशंसा है।

?आप इन्दौर घराने की विशेषताओं के विषय में भी कुछ बतायें?

मेरी दृष्टि में इन्दौर घराने की सबसे बड़ी विशेषता संयम ही है। जो कुछ भी कहना है, संयम और शिष्टता से कहो....जोर से नहीं। उस समय लोगों में जो दरबारी (दरबार का) गायन प्रचलित था अमीर खाँ ने उसे वैदिक संगीत से जोड़ा। यह पूरी तरह आध्यात्मिक संगीत है-रूह का गाना है। दिल्ली के शंकरलाल फेस्टिवल की घटना है। पं. रविशंकर बहुत अच्छा सितार बजा रहे थे। खाँ साहब पैर से ताल दे रहे थे। इसी समय किसी ने कहा कि भाई अब तो इन्हीं लोगों का जमाना है। इस पर खाँ साहब तपाक से बोले-'हाँ भाई! मैं तो 5 हजार वर्ष से दुनिया को गाना सुना रहा हूँ। अब 50 साल इन्हें भी गा-बजा लेने दो।' उनका यह मानना कि 5 हजार वर्ष से वे ही गा रहे हैं-उन्हें 5 हजार वर्ष के इस संगीत से गहराई से जोड़े हुए था। वे संगीत के इस सागर में आध्यात्मिकता के मोती ढूंढते और पाते थे।

एक बार रेडियो संगीत सम्मेलन में उनकी एक बंगालिन शिष्या एक शृंगारिक रचना गाने जा रही थी। हिन्दी भाषा का पूरा ज्ञान न होने के कारण वह उसका पूरा अर्थ नहीं समझ पा रही थी। जब खाँ साहब ने गाना सुना तो मना कर दिया-"नहीं। इस बंदिश को मत गाना। कोई दूसरी अच्छी बंदिश ले लो।' हम लोग पूरिया धनाश्री में एक बंदिश गाते थे-'अब तो रुत मान जाये'। जब उन्होंने सुना तो बोले-'यही सब बकवास गाते हो? यह वेदों का संगीत है, ईश्वरीय संगीत है। इसमें इन व्यर्थ की चीजों के लिये कहाँ गुंजाइश है?' ऐसा नहीं है कि खाँ साहब शृंगारिक रचनायें बिल्कुल ही नहीं गाते या सिखाते थे, किन्तु उसकी सीमाओं का ध्यान अवश्य रखते थे। इसे भी आप इन्दौर घराने की विशेषता कह सकते हैं।

जैसा कि आपको पता है कि इन्दौर घराने की स्थापना उस्ताद अमीर खाँ ने ही की थी और वे ही इस घराने के सबसे बड़े गवैये हुए। उनके गायन के आधार पर जब मैं इस घराने की विशेषताओं का विश्लेषण करता हूँ तो पाता हूँ कि इन्दौर की गायकी में शोख रंग नहीं है, काला रंग भी नहीं है। इसमें शाम का सुरमई तथा भोर का रंग है। जब अंधेरा छंट रहा है और सूरज की किरणें दस्तक दे रही हैं। इसमें न तो दोपहर का रंग है, और न रात्रि का। इसकी एक विशेषता यह भी है कि विलम्बित से द्रुत तक गायकी के हर पहलू पर गायक का अधिकार हो। कुछ भी अनदेखा, अनजाना न रहे। कुछ भी कमजोर न रहे। आमतौर पर ऐसा होता है कि किसी का आलाप तैयार होता है तो किसी की तानें। किन्तु इस घराने में गायन के सभी तत्वों का अत्यन्त विवेकपूर्वक नियोजन किया गया है। पहले सुर से अन्तिम सुर तक को समान महत्व मिला है, इस घराने में।

आपके प्रश्न का उत्तर यहाँ खत्म हो जाता है। अब यहाँ से मैं आपके उस प्रश्न का उत्तर आरम्भ करता हूँ जो आप पूछने वाले हैं। मैंने बचपन में अपने बड़े भाई श्री जी.एस. सरदार से किराना और पटियाला घराने की गायकी सीखी। बचपन में मैं उस्ताद फैयाज खाँ का बहुत बड़ा प्रशंसक था। उनके आर.पी.एम. के जितने रिकॉर्ड थे सब मैंने रट लिये थे। तब मेरे यार दोस्त भी मुझे फैयाज खाँ ही कहते थे। उनके गाने में जो ओज, कस-बल और दम-खम था उसने मुझे खूब आकर्षित किया। अतः इस गाने का भी मुझ पर प्रभाव पड़ा। उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ का तो मैं गुलाम ही था। उनका गाना मैंने खूब सुना है और इसलिये सुना है क्योंकि मैं वैसा नहीं गा सकता था। उनका गाना सुनकर मुझे बार-बार यह अहसास होता था कि वह भी हो सकता है गाने में किन्तु यह मेरे वश की बात नहीं है। पं. ओंकारनाथ ठाकुर के गायन से भी मैं खूब प्रभावित था। पाकिस्तान के फतेहअली (अमानत अली के भाई) और फिर सलामत अली के गानों से भी मैं खूब प्रभावित हुआ। तात्पर्य यह कि उस जमाने के ओजपूर्ण और तैयार गायकों ने मुझे खूब प्रभावित किया। इसके बाद मैं उस्ताद अमीर खाँ के सम्पर्क में आया जिन्होंने मुझ जैसे जंगली घोड़े को काबू में किया। इसलिये मेरा जो गाना है उसमें इन सभी बुजुर्गों, गुरुओं का प्रभाव आपको मिलेगा, जिसके लिये बुजुर्गों ने देख्या, सीख्या और परीख्या (देखो, सुनो और परखो) की बात कही है।

अब, इस उम्र में आकर मुझे यह बात समझ में आई है कि मुझे न तो फैयाज खाँ जैसा गाना है, न तो फतेह अली खाँ जैसा, न तो सलामत अली खाँ जैसा और न तो अमीर खाँ जैसा। मुझे तो बस अपनी तोतली जुबान में वह मिठास पैदा करनी है कि जब मैं गाऊँ तो लोगों को बुरा न लगे। अगर मेरे गायन में इन कलाकारों के गायन की कुछ थोड़ी-बहुत छाप मिलती है तो यह मेरा अहोभाग्य है। इसलिये, कि कलाकारों के गायन-वादन पर उनके गुरुओं का यथेष्ट प्रभाव होने के बावजूद यह गायन-वादन उनका अपना होता है। उदाहरण के लिये आप कोई भी नाम ले सकते हैं। जैसे कि आज के सबसे बड़े गायक पं. भीमसेन जोशी को ले लीजिये। उनके गायन में आपको कई अलग-अलग गायकों के प्रभाव तो दिखेंगे किन्तु जब आप समग्रता के साथ उनका गायन सुनेंगे तो पायेंगे कि वह उनका अपना-जोशी जी का गाना है। मैंने भी सिर्फ इन्दौर घराने की आत्मा को आत्मसात् करने का प्रयास किया है, यह प्रयास कभी नहीं किया कि मेरा गाना सुनकर लोगों को उस्ताद अमीर खाँ की याद आ जाये।

?इन्दौर घराने के भविष्य के प्रति आप कितने आश्वस्त हैं?

मैं इन्दौर घराने के भविष्य को लेकर थोड़ा भी चिंतित नहीं हूँ। क्योंकि आज लगभग पूरा हिन्दुस्तान इन्दौर घराने की गायकी गा रहा है। हिन्दुस्तान का आज कौन सा बड़ा गवैया है जो उस्ताद अमीर खाँ का अनुकरण नहीं कर रहा है? गोस्वामी गोकुलोत्सव जी को ही सुन लीजिये।

?लेकिन वह तो नहीं मानते कि वह इन्दौर घराना या अमीर खाँ का गाना गाते हैं?

इसे जब सारी दुनिया मानती है तो एक उनके न मानने से क्या होता है? अगर वह नहीं मानते हैं तो यह उनका बचपना है क्योंकि लोगों ने उनका कान भर-भरकर उन्हें दिग्भ्रमित कर दिया है। कुछ लोगों ने उन्हें यह समझाना शुरू कर दिया है कि आप इतने बड़े धर्माचार्य वल्लभाचार्य जी के वंशज होकर एक मुसलमान का गाना गा रहे हैं। इससे वह अपने रास्ते से भटक गये हैं। ये सारी बातें मुझे पता हैं। लेकिन उनका उदाहरण मैं इसलिये दे रहा हूँ कि उनके गाने पर अमीर खाँ के गाने का प्रभाव है वे मानें या न मानें। और न केवल गोस्वामी जी

बल्कि आज के अधिकांश गायक अमीर खाँ के गायन से प्रभावित हैं। साथ ही कई वादक भी उनकी प्रभा मंडल के प्रभाव में आये हैं चाहे वह उस्ताद विलायत खाँ हों चाहे पं. रविशंकर। नाम लेने से विवाद पैदा होता है इसलिये मैं नाम लेने से बच रहा था, लेकिन पं. भीमसेन जोशी सहित जितने भी गायकों का गाना मैं आँखें बंद करके सुनता हूँ, मुझे उसमें उस्ताद अमीर खाँ की छाया दिखलाई पड़ती है। सच कहें तो यह उस्ताद अमीर खाँ का युग है। जैसे एक जमाना था उस्ताद फैयाज खाँ का। उस्ताद निसार हुसैन खाँ बहुत बड़े गायक थे लेकिन उनके गाने में भी उस्ताद फैयाज खाँ का स्पष्ट प्रभाव दिखता था। इसी तरह आज हम उस्ताद अमीर खाँ के युग में जी रहे हैं। आज के अनेक युवा गायक जिन्होंने खाँ साहब को देखा भी नहीं है वे भी उनका अनुकरण कर रहे हैं। नाम भले ही अपने घराने का ले रहे हैं। इसलिये इन्दौर घराने के भविष्य को लेकर मैं बिल्कुल चिन्तित नहीं हूँ।

?आपने संगीत में तीन पीढ़ियों को गाते हुए सुना है। क्या परिवर्तन महसूस करते हैं आप?

परिवर्तन तो होंगे ही, क्योंकि परिवर्तन की प्रक्रिया इंसान के स्वभाव के साथ जुड़ी होती हैं। मैं फैयाज खाँ और ओंकारनाथ ठाकुर के जमाने का आदमी हूँ। उस समय का संगीत नाटकीय भी होता था और आक्रामक भी। तब कलाकारों में होड़ की भावना खूब होती थी। गायक या तंत्र वादक एक-एक कार्यक्रम में तीन-तीन तबला वादकों को अयोग्य कहकर मंच से उतार देते थे। होड़ की भावना इतनी प्रबल होती थी कि एक गायक ने दूसरे काले से गाया तो दूसरा तीसरे सफेद से गायेगा। पटियाला घराने के उस्ताद आशिक अली खाँ काफी रफ गाते थे। उनके गाने में भी काफी 'जंगल' था। स्वयं उन्हें नहीं पता होता था कि उन्होंने पंचम से जो तान उठाई है वह कहाँ जाकर खत्म होगी? रेडियो में जब भी उनका कार्यक्रम होने को होता था प्रायः सभी सारंगी वादक छुट्टियां ले लेते थे। इसी घराने के उस्ताद उम्मेद खाँ ने इस गायकी को कुछ 'नरम' किया। इसके बाद उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ ने इसे बिल्कुल ही 'मुलायम' कर दिया। इस तरह के बदलाव संगीत में आगे भी होंगे। अब पटियाला घराना लुप्त होने के कगार पर है। अजय चक्रवर्ती के अलावा और कौन गा रहा है इस घराने का गाना? हालांकि, अजय चक्रवर्ती काफी अच्छा गा रहे हैं लेकिन उन्होंने उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ से तो नहीं ही सीखा है।

?आधुनिक युग में घरानों को आप किस दृष्टि से देखते हैं?

अब घराने लुप्त हो जायेंगे। वैसे भी इनका इतिहास डेढ़ सौ साल से अधिक का नहीं है। उस समय के कलाकारों ने अपने आश्रयदाता राजाओं, नवाबों के राज्यों, स्थानों, के नाम पर अपनी कला शैली का नामकरण किया जो अब तक किसी न किसी रूप में चला आ रहा है। लेकिन, अब व्यक्तिवाद का युग आ रहा है। सभी अपनी विशिष्ट व्यक्तिगत छवि निखारने के प्रयास में हैं। यद्यपि संगीत के मूल सिद्धान्त नहीं बदलेंगे...रागों की रागात्मकता नहीं बदलेगी...राग-धर्म नहीं बदलेंगे.. ..लेकिन, आने वाले समय में हर गायक अपनी निजी शैली में गायेगा अपने गुरु की शैली में नहीं। इसके प्रमाण अभी से मिलने लगे हैं। अजय चक्रवर्ती उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ के शिष्य न होने के बावजूद उन्हीं की शैली में गा रहे हैं। परवीन सुल्ताना की गायकी बहुत कुछ सलामत अली खाँ की तरह थी। अब वह इसे बदलने का प्रयास करने लगी हैं। गोस्वामी गोकुलोत्सव जी अमीर खाँ की शैली में गाते हैं, जबकि उनका कहना है कि उन्होंने खाँ साहब से नहीं सीखा है। एक पंक्ति याद आ रही है-'मैं चमन में चाहे जहां रहूं। मेरा हक है हुस्ने-बहार पर।' तो, आज हमें यह आजादी है कि

हम अपने गाने को अपने व्यक्तित्व के अनुरूप ढाल सकें। जिसको जो विशेषता पसन्द आये उसे अपनाये चाहे वे उस्ताद फैयाज खाँ हों, पं. ओंकारनाथ ठाकुर हों, उस्ताद अमीर खाँ हों, उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ हों, पं. जसराज हों अथवा पं. भीमसेन जोशी हों। हम जिसकी जिस विशेषता को अपनाना चाहें अपनाने के लिये स्वतंत्र हैं-यह स्वतंत्रता इस युग की बड़ी देन है। घरानेदारी का युग अब समाप्त हो गया है। जिन लोगों में कोई विशेष योग्यता नहीं होती वे ही स्वयं को किसी बड़े घराने से जोड़कर पेश करते हैं।

?उस्ताद अमीर खाँ पर अक्सर यह आरोप लगता है कि वह अन्तरा नहीं गाते थे। चूंकि आप उनसे बहुत गहराई से जुड़े थे अतः मैं आप से ही जानना चाहता हूँ कि वह अन्तरा क्यों नहीं गाते थे?

खाँ साहब की आवाज तार सप्तक तक बहुत मुश्किल से जाती थी, जबकि अन्तरे का गायन तार सप्तक में ही होता है, इसलिये वह कई बार अंतरा नहीं गाते थे। वैसे भी पद की दृष्टि से देखें तो कविता का मूल भाव स्थायी में ही होता है। अन्तरे में सिर्फ विचारों का विस्तार होता है। अतः खाँ साहब को यह भी लगता था कि जब स्थायी में मूल बात कही जा चुकी है तो अन्तरा गाना अनिवार्य नहीं है।

इस संदर्भ में आपको एक प्रसंग सुनाना चाहता हूँ। एक बार कई संगीतकार आपस में बैठे हुए बातें कर रहे थे कि उस्ताद लताफत हुसैन खाँ ने उस्ताद अमीर खाँ से कहा-'अमीर खाः तुम अन्तरा क्यों नहीं गाते? अन्तरे याद नहीं हैं क्या?' इस पर कुछ लोग हँस दिये। बात खाँ साहब को चुभ गयी। उन्होंने कहा-'लताफत! तुम मुझे एक अन्तरा गाने का सिर्फ एक चवन्नी (4 आने) दो। सुबह से शुरू हो जाते हैं भैरवी से। तुम बस एक अंतरे पर एक चवन्नी देते रहना और शाम तक अगर मैंने तुम्हारी जेब के सारे पैसे लेने के बाद तुम्हारी शेरवानी न निकलवा दी तो मेरा नाम अमीर खाँ नहीं।' तात्पर्य यह कि उन्हें सभी बंदिशों के अंतरे याद थे। उन्होंने हम लोगों को सिखाया भी। हम लोग गाते भी हैं। लेकिन चूंकि उनकी आवाज तार सप्तक के सा तक ही मुश्किल से पहुँचती थी इसलिये वे अन्तरा नहीं गाते थे, क्योंकि उन्हें लगता था कि वह अन्तरे के साथ न्याय नहीं कर पायेंगे। लेकिन, स्थायी का वह इतना अधिक विस्तार कर देते थे कि उनके श्रोताओं को कभी भी अन्तरे की कमी नहीं महसूस होती थी।

राग मारवा की एक बंदिश है ए जग बावरे। अदारंग की रचना है यह। इसका अंतरा उन्होंने हमलोगों को नहीं सिखाया। एक बार मेरे बड़े भाई तेजपाल सिंह जी ने उनसे उसका अंतरा पूछ लिया। खाँ साहब ने पहले तो उन्हें खूब ध्यान से देखा फिर बोले-'चलो लिख लो।' इसका अन्तरा वस्तुतः कुरान शरीफ की एक आयत है जो अरबी में है। अन्तरा बताने के बाद उन्होंने उसका अर्थ भी बताया और तब बोले-'लेकिन, इसे कहीं गाना मत। जब कभी इज्जत खतरे में पड़ जाये तभी गाना।'

?आप कंठ-सिद्ध गायक तो हैं ही शब्द-सिद्ध समीक्षक-लेखक भी हैं। निर्माता निर्देशक भी रहे हैं आप। साथ ही आपने कई उच्च पदों पर काम भी किया। इतना सारा कुछ कैसे कर पाये आप और क्या है इस सक्रियता का राज?

मैंने कुछ नहीं किया सब कुछ ऊपर वाले ने किया। मैंने तो बस स्वयं को उसके ऊपर यह कहते हुए छोड़ दिया कि तू जो नाच नचायेगा मैं नाच लूंगा। यहाँ एक बात और जरूर बताना चाहूंगा कि अपनी इच्छा से मैंने सिर्फ एक काम किया-गाने का। इसलिये समय के साथ-साथ सब

कुछ पीछे छूटता गया लेकिन गाना नहीं छूटा। दरअसल, मेरे जीवन में दो ही ऐसी चीजें हैं जिनके प्रति मेरा प्यार न तो कभी कम हुआ और न होगा-वे हैं गाना और पद्मा।

?पद्मा भाभी (लेखिका पद्मश्री पद्मा सचदेव) से आपकी मुलाकात कैसे हुई और कैसे हुआ शब्द और स्वर का यह सुमिलन।

हम दोनों की मुलाकात जम्मू रेडियो में हुई। अब ये इतनी खूबसूरत हैं कि इनसे प्यार न करने वाला या तो कोई अंधा होगा या तो गधा (हंसकर)। इसलिये मैंने इन पर डोरे डालना, इन्हें मनाना शुरू कर दिया। मुझे काफी परेशान करने के बाद अन्ततः ये मान गयीं। लेकिन, जब से ये मानीं तब से मैं और परेशान हूँ। (जोरदार हँसी) पद्मा जी ब्राह्मण हैं इसलिये इनके घर में इस शादी का बहुत विरोध हुआ। मेरे घर में भी सभी ने विरोध किया लेकिन मेरी माँ ने मेरा बहुत साथ दिया। मुझे लगता है कि मैंने अपनी जिन्दगी में सिर्फ दो ही अच्छे काम किये। एक तो पद्मा से शादी करने का और दूसरा नौकरी छोड़ने का।

?आयकर विभाग की इतनी अच्छी नौकरी छोड़ने के पीछे कौन से कारण थे?

पहले एक घटना के विषय में बताता हूँ। कोलकाता में अपना कार्यक्रम देने के बाद मैं सामने बैठकर दूसरे कलाकार की प्रस्तुति सुन रहा था। उसी समय एक अत्यन्त रूपवान और धनवान महिला बड़ी शालीनता और संकोच के साथ अपना ऑटोग्राफ बुक मेरी ओर बढ़ाती हुई बोली-कि क्या आप अपना ऑटोग्राफ देने की कृपा करेंगे? अगले ही दिन जब मैं ऑफिस में पहुँचा तो मेरी आँखों में आँसू आ गये क्योंकि मेरी टेबल पर असिस्टेन्ट कमिश्नर का मेमो पड़ा था कि 'कल आप ऑफिस में क्यों नहीं उपस्थित थे?' और 'क्यों न आपके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाये?' जबकि मैं कार्यक्रम के लिये छुट्टी लेकर गया था। ऐसी-ऐसी कई घटनाओं ने मुझे इतना व्यथित कर दिया कि मैंने नौकरी छोड़ना ही उचित समझा। क्योंकि बाहर तो पैर छूने के लिए भीड़ इकट्ठी हो जाती थी और ऑफिस में लोग गिरेबान पकड़ते थे। ऐसी स्थिति में कई बार मैं गम्भीर रूप से बीमार पड़ गया। एक बार तो बुखार 107 डिग्री तक चढ़ गया। मेरे एक डॉक्टर मित्र जो मुझसे गाना भी सीखते थे-ने मुझे बाथ टब में लिटा दिया और पूरे अपार्टमेंट का बर्फ उसमें रखवा दिया। अपनी यह स्थिति देखकर मैंने मजाक में हँसते हुए कहा भी कि मेरे मरने के बाद मेरे गानों की कॉपी तुझे तो हरगिज नहीं मिलेगी क्योंकि तू तो मेरी जान लेने पर तुला है। इस पर उसने मुझे हाथ जोड़कर चुप कराते हुए कहा कि प्लीज भाई साहब आप चुप हो जाइये। आपको पता नहीं कि स्थिति कितनी खराब है। किसी भी क्षण ब्रेन हेमरेज हो सकता है। इस घटना के बाद ही पद्मा ने मुझसे कहा कि जब पानी सिर के इतना ऊपर आ गया है तो फिर नौकरी छोड़ देना ही उचित है। बस मैंने नौकरी छोड़ दी। बाद में कमिश्नर तक ने मेरे घर में आकर त्याग पत्र वापस लेने का सुझाव दिया लेकिन मैं नहीं माना और स्वयं को गाने पर ही केन्द्रित कर लिया।

?अपने किसी ऐसे अनुभव से पाठकों को अवगत करायें जिन्हें याद कर आप आज भी रोमांचित हो जाते हों!

ऐसी अनेक घटनाएँ हैं मेरे स्मृति कोष में। दिल्ली में नयना देवी के घर में उस्ताद अमीर खाँ गा रहे थे। वह राग यमन में बिना किसी मींड के ऋषभ स्वर का प्रयोग कर रहे थे और हम सबको उसका अगला स्वर गांधार स्पष्ट सुनाई दे रहा था। मेरे बगल में संगीत समीक्षक प्रकाश बढ़ेरा भी बैठे हुए थे जो प्रायः खाँ साहब की आलोचना किया करते थे। मैंने उनसे पूछा-'सुन रहे हैं गाना?'

उन्होंने आश्चर्य मिश्रित स्वर में कहा-'ऐसा आश्चर्य मैंने आज तक नहीं देखा।' कार्यक्रम की समाप्ति के बाद भी उनकी प्रतिक्रिया थी-'मैं अभी तक नहीं समझ पाया कि जब खाँ साहब ऋषभ लगा रहे थे तो हमें गांधार क्यों और कैसे सुनाई दे रहा था?'

इसी प्रकार एक बार प्रगति मैदान में उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ का गायन था। वे मेरी गरीबी के दिन थे अतः सबसे सस्ती टिकट लेकर मैं अपने मित्र अमरजीत के साथ पिछली पंक्ति में बैठा हुआ था। खाँ साहब ने राग यमन शुरू किया और मुझे ऐसा लगा जैसे हॉल में हल्की रोशनी हो गयी। जैसे-जैसे वह स्वरों की बढ़त करते गये हॉल में रोशनी बढ़ती गयी। मैंने अमरजीत की ओर देखा तो वह आश्चर्य से बोला-'यार! आज तो गजब हो गया। खाँ साहब ने हॉल की बत्तियाँ जला दी।' जबकि सच्चाई यह थी कि हॉल की सारी बत्तियाँ बुझी हुई थीं। वह रोशनी उनके गाने की थी।

उस्ताद अमीर खाँ से जुड़ी एक और घटना याद आ रही है। मुम्बई में उनका कार्यक्रम था। लगभग दो-ढाई हजार श्रोता उपस्थित थे उस सभागार में। यहाँ मैं आपको एक बात और बताना चाहूंगा कि महाराष्ट्र में शुरू से ही गायकों का एक ऐसा वर्ग रहा है जिस खाँ साहब का गाना पसन्द नहीं था। इस वर्ग के भी कई लोग इस कार्यक्रम में मौजूद थे और सामने बैठकर बातें कर रहे थे, खाँ साहब की आलोचना कर रहे थे। मुझे बुरा भी लग रहा था किन्तु मैं किसी को रोक पाने की स्थिति में नहीं था। उस दिन खाँ साहब राग दरबारी गा रहे थे। इसी बीच उस्ताद विलायत खाँ वहाँ पधारे। उनके आने से कार्यक्रम में थोड़ी सरगर्मी बढ़ी। खाँ साहब ने भी आँखें खोलकर उन्हें देखा। आपस में दुआ-सलाम हुई और फिर खाँ साहब गाने में डूब गये। लेकिन इस बार कुछ ऐसा रंग जमा कि पूरे सभागार में जैसे मौन का साम्राज्य छा गया। सभी स्वर सम्मोहन में झूमने लगे।

दूसरे दिन जब हमलोग खाँ साहब से मिलने पहुँचे तो वहाँ उस्ताद विलायत खाँ पहले से मौजूद थे। उन्होंने मुझे देखते ही पूछा-कल आपने उस्ताद का गाना सुना?' मैंने जवाब दिया-'कल उस्ताद ने दो बार गाया था। एक आपके आने से पहले और एक आपके आने के बाद। मैंने दोनों गाना सुना।' इस पर उस्ताद विलायत खाँ थोड़े उदास हो गये और बोले-'इनका कल का गाना सुनकर मैं तो बहुत डर गया हूँ। मुझे कहीं से भी वह इंसान का गाना नहीं लग रहा था। मुझे इस बात की चिन्ता हो गयी है कि अब ये कितने दिन हमारे बीच रह पायेंगे?' और सचमुच इस घटना के कुछ ही समय बाद एक सड़क दुर्घटना में खाँ साहब का निधन हो गया।

?आप संगीत को अनन्त की यात्र क्यों कहते हैं?

जब मैंने संगीत सीखना शुरू किया था तब मुझे कभी भी ऐसा नहीं लगा था कि यह इतनी कठिन विधा है। यद्यपि तब के बड़े-बुजुर्गों को मैं अक्सर यह कहते हुए सुनता था कि संगीत की यात्र अनन्त की यात्र है, लेकिन सच कहूं तो मुझे तो ऐसा ही लगता था कि बस दो साल जमकर रियाज कर लूं तो सबकी छुट्टी कर दूंगा। जब रियाज करते हुए दो वर्ष बीत गये तब संगीत की कुछ समझ आई और ऐसा लगा कि दो साल तो कुछ ज्यादा ही कम है, लेकिन 5 साल में मैं अपने मकसद में जरूर कामयाब हो जाऊंगा। 5 साल बीतने के बाद लगा कि लक्ष्य अभी भी दूर है और तब मन ने माना कि संगीत की यात्र सचमुच अनन्त की यात्र है जिसमें क्षितिज की तरह मंजिल सिर्फ दिखती है मिलती नहीं है। इसमें मंजिल मिलने का अर्थ है-अनन्त में विलीन हो जाना।

जब मैं मुंबई में था तो मेरे मित्र कल्याणजी भाई (संगीत निर्देशक कल्याणजी-आनन्दजी) अक्सर मेरे

घर आया करते थे। मैं उन्हें निशाचर कहता था क्योंकि रात में उन्हें नींद नहीं आती थी। एक दिन हमलोग यूं ही बैठे बातें कर रहे थे तब मैंने उन्हें बताया कि सचमुच संगीत की यात्र अनन्त की यात्र है। इसमें मंजिल आगे खिसकती जाती है और वर्षों की यात्र के बाद भी मैं स्वयं को मंजिल से इतनी दूर पा रहा हूं। इस पर उन्होंने मुझे समझाते हुए कहा-'नहीं, ऐसी बात नहीं है। आप यह भी तो देखें कि आपने यह यात्र कहां से शुरू की थी?' तब मैंने उन्हें अपनी पीड़ा बताते हुए कहा-'यही तो चिन्ता की बात है। जब आगे देखता हूं तो मंजिल बहुत दूर दिखाई देती है, किन्तु जब पीछे मुड़कर देखता हूं तो ऐसा लगता है जैसे जहां से चला था अब तक वहीं खड़ा हूं। जरा भी आगे नहीं बढ़ पाया हूं। मैं चाहता हूं कि अगर मुझे मंजिल दूर दिख रही है तो वह स्थान भी तो कुछ दूर दिखे जहां से मैं चला था। लेकिन वह स्थान तो वहीं है। ऐसे में इतनी देर तक, इतने वर्षों तक चलने का क्या अर्थ है?'' मेरी इस बात पर कल्याणजी भाई मजे ले-लेकर खूब हंसते थे।

?आप इस अनन्त यात्र को किस रूप में देखते हैं?

इस रूप में कि संगीत की कोई मंजिल नहीं है। इस रास्ते पर आपको जिंदगी भर चलते जाना है। जो आपके आगे चल रहे हैं उन्हें भी चलते ही रहना है, और जो आपके पीछे चल रहे हैं, उन्हें भी चलते ही जाना है। मां भगवती आपको निरंतर चलने की शक्ति दें और आप निरंतर चलते रहें.. .आगे बढ़ते रहें...यही संगीत की अनन्त यात्र है। इस यात्र में कभी दो महीने बाद, कभी छः महीने बाद तो कभी एक वर्ष बाद आपको कोई नयी चीज, नयी बात दिख जाती है और आपकी चाल तेज हो जाती है, कभी आप दौड़ भी पड़ते हैं। वह चीज आपको मिल भी जाती है, मिलने की खुशी भी होती है, किन्तु वह मंजिल नहीं होती है। इसलिये, जिन लोगों के पास आपसे अधिक उपलब्धियां हैं, मंजिल से दूर वे भी हैं। मुझे उस्ताद अमीर खां और बड़े गुलाम अली खां दोनों के चरणों में बैठने का सौभाग्य मिला है। उनका भी यही कहना था कि संगीत में अपनी पहचान, अपना स्थान बनाये रखने के लिये जी-जान लगा देना पड़ता है। इसी को हमलोग रियाज और अभ्यास कहते हैं। कुछ लोग इसे साधना भी कहते हैं। किन्तु खुद मुझे साधना कहते हुए शर्म आती है। क्योंकि मैं खुद को एक मजदूर ही मानता हूं।

?संगीत में अभ्यास पर बहुत बल दिया जाता है। इसके विषय में बतायें?

कई बातें सुनने में झूठ लगती हैं लेकिन वे होती हैं बिल्कुल सच। जैसे में वर्षों से मधुमात सारंग गा रहा हूं, किन्तु उस राग के दर्शन मुझे अभी करीब छः महीने पूर्व हुए और तब मैं इसे पूरी तरह समझ पाया। एक राग आपका मित्र बन जाये। आप जब चाहें उसे साकार कर दें-इसमें कितना समय लगेगा, कहा नहीं जा सकता। कभी तीन साल में यह संभव हो जाता है, कभी तीस साल में और कभी तब भी नहीं। एक बार मैंने उस्ताद अमीर खां से कहा कि मैं जब तोड़ी में मगरेगरेसा की तान करता हूं तो मेरा गांधार बेसुरा हो जाता है। मैं क्या करूं? इस पर खां साहब बोले-'सभी का होता है। रियाज करो।' मैंने सकुचाते हुए कहा-'मैं पिछले काफी दिनों से इसका रियाज कर रहा हूं। लेकिन, यह ठीक नहीं हो रहा है।' इस पर खां साहब ने सपाट स्वर में कहा-'तो और रियाज करो।' और बात खत्म हो गई।

इस प्रकार की एक घटना के विषय में मुझे उस्ताद बड़े गुलाम अली खां ने बताया-'एक बार मैं एक तान को बार-बार ठीक करने की कोशिश कर रहा था किन्तु बार-बार गलती हो रही थी। इस पर झुंझलाकर मैंने अपने गाल पर एक जोरदार तमाचा

मारा। संयोग से उसी समय एक बुजुर्ग कलाकार उधर से गुजर रहे थे। यह दृश्य देखकर वह व्यंग्यात्मक स्वर में बोले-'इस तान का दस बार और रियाज करो फिर भी ठीक न हो तो सामने टंगी तलवार से अपनी गर्दन काट लेना।' खां साहब की इस बात पर मैंने चौंकते हुए पूछा-'चचा इसका क्या मतलब हुआ?' तब उन्होंने कहा-'बेटा, चाँटा मारने से कहीं तानें ठीक होती हैं? इसके लिये तो एकमात्र रास्ता रियाज ही है। एक बार में नहीं तो दस बार में, दस बार में नहीं तो सौ बार में, सौ बार में नहीं तो हजार बार में, नहीं तो दस हजार बार में, लेकिन ठीक तो रियाज से ही होगी। रियाज के अलावा और कोई रास्ता नहीं है।' पिछले दिनों मैं कन्फ्यूशियस को पढ़ रहा था। उन्होंने भी लिखा है कि ऐसा कोई भी काम नहीं है जिसे इंसान न कर सके। यह अलग बात है कि उसी काम को कोई बीस बार के प्रयास से कर लेता है, किसी को दो सौ बार प्रयास करने पड़ते हैं तो किसी को दो हजार बार। लेकिन, होगा जरूर। इसलिये लगातार प्रयास करते रहना चाहिये। यह अनथक प्रयास ही संगीत की साधना है, और यही है संगीत की अनन्त यात्र।'

?आप अपनी संगीत यात्र के विषय में कुछ बतायें?

मेरा परिवार संगीतज्ञों का परिवार नहीं था लेकिन इस परिवार में संगीत के लिये आदर भाव था। बड़े भाई गाते थे अतः मैं भी गाने लगा। लय और स्वर दोनों ही अच्छे थे इसलिये प्रशंसा भी खूब होती थी। सात वर्ष की उम्र में मैंने रेडियो पर शास्त्रिय संगीत का कार्यक्रम दिया था। उन दिनों मेरा गाना सुनकर लोग आश्चर्यचकित हो जाते थे। एक घटना याद आ रही है। दिल्ली विश्वविद्यालय में आयोजित एक प्रतियोगिता में जब मैं गाने बैठा तो मेरे साथ तबले पर उस्ताद हबीबुद्दीन खां के शिष्य श्री मिठ्ठनलाल संगत करने बैठे। मैंने शिष्टाचारवश हाथ जोड़कर उनसे कहा-'पंडितजी आपका बच्चा हूं संभाल लीजियेगा।' लेकिन, मिठ्ठनलाल जी ने जब बच्चा समझकर स्टेज पर मुझे परेशान करना शुरू किया तो फिर मैंने उन्हें दो-तीन बार बेताला कर दिया जिससे उनके पसीने छूट गये। उन दिनों मैं जोशीला जवान था। जमकर रियाज करता था और अपने आगे किसी को कुछ नहीं समझता था। इससे मेरे अहं की संतुष्टि होती थी।

लेकिन जब विचारों में परिपक्वता आई, ज्ञान हुआ कि यह अहं का भाव तो सबसे बड़ा शत्रु है। उस्ताद अमीर खां खौफनाक किस्म के लयदार थे लेकिन लयकारी करते ही नहीं थे। उन्होंने विकट परिस्थितियों में लोगों का घमंड तोड़ने के लिये ही एकाध बार लयकारियों का प्रयोग किया था। क्योंकि अहंकार के विष को पी लेने वाला ही शिव बनता है। आज मेरा यह मानना है कि संगीत को कभी भी अपनी अहं की तुष्टि का माध्यम नहीं बनाना चाहिये। इसमें कुछ पाने की नहीं सब कुछ लुटा देने की इच्छा लेकर ही पदार्पण करना चाहिये। क्योंकि फकीरी में जो मजा है वह अमीरी में नहीं है। दरअसल संगीत में कुछ लोग जिसे अपनी मंजिल समझ लेते हैं वह वास्तव में संगीत की नहीं, उनकी दृष्टि और सोच की सीमा होती है। जहां तक वे सोच पाते हैं उसे ही मंजिल मान लेते हैं। जैसे आकाश हमारी दृष्टि की सीमा है। इसी प्रकार संगीत में भी जैसे-जैसे हम इसकी साधना करते हैं, वैसे-वैसे मंजिल दूर खिसकती जाती है।

?जब आप संगीत के माध्यम से अनन्त की यात्र पर निकले तब आपका लक्ष्य क्या था?

मैं तो सीधी-सच्ची बात कहूंगा कि मैं गवैया हूं, संत नहीं। इसलिये मुझे मोक्ष की तलाश भी नहीं है। अभी अगर ईश्वर यहां प्रकट होकर मुझसे पूछे कि तुम्हें मोक्ष चाहिये या मालकौंस तो मैं बिना एक क्षण भी सोचे उनसे तुरंत कहूंगा कि गुरू मुझे तो मालकौंस चाहिये। उसे तुम मुझे दे दो। क्योंकि

मुझे मालकौंस की तलाश है मुझे इसकी तलाश है कि वापसी में तोड़ी गांधार कैसे सही लगेगा। इसलिये मोक्ष तो तुम अपने ही पास रखो। शायद तुम्हें कभी उसकी जरूरत पड़ जाये। चूंकि मैं मंच का गायक हूं इसलिये यह भी चाहता हूं कि मेरे गाते समय मेरे श्रोता मुझे शाबादी दें।

जब ऐसा होता है तो मुझे लगता है कि मेरी मेहनत सफल हो गयी। यह जानते हुए भी कि मैं अनन्त की यात्र पर हूं शाबाशी पाने की इच्छा से मैं मुक्त नहीं हुआ हूं-शायद होना भी नहीं चाहता। वस्तुतः मैं अपने संगीत को अपने श्रोताओं के साथ शेयर करता हूं। उसे प्रसाद की तरह लोगों में बांटता नहीं हूं। मुझे हर बार ऐसा लगता है कि जब मैं मंच पर गाता हूं तो कुछ देर के बाद मेरे सामने बैठे लोग भी मेरे साथ गाने लगते हैं। अतः मेरे संगीत की जो ऊर्जा है वह मुझे मेरे श्रोताओं से ही मिलती है। इसलिये मैं मंच पर जो कुछ गाता हूं वह सिर्फ मेरा नहीं होता। उसमें बहुत कुछ उस जनता जनार्दन का भी होता है जो मुझे सुनने आती है।

एक बार मैंने दिल्ली में एक घरेलू संगीत बैठक में राग वसंत गाया। श्रोताओं में डा. धर्मवीर भारती की पत्नी डा. पुष्पा भारती भी थीं। एक सप्ताह बाद ही मेरा मुंबई में कार्यक्रम था। वसंत के दिन थे अतः वहां भी मैंने वसंत ही गाया। पुष्पा भारती वहां भी उपस्थित थीं। कार्यक्रम के बाद वह मुझसे आकर बोलीं-'भाई साहब यह वसंत मैंने सप्ताह भर पहले आपसे दिल्ली में भी सुना था। वहां भी आपने अच्छा गाया था लेकिन आज तो चमत्कार ही कर दिया।' तब मैंने उनसे कहा कि भाभी, यह चमत्कार मेरा नहीं आप श्रोताओं का है। दिल्ली की संगीत गोष्ठी में लोग सोच रहे थे कि कब ये गाना खत्म करें ताकि कॉकटेल और डिनर का दौर आरम्भ हो। जबकि, यहां लोग मुझे सुनने के लिये टिकट लेकर आये हैं। अतः ये चाह रहे थे कि उस टिकट के पैसे की अधिक से अधिक भरपाई हो। मैं अच्छा से अच्छा गाऊं और ये अधिक से अधिक आनन्दित हों। यद्यपि मैंने अपनी ओर से दोनों ही जगहों पर अच्छा गाने का पूरा प्रयास किया था। लेकिन श्रोताओं की भागीदारी अलग-अलग होने के कारण गायन का प्रभाव भी अलग-अलग रहा।

आप कह सकते हैं कि मैं अपनी कला के प्रति पूरी तरह निष्ठावान हूं। लेकिन, मेरे मन के किसी कोने में इस निष्ठा, इस भक्ति, इस भावना का फल पाने की कामना भी है। इससे मैं इंकार नहीं कर सकता क्योंकि यह झूठा होगा।

?तब तो पद्मश्री और संगीत नाटक अकादमी सम्मान मिलने पर आप खूब खुश हुए होंगे?

बिल्कुल। दूसरे लोग जब मुझसे कहते हैं कि अरे, आपको सम्मानों की क्या परवाह? आप तो इनसे बहुत ऊंचे उठ चुके हैं तो सुनकर मुझे भी अच्छा लगता है। क्योंकि मानवीय दुर्बलताएं तो मेरे अंदर भी हैं।

सच तो यह है कि मैं हर सम्मान से छोटे से छोटे सम्मान से भी छोटा हूं। इसलिये हर सम्मान को पाने के लिये मैं अपनी झोली फैला देता हूं। उसे पाने के बाद कृतज्ञता से नतमस्तक हो जाता हूं। लेकिन, उसके लिये लॉबिंग नहीं करता। उसके लिये दर-दर भटकता नहीं। याचक की मुद्रा में हाथ जोड़े प्रार्थनायें नहीं करता फिरता। मैं एक बात और बता दूं कि मैं पुरस्कार की घोषणा होने के बाद उसे लेने के लिये अपनी झोली फैलाता हूं। मैंने कभी भी, किसी के भी सामने इसलिये अपनी झोली नहीं फैलाई कि यह सम्मान मुझे दिलवा दो। मुझे जब कोई बुलाता है तो मैं सिर के बल चलकर जाता हूं। लेकिन बिना बुलाये किसी को नमस्ते करने भी नहीं जाता। मैं अपने तानपूरे के साथ अपने घर में ही मस्त हूं।

?एक जमाना था जब कलाकार सा लगता था तो स्पष्ट हो जाता था कि वह किस गुरू और

घराने का शिष्य है। अब यह बात क्यों नहीं रही?

वह जमाना अब पीछे छूट गया है। मैं उस्ताद अमीर खां का शागिर्द हूं लेकिन उनकी तरह आवाज नहीं लगता हूं। क्योंकि मेरी आवाज उनकी तरह नहीं है। मेरी आवाज हल्की है जबकि उनकी आवाज गहरी थी। एक सच यह भी है कि मैंने कभी भी किसी और की तरह गाने का प्रयास नहीं किया। मैंने अपना गाना अपनी तरह अपनी सीमाओं और क्षमताओं को पहचान कर गाने का प्रयास किया है।

? क्या आप अपने गायन को विशुद्ध इंदौर घराने का मानते हैं?

शत-प्रतिशत। क्योंकि मेरे गायन की आत्मा इंदौर घराने की ही है। वही मेरी मूल प्रेरणा है । लेकिन मैंने अपने आस-पास से भी प्रेरणा ली है। संगीत के क्षेत्र में आज बहुत से ऐसे लोग हैं जिन्होंने उस्ताद अमीर खां या उस्ताद बड़े गुलाम अली खां के कभी दर्शन भी नहीं किये किन्तु उनके रिकार्ड सुनकर उनके जैसा गाने का प्रयास कर रहे हैं। यह अच्छी बात है । लेकिन, एक कलाकार को निश्चित रूप से यह अधिकार भी है कि वह अपनी कला में स्वयं को ढूंढे। किसी की परछाई बनकर न रहे। मैंने किसी का प्रतिबिंब बनने का प्रयास भी नहीं किया। यह अलग बात है कि मैंने उनसे वर्षों सीखा है, इसलिये मेरे गायन पर अगर कहीं उनकी छाया पड़ती है तो यह उनकी कृपा है और मेरा सौभाग्य। लेकिन उस छाया को अपने ऊपर जबरदस्ती ओढ़ने का प्रयास मैंने कभी नहीं दिया।

?लेकिन, आत्मा मो दिखती नहीं है। दिखता तो शरीर ही है। क्या कभी आपको यह लगा कि इंदौर घराने का जो शरीर है, उस पर जब इतने लोगों का प्रभाव है तो उस्ताद अमीर खां ने जिस अभिनव गायकी की परिकल्पना की थी उस पर कुछ दूसरे लोगों का भी अनापेक्षित प्रभाव है, जिससे इंदौर घराने की अस्मिता, शुद्धता, विशिष्टता भी प्रभावित होती है।

इसका उत्तर मैं अपनी तरफ से नहीं उस्ताद अमीर खां की तरफ से ही दे रहा हूं। उन्होंने ही मुझे बताया था कि जब उन्होंने गाना शुरू किया तो उस युग के लगभग सभी अच्छे गायकों को खूब ध्यान से सुना जिनमें उस्ताद फैयाज खां, अमान अली खां, रजब अली खां और अब्दुल वहीद खां प्रमुख थे। इन सबकी गायकी से प्रेरणा लेकर ही उन्होंने इंदौर घराने की स्थापना की थी-यह उनका कथन है। उन्होंने ही हमें यह सीख दी थी कि तुम मेरा गाना सुनो, गुलाम अली को सुनो (उस्ताद बड़े गुलाम अली खां को वह गुलाम अली ही कहते थे)। जिस-जिसका अच्छा लगे उन सबका गाना सुनो और तब अपना रास्ता बनाओ। मेरी नकल मत करना, वरना डूब जाओगे। मिश्रजी, अभी आपने जिस शरीर और आत्मा की बात की, उसी के संदर्भ में मैं आपको उस्ताद अमीर खां के विचार बता रहा हूं। उन्होंने मुझसे कहा था-'टीप के गाने में बड़ा मजा है अतः उसका लुत्फ उठाओ। चूंकि मेरी आवाज वहां तक नहीं जाती है इसलिये मैं तो नहीं गा पाता हूं। लेकिन, जब तुम्हारी आवाज वहां तक जाती है तो फिर क्यों तुम इस आनन्द से वंचित रहते हो? तुम अपनी आवाज के गुण-धर्म को समझकर उसके अनुरूप गाओ।" दरअसल गुरु शिक्षा देता है, चलना सिखाता है। लेकिन, इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आप गुरु की तरह मुंह भी बनायें, उन्हीं की तरह आवाज भी निकालें। उदाहरण के लिये अमीर खां की आवाज मंद्र सप्तक में खिलती थी लेकिन तार सप्तक का सा भी वह बड़ी मुश्किल से लगा पाते थे। जबकि मेरी आवाज मंद्र सप्तक में नहीं जाती और तार सप्तक में बहुत आसानी से जाती है। इसलिये मैं तो उनकी तरह गा ही नहीं सकता।